परामर्श

VOL.15 1993

# परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १५, अंक १

दिसम्बर १९९३ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०५०

संपादक

सुरेंन्द्र बारलिंगे  राजेन्द्र प्रसाद  मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

# परामर्श (हिन्दी)

■ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका = (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी, अमलनेर)

■ *संपादक* : सुरेन्द्र बारलिंगे ■ राजेन्द्र प्रसाद ■ मो. प्र. मराठे

*सलाहकार संपादक मंडल* :

■ धमेन्द्र गोयल ■ रमाकांत सिनारी ■ विजयकुमार भारद्वाज ■ शारदा जैन ■ संगमलाल पांडे ■ आर. बालसुब्रमणियन् ■ अशोक रा. केळकर ■ के. जे. शहा ■ नारायणशास्त्री द्राविड़ ■ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ■ जी. सी. नायक ■ ग. ना. जोशी ■ मोहनलाल मेहता ■ जे. फाईस ■ सुमन गुप्ता ■ रा. स्व. भटनागर

*कार्यकारी संपादक* : चन्द्रकांत बांदिवडेकर ■ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७

*सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए* :
संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११ ००७.
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महिने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा ।

***वार्षिक सदस्यता शुल्क*** :

| | |
|---|---|
| (१) संस्थाओं के लिए | रु. ६०/– |
| (२) व्यक्तियों के लिए | रु. ५०/– |
| (३) एक प्रति | रु. १६/– |

***आजीवन सदस्यता शुल्क*** : संस्थाओं के लिए रु. १५००/–
व्यक्तियों के लिए रु. ५००/–

■ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें ।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है ।

# परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

# परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी । लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो । लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा । **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें** । जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा ।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा । यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों । प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा । **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा** ।

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया ।

# परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

# परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा।

---

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

---

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ८४७ कसबा पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रकाशित किया।

# आचार्य दिग्नाग के दर्शन में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष–एक समीक्षा

बौद्ध दर्शन में स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक प्रकार माना गया है । स्वसंवेदन अपरोक्ष अनुभूति की एक ऐसी स्थिति है जो न तो इन्द्रियों पर आश्रित होती है और न ही योगी ज्ञान के अन्तर्गत आ पाती है । फिर भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है और इसलिए स्वसंदेवन को प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार माना गया है ।

सम्पूर्ण विज्ञानवादी धारा सूक्ष्म रूप से स्वसंवेदन के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए सभी विज्ञानवादी विचारक इसका समर्थन और निरूपण करते हैं ।

दिग्नाग से पूर्व विज्ञानवाद में स्वसंवेदन संबंधित विचार अपने पूर्ण विकसित रूप में अवस्थित नहीं था । वस्तुतः दिग्नाग ने ही स्वसंवेदन संबंधित विचार के तार्किक विश्लेषण का कार्य प्रारम्भ किया, जिसे बाद के विद्वानों ने विश्लेषित और विवेचित कर सम्पूर्णता प्रदान की ।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की दृष्टि से जब हम दिग्नाग के साहित्य का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि इसका अलग से कोई लक्षण नहीं दिया गया है । दिग्नाग ने अपने ग्रन्थों में 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' का कोई लक्षण तो नहीं दिया है पर इससे यह नहीं समझा जा सकता है कि वे ज्ञान की स्वसंवेदनता को नहीं मानते हैं । वस्तुतः ज्ञान को दिग्नाग स्वसंवेदन रूप ही मानते हैं, पर प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में " स्वसंवेदन प्रत्यक्ष" का अलग से कोई लक्षण नहीं देते हैं ।

आचार्य दिग्नाग *प्रमाण समुच्चय* में कहते हैं– मानसं चार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"[१] और पुनः इस पर अपनी *वृत्ति* में लिखते हैं– "मानसमपिरूपादि विषयालम्बनम् । विकल्पकमनुभवाकार प्रवृत्त रागादिषु च स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम् ।" अर्थात्, अविकल्पिका, अर्थरागादि स्वसंवित्ति मानस प्रत्यक्ष है और रूपादि विषय को आलम्बन बनाता हुआ अनुभवाकार रूप में प्रवृत्त मानस

प्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक अथवा कल्पनापोढ़ है (तथा) रागादि का स्वसंवेदन (भी) मानस प्रत्यक्ष है, क्योंकि इसे किसी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है, वह किसी इन्द्रिय पर आश्रित नहीं है।

आचार्य दिग्नाग द्वारा *प्रमाणसम्मुचय* तथा उसकी *वृत्ति* में कही गयी बात की व्याख्या को लेकर बौद्ध आचार्यों में दो मत देखने को मिलते हैं। प्रथम मत जिनेन्द्रबुद्धि का है, जिन्होंने मानस प्रत्यक्ष के विषय में धर्मकीर्ति द्वारा संशोधित व्याख्या के आलोक में दिग्नाग के लक्षण पर *प्रमाणसमुच्चय टीका* लिखी है और द्वितीय मत प्रज्ञाकरगुप्त का है जिन्होंने *अलंकार भाष्य* में दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या की है।

जिनेन्द्रबुद्धि ने आचार्य दिग्नाग के *प्रमाण समुच्चय* की *विशालामलवती* नामक अपनी टीका में ''अर्थरागादि स्वसंवित्ति'' को ''अर्थसंवित्ति'' एवं ''रागादिस्वसंवित्ति'' के रूप में व्याख्यायित किया है। ''अर्थरागादि स्वसंवित्ति'' इस समस्त पद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं– ''अर्थ शब्दज्ञेय का पर्याय है। रागादि के स्व को ''रागादिस्व'' (रागादि का जो अपना है, स्व है) कहते हैं। स्व शब्द आत्मवाचक है। इस प्रकार अर्थ और रागादि के स्व की संवित्ति (= अर्थ संवित्ति एवं रागादि-स्वसंविति) के अर्थ में ''अर्थरागादिस्वसंवित्ति'' को समझना चाहिए। इसके द्वारा जाना जाता है या संवेदित किया जाता है, अत: इसे संवित्ति कहते हैं। ''संवित्ति'' प्रत्येक के साथ (अर्थात् अर्थ के साथ और रागादि के स्व के साथ) सम्बद्ध की जाती है। वह निर्विकल्पक (संवित्ति) मानस प्रत्यक्ष है।''[२]

जिनेन्द्रबुद्धि दिग्नाग के स्ववृत्ति के अंश की व्याख्या करते हुए लिखते हैं– ''रूपादि विषयाणां विकार: रूपादि विषय विकार:। स आलम्बनं यस्य तत् तथोक्तम्'' और बतलाते हैं कि ''रूपादि विषयालम्बनम्'' में बहुब्रीही समास है तथा ''रूपादिविषयाणां विकार:'' में विकार षष्ठी है।[३]

आचार्य प्रज्ञाकर *प्रमाणवार्तिकालंकार* नामक अपने प्रमाणवार्तिक भाष्य में दिग्नाग के लक्षण का अर्थ करते हुए लिखते हैं– रागादि के स्वरूप का संवेदन, चूँकि वह अनुभवाकार होने से निर्विकल्पक होता है, अत: मानस प्रत्यक्ष है।[४] जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार स्वसंवित्ति में ''स्व'' का अर्थ ''स्वरूप'' है, ''रागादिका स्व'' नहीं। पुन:, जिनेन्द्रबुद्धि स्वसंवित्ति को केवल रागादि के साथ जोडते हैं, अर्थ के साथ नहीं जोड़ते। इस प्रकार उनके अनुसार मानस प्रत्यक्ष में दो बातें हैं– (१) अर्थ की संवित्ति (२) रागादि की स्वसंवित्ति। जिनेन्द्रबुद्धि के लिए अर्थ संवित्ति का सवाल ही नहीं उठता है और चूँकि रागादि की स्वसंवित्ति सिद्धान्त के अनुकूल

है, इसलिए अर्थ-संवित्ति और रागादिस्वसंवित्ति ऐसा वे दिग्नाग के लक्षण का आशय समझते हैं । चूँकि जिनेन्द्रबुद्धि को धर्मकीर्ति के बाद का आचार्य माना गया है और धर्मकीर्ति "रागादि की स्वसंवित्ति" को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अन्तगर्त ही मानते हैं, मानस प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं, इसलिए जिनेन्द्रबुद्धि ऐसा समझते हैं कि आचार्य दिग्नाग मानस प्रत्यक्ष को द्विविध मानते हैं– प्रथमतः बाह्य अर्थ का बोधक और द्वितीयतः राग-काम सदृश गौण मानसिक क्रियाओं का बोधक ।[५] बोध एवं संवित्ति को शेरबात्स्की महोदय feeling के अर्थ में लेते हैं । संवित्ति का अर्थ feeling regarding an object कहते हैं ।[६] इनमें से प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ होने से प्रत्यक्ष है ।

चूँकि जिनेन्द्रबुद्धि के पहले ही दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के सिलसिले में मीमांसकों ने दोष निकाला था, और इसका प्रत्युत्तर आचार्य धर्मकीर्ति ने दिया भी था, इसलिए ऐसे परिप्रेक्ष्य में जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी व्याख्या की ओर विपक्षियों को धर्मकीर्ति के द्वारा दिए गए प्रत्युत्तरों को भी शामिल किया ।

राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःखादि में जो स्वसंवेदन होता है वह इन्द्रिय निरपेक्ष होने से मानस प्रत्यक्ष है यह आचार्य दिग्नाग की मान्यता थी । इसलिए प्रज्ञाकर इसका विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि सुखादि जहाँ पर अर्थ की तरह रहते हैं, वहाँ मानस प्रत्यक्ष है । अर्थात् सुखादि जब अर्थ-रूप हों, तब उसमें इदम् के रूप में जो ज्ञान होता है वह चूँकि स्वरूप (अपने असाधारण रूप) का ग्रहण साक्षात् ढंग से करता है, अतः मानस प्रत्यक्ष कहलाता है ।[७]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रज्ञाकर के अनुसार दिग्नाग के "स्वसंवित्ति" में "स्व" का अर्थ स्वरूप है । प्रज्ञाकर की मान्यता यह भी है कि सुखदुःखादि में जो स्वसंवेदन (स्वरूप संवेदन) होता है वह मानस प्रत्यक्ष है और सुख इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है । परन्तु आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि इन्द्रिय से ही सुख या दुःख की प्राप्ति होती है । इस पर प्रज्ञाकर कहते हैं कि "धर्मकीर्ति जब ऐसा कहते हैं तो सुखादि शब्द से जो सुख का हेतु रस है मात्र उसे नहीं कहा जा रहा है, क्योंकि इन्द्रिय विज्ञान जब होता है तो अभी विकल्प नहीं पैदा हुआ फिर भी "यह मीठा है", "यह कटु है" ऐसा प्रतिभास होता है ।" इसिलिए प्रज्ञाकर के अनुसार "मानस प्रत्यक्ष" अनीन्द्रिय प्रत्यक्ष है और उसमें अर्थ एवं रागादि के स्वरूप का अनुभवाकार होता है, यह इसीलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है । प्रज्ञाकर के अनुसार इसमें दो आकार होते हैं– (१) विषयगत आकार (२) मन में निहित आकार । यह आकार-द्वय ही प्रज्ञाकर के अनुसार मानस प्रत्यक्ष का "इदम्" होता है ।

"मानसंचार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका" यह आचार्य दिग्नाग ने मानस प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। इस लक्षण का अर्थ लोग यह लगाते हैं कि इसमें "मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष दोनों का लक्षण किया गया है– "मानसंचार्थ" से मानस का और "रागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका" से स्वसंवेदन के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इसी तरह दिग्नाग की *स्ववृत्ति* है "मानसमपिरूपादि विषया-लम्बनम्। विकल्पकमनुभवाकार प्रवृत्तं" इस अंश को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण समझा गया। परन्तु प्रज्ञाकर ने अपनी व्याख्या में इन बातों का विश्लेषण दूसरे ढ़ंग से किया। प्रज्ञाकर ने अपनी व्याख्या से सारी मान्यताओं को उलट कर रख दिया। धर्मकीर्ति का प्रभाव लोगों पर इतना अधिक गहराई तक पड़ा था कि लोग दिग्नाग की व्याख्या को भी धर्मकीर्ति की व्याख्या के आलोक में देखने लगे थे। उनके प्रभाववश लोग ऐसा समझने लगे थे कि धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में आचार्य दिग्नाग द्वारा कही गयी बातों की ही व्याख्या की है। परन्तु आचार्य प्रज्ञाकर ने धर्मकीर्ति की व्याख्या से हटकर दिग्नाग के बातों को प्रस्तुत किया। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि दिग्नाग की व्याख्या केवल मानस प्रत्यक्ष के प्रकरण के लिए कही गयी है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रकरण के लिए नहीं। प्रज्ञाकर की तरह जिनेन्द्रबुद्धि भी उपरोक्त अंश की चर्चा मानसप्रत्यक्ष के प्रसंग में ही करते हैं। जिनेन्द्रबुद्धि धर्मकीर्ति के विचारों से प्रभावित होने के बावजूद भी दिग्नाग की व्याख्या को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रसंग में नहीं लेते हैं। इस तरह बौद्ध परम्परा से भी दिग्नाग के अंश को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की व्याख्या करनेवाला नहीं माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दिग्नाग स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं? क्या उनके अनुसार प्रत्यक्ष के तीन ही प्रकार हैं?

स्पष्ट है कि आचार्य दिग्नाग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का अलग से कोई लक्षण नहीं देते हैं, परन्तु वे ज्ञान की स्वसंवेदनता को स्वीकार करते हैं। आचार्य दिग्नाग स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष के प्रकार के रूप में मानना आवश्यक नहीं समझते हैं। वे अपने मानस प्रत्यक्ष के लक्षण पर लिखी *स्ववृत्ति* में ऐसा मानते हैं कि सुख दुःखादि का मानस प्रत्यक्ष होता है, परन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने स्वसंवेदन की जो व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट होता है कि सुख का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है तथा उसके अतिरिक्त अन्य सभी चित्तावस्थाओं का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। इससे यह कठिनाई सामने आती है कि दिग्नाग जिसे मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते थे, धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय कहते हैं और मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को अलग-अलग प्रकार बतलाते हैं।

दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के लक्षण की मीमांसक आदि ने आलोचना की है और उसका प्रत्युत्तर धर्मकीर्ति और उनके बाद के आचार्यों ने दिया है। धर्मकीर्ति ने दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष को आलोचनाओं से बचाने के लिए एक जटिल परिभाषा दी और मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को अलग कर दिया।[८]

आचार्य धर्मकीति के *प्रमाणवार्तिक* के श्लोकों में आबद्ध दोषों की चर्चा आचार्य प्रज्ञाकर अपने *अलंकार-भाष्य* में करते हैं। भाट्ट मीमांसक दिग्नाग की व्याख्या में दो दोषों को इंगित करते हैं–[९]

१) गृहीत– ग्राहिता का दोष

२) अन्धबधिरादि के अभाव का दोष।

इन दोषों से मानस प्रत्यक्ष को मुक्त करने के लिए आचार्य धर्मकीर्ति ने बाद में इसका नया किन्तु जटिल लक्षण किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है– "स्वविषयान्तरविषयसहकारिणेन्द्रिय ज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तन्मनो विज्ञानम्।"[१०] अर्थात्, "स्व (अपने) विषय के अनन्तर विषय के सहकार इन्द्रिय ज्ञान का उसके अपने विषय का अनन्तरवर्ती विषय सहकारी है और जो स्वयं समनन्तर प्रत्यय है उस इन्द्रिय ज्ञान से जनित ज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। "धर्मकीर्ति के इस लक्षण की व्याख्या विनीत देव, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, मनोरथनन्दि, दुर्वेकमिश्र तथा मोक्षाकरगुप्त आदि ने भी की है।

दिग्नाग ने मन को इन्द्रिय मान कर मानस प्रत्यक्ष की विवेचना की है पर जब मन केवल विज्ञान संतति (मनोविज्ञान) है और विज्ञान स्वसंवेदन रूप होता है, तो मानस प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में समा जाता है। इसी कारण जितारि ने मानस प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष का एक प्रकार भी नहीं माना है। फिर बाद के महायान दार्शनिकों ने भी इसकी चर्चा आवश्यक नहीं समझी है।

आचार्य दिग्नाग अपनी *वृत्ति* में यह स्वीकार करते हैं कि सुखदुःखादि का मानस प्रत्यक्ष होता है। किन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने कहा है कि सुखादि का स्वसंदेवन प्रत्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त अन्य चित्तावस्थाओं का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। ऐसा कहने से यह कठिनाई सामने आती है कि दिग्नाग के अनुसार जो मानस प्रत्यक्ष का विषय है वही धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों के अनुसार स्वसंवदेन का विषय हो जाता है। इस तरह धर्मकीर्ति का अर्थसंवित्ति एवं रागसंवित्ति को अलग करके मानस प्रत्यक्ष की एक जटिल परिभाषा देना और कुछ नहीं सिर्फ स्वपक्ष की रक्षा का एक प्रयास कहा जा सकता है।

इस तरह स्पष्ट होता है कि आचार्य दिग्नाग प्रत्यक्ष को तीन ही प्रकार मानते थे– (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष और (३) योगी प्रत्यक्ष । पुनश्च, धर्मकीर्ति जिसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं वह दिग्नाग के अनुसार मानस प्रत्यक्ष ही है । इस तरह स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक अलग प्रकार मान कर उसकी व्याख्या करने का काम मूलतः धर्मकीर्ति ने ही किया है । पर इससे यह नहीं माना जा सकता है कि दिग्नाग ज्ञान के स्वसंवेदनत्व को नहीं मानते हैं । वास्तव में ज्ञान की स्वसंवेदनता को मानते हुए भी दिग्नाग इसे प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में नहीं मानते हैं ।

द्वारा, श्री. शिवरतन प्रसाद
वेलन बाजार,
मुंगेर–८११२०१
बिहार

लक्ष्मीकुमारी साह

### टिप्पणियां

१. *प्रमाण समुच्चय,* १.६ प्रथम पंक्ति

२. *द्वादशारं नयचक्रम्,* भोट परिशिष्ट पृष्ठ १०५
—मानसं चेत्यादि । च शब्दः समुच्चयार्थः । अर्थ शब्दोऽयं ज्ञेयपर्यायः । रागादीनां स्वं रागादिस्वम्। स्व शब्दोऽयमात्मवाचकः । अर्थश्च रागादि स्व च, तत्संवित्तिरर्थरागादि स्वसंवित्तिः । संवेद्यते ज्ञायते नयेति संवित्तिः । 'संवित्तिः' प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अविकल्पिका च सा मानसं प्रत्यक्षम्।

३. *वहीः* पृष्ठ १०५, पाद टिप्पणी ३ ''समुदायविकार पञ्चाश्च....।

४. *प्रमाणवार्तिक भाष्य,* पृष्ठ ३०३, ''मानसम् चार्थ रागादिस्वरूप सम्वेदनम्, कल्पकत्वात् प्रत्यक्ष अनुभवाकारप्रवृतेः ।''

५. *Dignāga on Perception* by M. Hattori
कारिका १०६, प्रथम पंक्ति पर पाद टिप्पणी । १.४५, पृष्ठ- ९२-९३ भी ।

६. *Buddhist Logic, Vol. 2.*

७. प्रतिभासमान एव प्रबन्धेन सुखादाविदं सुखादीनि यदा विज्ञानमधिमुक्तिरूपमुपजायेत तदा कस्मान्न सविकल्पकता । अत्र मानसं प्रत्यक्षमर्थ इवेति वर्णितं । तथा हि । अर्थरूपे सुखादौ च यदेदभिरिति वर्त्तते । स्वरूपग्रहसाक्षात्वे सर्वन्तन्मानसम्मतं॥
*प्रमाणवार्तिक भाष्यम्* ३०८

८. *The Buddhist Philosophy of Universal Flux. p. 311-3*

९. दुर्वेकमिश्र; यैर्मीमांसकैराचार्यदिग्नागीये मानसप्रत्यक्षलक्षणे गृहीतग्राहित्वलक्षणेऽप्रामाण्यनिमित्तं दोष उद्भावित: । लक्षणग्रहणस्योपलक्षणत्वात् मानसप्रत्यक्षाभ्युपगमेऽपि यो दोषोऽन्धवधिराद्यभावलक्षण: सोऽपि द्रष्टव्य: । यैश्चमीमांसकै:..... अवांतरजातिभेदमिति यावत् । धर्मोत्तरप्रदीपे, पृ. ५६.

१० *न्यायबिन्दु* १०९, *प्र.वा.भा.* पृ. ३०५ पंक्ति १-३.

# न्याय एवम् अवयव

कथा के वाद, जल्प एवं वितण्डा ये तीन[1] प्रकार दार्शनिकों ने माने हैं। पक्ष अथवा प्रतिपक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रश्न एवं प्रतिप्रश्न, उत्तर एवं प्रत्युत्तर का संन्दर्भ[2] ही वाद-कथा है। इस क्रम में तत्त्व-निर्णय के लिये उत्सुक लोग प्रमाण एवं तर्क के द्वारा ज्ञात उचित पक्ष का साधन एवं अनुचित पक्ष का सर्वथा निषेध करते हैं। यह पक्ष विशेष का साधन एवं पक्ष विशेष का निषेध प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन पाँच अवयवों से युक्त होने के साथ-साथ सिद्धान्त-विरोधी भी नहीं होना चाहिये।

जिस प्रकार किसी पौधे की सुरक्षा के लिये हम उस पौधे को काँटों से घेर देते हैं उसी प्रकार उचित पक्ष को सिद्ध करने के लिये जल्प-कथा एवं वितण्डा कथा का उपयोग[3] किया जाता है। जल्प-कथा में भी प्रमाण एवं तर्क के सहयोग से पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग करके सिद्धान्तपक्ष का साधन एवं प्रतिपक्ष का प्रतिषेध किया जाता है; परन्तु विरोधी पक्ष का प्रतिषेध करते समय हम छल, जाति एवं निग्रह-स्थानों का भी भरपूर उपयोग कर सकते हैं तथा अपने सिद्धान्त-पक्ष को दृढतापूर्वक व्यवस्थित कर लेते हैं। यही वाद-कथा की अपेक्षा जल्प-कथा में विशेष है।

हमने वाद एवं जल्प-कथा में पक्ष तथा प्रतिपक्ष की स्पष्ट स्थिति देखी। ठीक इसके विपरीत वितण्डा कथा में प्रतिपक्ष अर्थात् द्वितीय पक्ष की स्थापना[4] नहीं देखी जा सकती। इस वितण्डा कथा का उद्देश्य अपने पक्ष की स्थापना भी नहीं होता है। इस कथा में मात्र पर पक्ष का खण्डन ही अभिप्रेत होता है। परपक्ष के खण्डन से विजय की प्राप्ति होती है। जल्प तथा वितण्डा-कथा को इसी लिये विजय चाहने वालों की कथा कहा गया है। इस कथा में भी पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग तथा छल-जाति-निग्रह स्थानों का उपयोग सहजरूप में होता है।

जिनसे मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी वेद-प्रामाण्य तथा आत्मा आदि तत्त्वों की सिद्धि होती है ऐसी इन तीनों कथाओं का प्रवर्तन पूरी तरह पाँच अवयवों पर

आधारित है । प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' अपने कारण शब्द प्रमाण का सूचक है। 'हेतु' नामक द्वितीय अवयव अपने कारण अनुमान-प्रमाण की सूचना देता है । तीसरा अवयव "उदाहरण" अपने कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण का द्योतक है । ये सभी अवयव मिलकर एक ही अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य[६] रखते हैं । यह तथ्य "निगमन" नामक पाँचवें अवयव से स्पष्ट होता है । सभी अवयवों के मूल में प्रमाणों के होने से इन पाँच अवयवों को प्रमाण[७] भी कह दिया जाता है । प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण[८] ही 'न्याय' है यह न्याय-भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन का मन्तव्य है । यहाँ प्रमाण शब्द पाँच अवयवों का ही बोधक माना गया है। प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के द्वारा अर्थ की अर्थात् लिङ्ग की परीक्षा ही न्याय है ।

पञ्चावयववाक्यों को "परम-न्याय"[९] स्वीकार किया गया है । इन पाँच अवयव-वाक्यो में परमत्व या उत्कर्ष-विशेष यही है कि विप्रतिपन्न पुरुषों[१०] को इन पाँच अवयव वाक्यों से सत्य ज्ञान हो जाता है । न्याय-शास्त्र में निरूपित पाँच अवयव-वाक्यों के सहयोग से ही तत्त्वों से सम्बद्ध अनेक प्रकार के भ्रम निरस्त हो जाते हैं । इस प्रकार अवयवों का महत्त्व स्पष्ट है ।

कुछ लोग प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास नामक पाँच अवयव और मानते हैं। इस प्रकार ये लोग दस अवयव स्वीकार करते हैं । परन्तु, विप्रतिपन्न पुरुषों को तत्त्वों का सत्य-ज्ञान कराने में, जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास के समर्थ न होने के कारण ही इनको अवयव नहीं माना जा सकता है । कुछ विद्वानों के अनुसार तीन ही अवयव हैं, पर इनका मत, अभीष्ट वाक्यार्थ की निष्पत्ति प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयववाक्यों से ही सम्पन्न होने के फलस्वरूप नितान्त उपेक्षणीय है ।

जिस प्रकार सूत्र वस्त्र का अवयव होते हैं, क्या इसी तरह प्रतिज्ञा आदि, वाक्य के अवयव या समवायिकारण हैं ? इस प्रकार सहज प्रश्न उपस्थित होता है । तथापि (१) प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव-वाक्यों का अवयव या समवायिकारण नहीं है अपितु पाँच अवयव वाक्यों का एकदेश मात्र है, (२) इसे 'अवयव' नाम इस लिये दिया जाता है क्यों कि जिस प्रकार सूत्र सूत्रों के समुदाय (एक वस्त्र) का समुदायी है उसी प्रकार एक विवक्षित अर्थ का बोध कराने में प्रतिज्ञा आदि भी, पाँचवाक्यसमुदाय के समुदायी हैं । ऐसा मानने से उक्त प्रश्न समाहित हो जाता है । इस प्रकार प्रतिज्ञा आदि वाक्यों को अवयव इसी लिये कहा जाता है क्यों कि ये अवयव-जैसे[११] हैं, यह तथ्य निःसन्दिग्ध सिद्ध होता है ।

किसी भी तत्त्व का ज्ञान कराने के लिये हम उस तत्त्व का लक्षण बताते हैं । उसके भेद कितने सम्भव हैं, उसका स्वरूप क्या है, इस तरह के विचार भी हम इसी क्रम में कर लेते हैं । किसी भी तत्त्व से सम्बद्ध इस प्रकार के विचार को ही हम उस तत्त्व का निरूपण कहते हैं । जब हम किसी तत्त्व का निरूपण करते हैं तो उसके पहले किस तत्त्व का निरूपण हुआ है यह हम अवश्य देखते हैं । ऐसा करना इस लिये अनिवार्य है क्यों कि पूर्व में सम्पन्न विचार एवं बाद में होने वाले विचार में परस्पर सङ्गति का होना विचार की उत्तमता की दृष्टि से अपेक्षित होता है ।

प्रस्तुत पसङ्ग में अवयवों का निरूपण करने के पूर्व अनुमान का निरूपण किया गया है । अनुमान स्वार्थ तथा परार्थ भेद से दो प्रकार का माना जाता है । नैयायिकों के मतानुसार जब कोई व्यक्ति स्वयं ही अनुमिति करता है तब उसकी इस अनुमिति का कारण-अनुमान– स्वार्थानुमान होता है । जब स्वार्थानुमान के द्वारा कोई व्यक्ति अनुमिति कर लेने के अनन्तर अपने किसी मित्र को अनुमिति कराने के उद्देश्य से पञ्चावयव-वाक्यों का प्रयोग करता हुआ अनुमान कराता है, तब इस अनुमान को हम परार्थानुमान कहते हैं ।

इन दो अनुमानों में परार्थानुमान 'न्याय' के द्वारा सिद्ध[१२] होता है । इसी लिये अनुमान के निरूपण के अनन्तर कारणता-सङ्गति से न्याय एवं इसके अवयवों का निरूपण किया गया है । जब हम कहते हैं कि परार्थानुमान न्याय-साध्य है तब हम यह मानते हैं कि किसी विषय पर विचार की अवस्था में वांदी प्रतिवादी के बीच बैठे निर्णायक को विवादित साध्य का निश्चय परार्थानुमान से होता है। निर्णायक को होने वाला यह परार्थानुमान, वादी के द्वारा प्रयोग किये गये न्यास से उत्पन्न शाब्दबोध के द्वारा होता है । न्याय-दर्शन में निर्णायक को होने वाला यह अनुमिति का चरम-कारण-हेतुविषयक-परामर्श ही परार्थानुमान माना गया है । जो लोग ज्ञान के विषय हेतु को ही अनुमान मानते हैं, उनके सिद्धान्त में भी ज्ञान -विषय हेतु रूप अनुमान– परार्थानुमान न्याय-साध्य माना ही जायेगा । हेतु में विशेषण-रूप ज्ञान यत: न्याय का साध्य है, अत: इस परामर्श से विशिष्ट हेतु को भी न्याय-साध्य मानना सर्वथा उपयुक्त ही है ।

कुछ आचार्य अनुमान शब्द का अर्थ अनुमिति मानते हैं । इस अनुमिति को ये लोग परार्थ मानते हैं । जब किसी विषय पर वादी एवं प्रतिवादी के बीच विचार आरम्भ होता है तब निर्णायक को विवादित विषय का सन्देह होता है। इस सन्देह की निवृत्ति वादी के द्वारा प्रयुक्त समस्त न्याय-वाक्यों को सुनने के अनन्तर निर्णायक को होने वाली अनुमिति से होती है यत: ''पर'' अर्थात् मध्यस्थ

के साध्य-संशय निवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाली यह अनुमिति होती है, अतः इस अनुमिति को हम "परार्थ" मानते हैं।

जब वादी और प्रतिवादी परस्पर विचार के लिये उद्यत होते हैं तब वादी के द्वारा प्रयुक्त न्याय-वाक्य से प्रतिवादी को अनुमिति होती है। यह अनुमिति 'पर' अर्थात् प्रतिवादी के साध्य-संशय निवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करती है। इस प्रकार प्रतिवादी को होने वाली अनुमिति भी "परार्थ" मानी जाती है। न्याय का प्रयोग कर के मध्यस्थ को अनुमिति कराना भी न्याय-ज्ञान का प्रयोजन है। इस प्रकार न्याय-वाक्य में अनुमिति की कारणता भी सिद्ध होती है। अनुमिति (परार्थानुमिति) रूप कार्य के निरूपण के बाद न्याय-रूप कारण के निरूपण में 'कारणता' सङ्गति है, यह भी अबतक के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। परार्थानुमान के निरूपण के बाद न्याय के निरूपण में "प्रसङ्ग" सङ्गति भी मानी जाती है। किसी पदार्थ के निरूपण के अनन्तर हम ऐसे पदार्थ का निरूपण 'प्रसङ्ग' सङ्गति' से करते हैं, जिसका स्मरण उस समय अवश्य हो तथा हम उसकी उपेक्षा किसी भी स्थिति में न कर सकें। प्रस्तुत सन्दर्भ में परार्थानुमान रूप कार्य का निरूपण करने के अनन्तर इसके कारण न्याय तथा अवयवों का स्मरण हो जाता है। साथ ही न्याय एवं अवयवों के उपेक्षणीय न होने के कारण इनका निरूपण प्रसङ्ग-सङ्गति से किया जाता है, यह भी मानना उचित ही है।

किसी भी तत्त्व का निरूपण प्रायः उस तत्त्व के लक्षण से प्रारम्भ होता है। न्याय का निरूपण करने के लिये न्याय का लक्षण क्या हो सकता है, यह विचारणीय है। कुछ विचारक, "समस्त" रूपों से युक्त लिङ्ग का प्रतिवादक वाक्य" (समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादक वाक्य) ही न्याय है, ऐसा मानते हैं। लिङ्ग या हेतु में न्यायदर्शन के अनुसार पाँच रूप या धर्म माने गये हैं। ये पाँच रूप– पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितत्व नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँच रूपों से विशिष्ट लिङ्ग अथवा हेतु है, यह ज्ञान जिस वाक्य-समूह से होता है, उसे ही हम 'न्याय' कहते हैं। अब तक की चर्चा से "समस्तरूपोपपन्न-लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व" न्याय का लक्षण है यह स्पष्ट हो जाता है।

न्याय का यह लक्षण निर्दुष्ट है या नहीं यह विचार करते समय इस न्याय-लक्षण का लक्ष्य "प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन-वाक्य का समूह" है यह अवश्य जान लेना चाहिए। 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस स्थल में 'पर्वतो वह्निमान्' यह प्रतिज्ञा वाक्य है। "धूमात्" यह हेतु-वाक्य है। 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' यह उदाहरण-वाक्य है। "तथा चायम्" यह उपनय-वाक्य है और 'तस्मात्तथा' यह निगमन-वाक्य है। इन पाँच वाक्य-समूहों

से धूम हेतु, पक्ष-सत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व रूप पाँच धर्मों से विशिष्ट है यह ज्ञात हो जाता है ।

"तथा चायम्" अर्थात् वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत है" इस उपनय-वाक्य से धूम हेतु में पक्ष सत्त्व का ज्ञान होता है । "यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्" इस उदाहरण वाक्य से धूम हेतु सपक्ष महानस में है तथा विपक्ष अर्थात् जहाँ वह्नि– साध्य का अभाव निश्चित है, वहाँ नहीं है यह निश्चित हो जाता है। उदाहरण-वाक्य इस तरह सपक्ष-सत्त्व एवं विपक्षासत्त्व का बोध सम्पन्न करा देता है । "तस्मात्तथा" अर्थात् वह्निव्याप्य धूम के पर्वत में होने से पर्वत वह्निमान् है, इस निगमन वाक्य से धूम हेतु में अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व" इन दो रूपों का ज्ञान सहज रूप से सभी को हो जाता है । इस तरह उपनय-वाक्य, उदाहरण-व्याक्य, एवं निगमन-वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि धूम हेतु उपर्युक्त पाँच रूपों से विशिष्ट है । यदि तीन वाक्यों के समूह से, हेतु पाँच रूपों से विशिष्ट है यह ज्ञात होता है तो प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह से भी "हेतु पाँच रूपों से विशिष्ट है" यह स्वतः ज्ञान हो ही जायेगा । ऐसी स्थिति में न्याय-लक्षण के लक्ष्य प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह में पक्षसत्त्व आदि पञ्चरूपोपन्न-लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व इस न्याय-लक्षण के समन्वय होने से यह न्याय का लक्षण निर्दुष्ट है ऐसा प्रतीत होता है ।

यदि हम इस न्याय-लक्षण की सूक्ष्मता से आलोचना करते हैं तो उपर्युक्त न्याय-लक्षण की उदाहरण, उपनय तथा निगमन वाक्य के समूह में अतिव्याप्ति है यह ज्ञात होता है । समस्तरूपोपन्न लिङ्गप्रतिपादक वाक्य को न्याय मान लेने पर, उपर्युक्त तीन वाक्यों के समूह में पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्त्व रूप पाँच धर्मों से विशिष्ट हेतु है, यह ज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता होने से अतिव्याप्ति अपरिहार्य है ।

इसी प्रकार "समस्तरूपोपपन्नं लिङ्गम्" यह वाक्य भी, लिङ्ग अथवा हेतु समस्त रूपों से विशिष्ट है, इस प्रकार का शाब्द-बोध कराता है । इसी लिये "समस्तरूपोपपन्न लिङ्गप्रतिपादक वाक्यत्व" रूप न्याय-लक्षण के उपर्युक्त वाक्य में समन्वित होने से, इस वाक्य में भी न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति है । इन दोनों अतिव्याप्तिओं के कारण "समस्तरूपोपपन्न लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व" न्याय का लक्षण नहीं माना जा सकता है ।

उदाहरणादि त्रिक में तथा समस्तरूपोपपन्नं लिङ्गम् इस वाक्य में हुई अतिव्याप्ति का वारण, "अनुमिति-चरमकारणलिङ्ग" परामर्श प्रयोजन शाब्दज्ञानजनकत्व" को न्याय

का लक्षण मान लेने से अनायास ही हो जाता है । अनुमिति का ऐसा कारण जिसके बाद अनुमिति तत्काल हो जाती हो, अनुमिति का चरम कारण या अन्तिम कारण कहा जायेगा । पक्ष में व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग का जो परामर्श या ज्ञान होता है, वह लिङ्ग-परामर्श ही अनुमिति का चरम कारण है । यह लिङ्ग-परामर्श प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन इन पाँच वाक्यों के सुनने के बाद उत्पन्न शाब्दबोध से होता है । इस शाब्द-बोध के जनक वाक्य-समूह को ही न्यायदर्शन में न्याय कहते हैं ।

उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन तीन वाक्यों के समूह में "अनुमिति चरमकारणलिङ्ग परामर्शप्रयोजक-प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयक महावाक्यार्थबोध, अथवा प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक समूहालम्बनात्मक बोध रूप शाब्दबोधजनकवाक्यत्व" के न होने से अतिव्याप्ति की आपत्ति स्वतः निरस्त हो जाती है ।

इस न्याय-लक्षण में "अनुमिति चरमकारणलिङ्गपरामर्श प्रयोजक" इतना भाग प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक महावाक्यार्थबोध का अथवा प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयक समूहालम्बनात्मक बोध का परिचायक मात्र है । फलतः 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयक शाब्दबोध के जनक वाक्य' को ही हमें न्याय स्वीकार करना चाहिए यह स्पष्ट होता है । यदि केवल शाब्दबोध के जनक वाक्य को ही न्याय कहेंगे तो 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्यों में न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्यों कि ऐसे वाक्य भी शाब्दबोध के जनक होते हैं । इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये न्यायलक्षण के घटक शाब्दबोध में 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयकत्व' का निवेश करना पड़ता है ।

अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकत्वरूप से यदि शाब्दबोध को न्याय-लक्षण का घटक माना जायेगा तो जहाँ पर 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य से होने वाला ज्ञान ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से मानस-परामर्श का प्रयोजक होता है, वहाँ अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकत्व 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य में भी होने के कारण न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति है । 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकत्वरूप से ही शाब्दबोध को न्यायलक्षण का घटक मानने पर 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य में मात्र धूमवत् पर्वतविषयकबोधजनकत्व के होने से, प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकबोधजनकत्व के न होने के कारण न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण सुगम हो जाता है । इस प्रकार 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक शाब्दबोधजनकत्व' यह न्याय का लक्षण दोष रहित प्रतीत होता है । पुनः, सूक्ष्मता से विचार करने पर यह लक्षण भी असम्भव-दोष से ग्रस्त सिद्ध होता है । प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकसमूहालम्बनात्मकशाब्दबोध अथवा महावाक्यार्थबोध का जनक प्रतिज्ञा आदि

वाक्यों का ज्ञान ही होता है । इस प्रकार न्याय-लक्षण के लक्ष्य प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह में उपर्युक्त न्याय-लक्षण का समन्वय न हो पाने के कारण असम्भव अपरिहार्य है । इस असम्भव-दोष का निरास करने के लिये यदि प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयकशाब्दज्ञानजनक प्रतिज्ञादिवाक्यज्ञानविषयत्व' यह न्याय का लक्षण स्वीकार करेंगे तो भी न्याय के एक देश प्रतिज्ञा आदि में न्याय-लक्षण के समन्वित होने से अतिव्याप्ति का निरास तो नहीं ही हो सकेगा । इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये परिष्कृत न्याय-लक्षण, 'तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोध प्रति यादृश-यादृश धर्मप्रकारत्वेन शब्दज्ञानस्य कारणता प्रत्येकं तत्तद्धर्मावच्छिन्न वाक्यसमुदायत्व' है यह स्वीकार कर लेते हैं ।

लक्षण-घटक "तादृश यत्किञ्चित् शाब्दबोध" शब्द का अर्थ प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयकशाब्दबोध है । यह शाब्दबोध प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के ज्ञान से ही सम्भव है । प्रायः प्रत्येक ज्ञान में कोई पदार्थ विशेषण होता है, तो कोई पदार्थ विशेष्य होता है । पद-समूह को वाक्य कहते हैं, तथा वाक्य[१७] शब्द से अलग नहीं होता है, यह तथ्य सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं । उपर्युक्त लक्षण में शब्दज्ञान का तात्पर्य प्रतिज्ञा आदि वाक्यों के ज्ञान में ही है । 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत आग वाला है) इस वाक्य को जब हम सुनते हैं तब श्रवणेन्द्रिय से हमें इस वाक्य का ज्ञान होता है । इस ज्ञान में विशेषण या प्रकार वाक्य में रहने वाली आनुपूर्वी होती है । 'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य में विद्यमान आनुपूर्वी का स्वरूप न्याय-दर्शन में 'प् तदुत्तर अ तदुत्तर र् तदुत्तर व् तदुत्तर अ तदुत्तर त् तदुत्तर ओ तदुत्तर व् तदुत्तर अ तदुत्तर ह् तदुत्तर न् तदुत्तर इ तदुत्तर म् तदुत्तर आ तदुत्तरनत्व' माना गया है । इसी आनुपूर्वी को संक्षेप में हम प विशिष्ट नत्व भी कह सकते हैं । इस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य का ज्ञान, प विशिष्ट नत्व प्रकारक 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक वाक्य-विशेष्यक माना जायेगा। यह ज्ञान ऊपर चर्चित तादृश यत्किञ्चित् शाब्द-बोध का कारण होता है । ठीक इसी प्रकार हेतु-वाक्य, उदाहरण-वाक्य, उपनय-वाक्य, एवं निगमन-वाक्य का ज्ञान भी इस शाब्दबोध में कारण सिद्ध होता है । इन वाक्यों में रहने वाली कारणता का अवच्छेदक धर्म प् विशिष्ट नत्व, घ् विशिष्ट तत्व होता है। । इन सभी धर्मों से विशिष्ट अर्थात् अवच्छिन्न वाक्य, प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों का समुदाय होता है, तथा इस वाक्य-समुदाय में रहने वाला समुदायत्व ही न्याय का लक्षण है यह तथ्य सुस्पष्ट है ।

इस न्याय-लक्षण का और अधिक परिष्कृत एवं निर्दुष्ट स्वरूप, "तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोधनिरूपिता" शब्दज्ञाननिष्ठा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटि-प्रविष्ट-यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयताश्रयंवर्णत्वव्यापक-समुदायत्व" है यह स्वीकार करना पड़ता

है । न्याय के पूर्वोक्त लक्षण को स्वीकार करने पर पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य-ज्ञान को प्रतिज्ञा आदि समस्त अवयवार्थविषयक-समूहालम्बनात्मक-बोध अथवा महावाक्यार्थ-बोध का कारण मानने से इस कारणता की अवच्छेदक, अव्यवहितोत्तरता सम्बन्ध से प विशिष्ट नत्व रूप आनुपूर्वी के अन्तिम वर्ण न में ही रहने के फलस्वरूप प विशिष्ट नत्व आदि पाँच धर्मों से अवच्छिन्न समुदायत्व प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के अन्तिम पाँच वर्णों के समुदाय में अक्षत होने से अन्तिम पाँच वर्णों के समूह में अतिव्याप्ति-दोष अपरिहार्य हो जाता है । यह दोष उपर्युक्त परिष्कृत-लक्षण स्वीकार करने से स्वतः निरस्त हो जाता है । इस न्याय-लक्षण की उपादेयता पूर्व-लक्षण की अपेक्षा लघु अर्थात् छोटी होने के कारण भी सिद्ध है ।

'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य को सुनने के बाद पर्वत वह्नि से युक्त है यह शाब्दबोध होता है । यही शाब्द-बोध 'पर्वतो दहनवान्' 'पर्वतोऽग्निमान्' इस प्रकार के विभिन्न आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्यों के ज्ञान से भी होता है । शाब्दबोध में विशेषण 'यत्किञ्चित्व' को यदि उपर्युक्त न्याय के लक्षण से हटा दें तो 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इन पाँच वाक्यों के समूह में, जो कि न्याय-लक्षण का लक्ष्य है, अव्याप्ति होने लगेगी ।

प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक समूहालम्बनात्मक-बोध अथवा महावाक्यार्थबोध, जैसे ऊपर निर्दिष्ट पाँच वाक्यों के समूह से होता है, वैसे ही 'पर्वतो दहनवान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इन पाँच वाक्यों के समूह से भी सम्पन्न होता है । इस दूसरे वाक्य-समूह से होने वाले महावाक्यार्थबोध या समूहालम्बनात्मक बोध का यदि हम न्याय-लक्षण के शाब्दबोध पद से ग्रहण करेंगे तो इस प्रकार के शाब्द-बोध से निरूपित प्रत्येक वाक्य-ज्ञानात्मक शब्द-ज्ञान-निष्ठ जो जो कारणता, प्रत्येक कारणता की अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट यत्किञ्चित् ज्ञान की विषयता का आश्रय जो वर्णत्व उसके व्यापक समुदायत्व के प्रथम पाँच वाक्यों के समुदाय में न होने से अतिव्याप्ति होती है यह अत्यन्त स्पष्ट ही है ।

न्याय-लक्षण घटक शाब्दबोध में यत्किञ्चित्व का निवेश कर देने से प्रथम पाँच वाक्यों के समूह से होने वाले समूहालम्बनात्मक अथवा महावाक्यार्थ-बोध का ही यत्किञ्चित् शाब्द-बोध पद से ग्रहण किया जाता है । इस शाब्दबोध से निरूपित शब्द-ज्ञान वृत्ति जो जो कारणता उस प्रत्येक कारणता की अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट यत्किञ्चित् ज्ञान की विषयता का आश्रय जो वर्णत्व उसके व्यापक समुदायत्व

के प्रथम पाँच वाक्यों के समुदाय में अक्षुण्ण होने से न्याय के इस परिष्कृत-लक्षण की अव्याप्ति अनायास ही निरस्त हो जाती है ।

"तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोधनिरूपिता शब्द-ज्ञाननिष्ठा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटिप्रविष्ट यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयताश्रयवर्णत्वव्यापकसमुदायत्व" रूप में परिष्कृत इस न्याय-लक्षण में यत्किञ्चिज्ज्ञानीय विषयता का निवेश, अर्थात् ज्ञान में यत्किञ्चित्व का निवेश यदि हम नहीं करेंगे तो 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इस प्रकार के एक-एक वाक्य वाले पाँच वाक्यों के समुदाय में रहने वाले समुदायत्व को तादृश यत्किञ्चित् शाब्दबोधनिरूपित शब्दज्ञानष्ठिा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटि प्रविष्ट ज्ञानीय विषयताश्रय वर्णत्व का व्यापक नहीं सिद्ध कर सकते हैं । प्रस्तुत समुदायत्व मात्र एक-एक वाक्य से घटित पाँच वाक्यों के समुदाय में ही रहेगा। परन्तु जहाँ एक ही आनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञा-वाक्य– पर्वतो वह्निमान्, का दो या तीन बार ज्ञान हुआ वहाँ इन वाक्य-ज्ञानों में प्रतिज्ञा आदि समस्त अवयवार्थ विषयक समूहालम्बनात्मक या महावाक्यार्थ-बोध की कारणता है । इन कारणताओं की अवच्छेदक, अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से प विशिष्ट नत्व रूप आनुपूर्वी से विशिष्ट वर्ण-विषयताएँ ही होंगी । इन विषयताओं का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से आश्रय 'प' आदि वर्णों में रहने वाले वर्णत्व होंगे । ये प आदि वर्णत्व उस 'पर्वतो वह्निमान्' वाक्य में भी हैं जहाँ उपर्युक्त एक-एक वाक्य से घटित पाँच वाक्यों का समुदायत्व नहीं है । इस तरह उपर्युक्त कारणता की अवच्छेदक विषयता के आश्रय वर्णत्व का व्यापक समुदायत्व के न होने से न्याय-लक्षण की पुनः अव्याप्ति प्रसक्त होती है। लक्षण में 'यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयता' का प्रवेश कर देने से, 'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य के कई ज्ञानों में से हम उसी ज्ञान को ग्रहण करने के लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं, जिस वाक्य में उपर्युक्त समुदायत्व है । फलतः, यत्किञ्चित् 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक वाक्य-ज्ञान की विषयता को उपर्युक्त कारणता के अवच्छेदक-रूप में मान लेने से विषयता के आश्रय वर्णत्व का व्यापकत्व समुदायत्व में निराबाध सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार अव्याप्ति का निवारण हो जाने के कारण यह न्याय का लक्षण युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ।

पीयूषकान्त दीक्षित

नव्य-न्याय विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली–११००१६

## टिप्पणियाँ

१. तिस्रः कथा भवन्ति, वादो जल्पो वितण्डा चेति ।
वा. भाष्य, अ.१ आ.२ सू.४२

२. तत्र वादं लक्षयति । अत्र च वाद इति लक्ष्य-निर्देशः, पक्षप्रतिपक्षौ विप्रतिपत्तिकोटी, तयोः परिग्रहः, तत्साधनोद्देश्यकोक्तिप्रत्युक्तिरूपवचनसन्दर्भः ।
वा.भाष्य. वि. वृत्ति, अ.१ आ.२ सू.४२

३. तथा चोक्तम्– "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्रोहरक्षणार्थं कण्टकशाखाऽऽवरणवत्"।
वा.भाष्य, अ.१ आ.२, सू.४३

४. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा न्या.सू. ४४

५. "तथापि यदेतद् वेदप्रामाण्यमात्मादिप्रतिपादनंच निश्रेयसोपयोगि, न तत् पञ्चावयववाक्यादेतच्छास्त्रोपदिष्टोपकरणाद् विना सिद्ध्यतीत्यनेनाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ।"
न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

६. सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं विगमनमिति ।
न्या. भाष्य, अ.१, आ.१, सू.३९

७. प्रत्यक्षादिप्रमाणमूलाः प्रतिज्ञादयः पञ्चावयवाः प्रमाणानि ।
न्या.वा.ता.टी. पृ.४९

८. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । न्या. भाष्य, अ.१, आ.१, सू.१

९. सोऽयं परमो न्यायः । न्या. भाष्य, वही

१०. कः पुनः परमशब्दार्थ इति । उत्तरम्–विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वं पञ्चावयववाक्यस्य परमत्वमिति।
न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

११. अवयवा इवावयवाः, न पुनः समवायिकारणम्, यथा ह्यवयवा; समुदायिन एकस्मिन्नवयविति कार्ये धारयितव्ये च एवमेकस्मिन् विवक्षितार्थप्रतिपादने प्रतिज्ञादयोऽवयवा वाक्यस्य समुदायस्य समुदायिन इति ।
न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

१२. तच्चानुमानं परार्थं न्यायसाध्यम् । अनु. खण्ड पृ.१४६०

१३. अत्र स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्ग इति प्रसङ्गलक्षणम्।तत्र स्मृतस्य पूर्वाभिहितवस्तुसम्बन्धेन स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वं द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधिरूपं जिज्ञासा-विषयतावच्छेदकरूपमिति यावत् ।
गादाधरी, अनुमि. प्रक., पृ.१०

१४. तत्र न समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकवाक्यं न्यायः ।
तत्त्वचिन्तामणिः, अनु.खं. पृ.१४६०

१५. चतुर्भिः खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वेवा प्रतिपादिते न त्वबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षितत्वे । पञ्चसु वा चतुर्षु रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते । तस्मादबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षिततत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनम् ।
न्या.वा.ता.टी., अ.१, आ.१, सू.३९ पृ.५६८

१६. अनुमानचिन्तामणि

१७. पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम् ।
न्या.वा.ता.टी., पृ.५७

१८. अनुमानगादाधरी

# भारत में राष्ट्र का अन्वेषण

भारत में सम्प्रति राष्ट्रीय अस्मिता, राष्ट्रीय तादात्म्य के निकष और एतद् सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या के लिए प्रेरक परिस्थितियाँ प्रकट हो रही हैं। कुछ लोग भारत को हिन्दूराष्ट्र तो कुछ लोग इसे संकर संस्कृति पर निर्मित नवराष्ट्र मानते हैं । राष्ट्र के स्वरूप सम्बन्धी यह मतभेद इतने उग्र रूप में प्रकट हो रहा है, कि पक्ष विपक्ष की प्रचार प्रक्रिया में मूल प्रश्न दृष्टि से ओझल जाता दिखाई देने लगा है । इसीलिए देश की वर्तमान उत्तेजना पूर्ण अवस्था को ''साम्प्रदायिक राजनीति'' के कथित दुश्चक्र के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है । हमने अपने पिछले लेख में यह विचार प्रस्तुत किया था कि वर्तमान दुरवस्था के लिए साम्प्रदायिकता को दोष देना सर्वथा अनुचित है ।[1] साम्प्रदायिकता समाज के लिए स्वाभाविक और वांछनीय भी है । साथ ही हमने यह भी लिखा था कि वर्तमान संघर्ष राजनैतिक सम्प्रदायों के बीच है जिनका जन्म राष्ट्र सम्बन्धी मान्यताओं के मतभेद से होता है । वर्तमान भारतीय समाज के प्रस्तुत वैचारिक मंथन में अपने सहभाग के रूप में हमने भी राष्ट्र का अन्वेषण का प्रयास किया है । निष्कर्ष कितना संगत है– यह जानने के लिए विद्वानों के सम्मुख लेख के रूप में अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं ।

आधुनिक भारतीय विद्वानों में से प्राय: बहुसंख्य लोग, विशेष रूप से ऐसे लोग, जिनके विचार-प्रेरक-तत्त्व अग्रेंजी शिक्षा के परिणाम हैं, यह मानते हैं कि राष्ट्रवाद का भारत में उदय आधुनिक काल में हुआ । एक लेखक लिखते हैं ''भारतीय राष्ट्रवाद अर्वाचीन तथ्य है । ब्रिटिश शासन और विश्व शक्तियों के कारण तथा भारतीय समाज में उत्पन्न और विकसित कारकों की क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिशकाल में भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ''[2] ।

राष्ट्र शब्द से जिस प्रकार के मानव समूह का बोध होता है उसके लक्षणों में ई.एच्.कार ने अतीत और वर्तमान (संभवत: भविष्य में भी) सर्वनिष्ठ सरकार, भूभाग, उक्त भूभाग में रहने वालों में सम्पर्क सामीप्य, ऐसी चरित्रगत विशेषताएँ

(प्रमुखत: भाषा) जो एक समुदाय को अन्य राष्ट्रों से अलग करती है समुदाय के सदस्यों के सम्मिलित स्वार्थ को माना है ।[३] एक राष्ट्र के लिए एक राज्य या सरकार को आवश्यक मानने के कारण ही संभवत: भारत को निर्माणाधीन राष्ट्र समझा जाता है ।

''रसेल के अनुसार राष्ट्र का निर्माण भावनात्मक एकता और एक प्रकार के समूह की समान प्रवृत्तियों से होता है । एक राष्ट्र के लोग समान उद्देश्यों की और समान भावनाओं द्वारा उत्प्रेरित होते हैं''[४] डॉ. आम्बेडकर भी राष्ट्र के भावनात्मक एकता-बद्ध समूह के रूप में मानते हैं । उनके अनुसार राष्ट्रीयता एकत्व की एक आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिक भावना है ।[५] अर्नेस्ट रेनन् के अनुसार ''राष्ट्र एक जीवित आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है । (१) स्मृतियों की समृद्ध विरासत की सामान्य उपलब्धि और (२) एक साथ रहने की वास्तविक स्वीकृति या इच्छा ये दो तथ्य इस आत्मा या आध्यात्मिक सिद्धान्त की संरचना करते हैं और वे व्यक्ति की तरह राष्ट्र के द्वारा एक दीर्घ अतीत में कृत प्रयास, त्याग और समर्पण का परिणाम हैं ।[६]

राष्ट्र के सम्बन्ध में विद्वानों, राजनेताओं तथा सामान्य जन की व्यक्त चिन्ताओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्र से आशय व्यक्तियों से सम्बद्ध ऐसे जनसमुदाय से है जिसके सदस्य निश्चित रूप के परस्पर भावनात्मक एकता संबंध से एक-दूसरे से संबंधित हैं । भावनात्मक एकात्मता से युक्त जनसमुदाय में अन्य बातें यथा भाषा, भू-भाग, सामाजिक संस्थाएँ भी अनिवार्यत: निहित मानी जा सकती हैं, क्योंकि इनके बिना ''जनसमुदाय'' की कल्पना नहीं की जा सकती । इसीलिए राष्ट्र के लक्षणों में भाषा, भूभाग, सर्वनिष्ठ सरकार आदि की एकता या समानता को भी सम्मिलित कर लिया जाता है । यहाँ तक तो राष्ट्र सम्बन्धी अवधारणा में आम सहमति प्रतीत होती है । मतभेद वहाँ हो जाते हैं जहाँ उपर्युक्त लक्षणों में से किसी को गौण और किसी को महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है । जनसमुदाय में भावनात्मक एकात्मता वर्तमानमूलक कम और अतीत मूलक अधिक होती है। वर्तमान मूलक से हमारा आशय यह है कि एकात्मता ऐसी हो जो उन कारकों से उत्पन्न हो जो वर्तमान हैं, जिनका वर्तमान कालिक महत्त्व है । वर्तमानमूलक कारक भविष्योन्मुख भी होते हैं । उदाहरण के लिए आजीविका की सुविधा । यह न केवल वर्तमान कालिक महत्त्वपूर्ण है, अपितु भविष्य के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है । आजीविका की सुविधा के कारण व्यक्तियों में परस्पर सम्बन्ध होना भावनात्मक एकात्मता को उत्पन्न करता है । इस तरह की एकता, साधन रूप होने से, न्यून या शून्य हो जाती है । राष्ट्र के रूप में मान्य जनसमुदाय में एकात्मकता व्यक्तिगत लाभ हानि से परे होनी चाहिए । अतीतमूलकता से हमारा आशय यह

है कि एकात्मता ऐसी हो जिसकी उद्‌[illegible] नकी वर्तमान महत्ता न भी हो या हो भी, तो उसका स्पष्ट बोध न भी हो लेकिन जो सुदीर्घ अतीत की अधिकतम अवधि में महत्त्वपूर्ण रही हो, जिनकी स्मृतियाँ जनसमुदाय को सहानुभूति प्रदान करे । अतीत में समुदाय के द्वारा किया गया त्याग, उठाए गए कष्ट, दुर्दिन और सुदिन, देखे गए अधूरे स्वप्न वे कारक हैं जो वर्तमान में भावनात्मक एकात्मता उत्पन्न करते हैं । अर्नेस्ट रेनन का यह विचार सटीक है कि पीडा में सहभाग, प्रसन्नता में सहभाग की अपेक्षा एकता में बांधने के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। सामूहिक शोक और दुःख, उल्लास के सामूहिक स्मृतियों से एकता में अधिक साधक हैं, क्योंकि ये सामूहिक कर्त्तव्य-बाध्यता का बोध उत्पन्न करते हैं ।[७]

समस्या-रहित भविष्य की ओर उन्मुखता के कारण उत्पन्न होती है, जिसकी स्पष्टता और निश्चयात्मकता मात्र अपेक्षा, और कल्पना तक सीमित होती है । इसलिए भविष्य के लिए प्रयासों के लिए संकल्प की दृढ़ता साधन-विकल्प और समस्याओं के आघात के अनुभूति की तीव्रता और गहनता पर निर्भर करती है । आघात के अनुभूति की तीव्रता और गहनता समस्याओं से 'वर्तमान संलग्नता' पर निर्भर करती है और वर्तमान संलग्नता अतीत की सहभागिता पर निर्भर करती है । किसी समुदाय की अतीत में सहभागिता की व्यापकता, गहनता और दीर्घकालिकता ही भविष्य के लिए सामूहिक प्रयासों की संकल्प-दृढ़ता का प्रेरक है और जनसमुदाय के राष्ट्र होने के लिए या भावनात्मक एकात्मता के लिए केवल अतीत और वर्तमान सहानुभूति पर्याप्त नहीं, वरन् भविष्य के लिए सामूहिक संकल्प भी आवश्यक है। अर्थात् किसी समुदाय को "राष्ट्र" होने के लिए केवल अतीतमूलक ही नहीं भविष्यमूलक भावनात्मक एकात्मता भी आवश्यक है । भविष्यमूलक भावनात्मक एकात्मता से हमारा आशय ऐसी एकात्मता से है जो किसी जनसमुदाय में सुख, दुःख, उत्थान, पतन की समस्त भावी अवस्थाओं में भी एक बने रहने की स्वतःस्फूर्त इच्छा उत्पन्न करे । भावनात्मक एकात्मता के मूल सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन एक उदाहरण से स्पष्ट ग्राह्य हो सकता है । भारत की स्वतंत्रता के लिए कथित राष्ट्रीय आन्दोलन के समय तत्कालीन भारतीय जनसमुदाय में भावनात्मक एकात्मता थी जिसकी अभिव्यक्ति ब्रिटिश शासन के विरोध के रूप में हुई । ब्रिटिश शासन का विरोध तीन वर्ग के लोगों ने किया । एक वर्ग विदेशी शासन से भारत की मुक्ति चाहता था। यह वर्ग स्वयं को विदेशियों से संघर्ष की उस धारा का अंग स्वीकार करता था जिसमें राणाप्रताप, शिवाजी आदि थे । दूसरा वर्ग विदेशीपन को महत्त्वपूर्ण न मानकर उसके अधीन स्वायत्तता चाहता था । यह न मिलने पर उपजे असंतोष ने उनमें विरोध को जन्म दिया । तीसरा वर्ग जो सबसे अन्त में सम्मिलित हुआ वह अपने अल्पसंख्यक सामुदायिक हितों की रक्षा और मज़हबी कारणों से विरोध के लिए प्रस्तुत हुआ ।[८] इनके लिए ब्रिटिश का विदेशी होना, या सारे भारत की स्वायत्तता

महत्त्वपूर्ण नहीं थी। ब्रिटिश शासन के इस विरोध में भावनात्मक एकात्मता तत्कालीन समस्याघातों का परिणाम थी और अतः वर्तमानमूलक थी। साथ ही उनकी समस्या के प्रति वर्तमान संलग्नता और आघात की अनुभूति में भी स्वरूपगत भेद था। इस एकात्म भावना में भविष्य-मूलकता भी समान रूप से नहीं थी जिसके कारण भारत का विभाजन हुआ। विभाजन को एकराष्ट्र भावना का परिणाम नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि भावनात्मक एकात्मता की वर्तमानमूलकता किसी समुदाय को एक राष्ट्र का रूप प्रदान नहीं करता। उसके प्रत्येक सदस्यों में भविष्य में भी एक बने रहने की दृढ इच्छा भी अनिवार्य है।

विषमता, अनेकता और विविधता तथा समता, एकता और सामञ्जस्य सृष्टि में निहित और मानव द्वारा अनुभूत सत्य है। सिद्धान्ती अद्वैतवादी (जडवादी या चेतनवादी) हो या न्यूनतम द्वैतवादी हो, यदि सृष्टि है तो अनेकता, एकता आदि रूप के विरोधी तथ्यों के अस्तित्व को वह अस्वीकार नहीं कर सकता। यह तथ्य अपनी सत्यता के लिए हमारी इच्छा, अनिच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। मानव भी "एकजाति" होते हुए भी इन विरोधरूप तथ्यों से अलिप्त, रहित या अलग नहीं है। एक व्यक्ति में परस्पर विरोधी तथ्य किसी एक बिन्दु पर सन्तुलित हो जाते हैं। और उस सन्तुलित बिन्दु के अधिष्ठातृत्व में व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है। उस एक बिन्दु को हम सुविधा के लिए, चाहें तो, व्यक्ति की जीवन के प्रति परमार्थ दृष्टि, परमलक्ष्य का स्वीकृत रूप कह सकते हैं। इसी तरह मानव व्यक्तियों का समुदाय भी व्यक्तियों की समस्त भिन्नता, विषमता और विरोधों के बीच किसी एक केन्द्रीय तथ्य जीवन की "परमार्थ दृष्टि" पर सन्तुलन स्थापित करता है। वह दृष्टि उसकी ऐसी अपनी विशिष्टता होती है जिस के आधार पर वह समुदाय न केवल स्वयं को एक समुदाय, एक समाज के रूप में पहचानता है, अपितु इसी आधार पर अन्य समुदायों या समाजों से वह स्वयं की भिन्न अस्मिता भी स्थापित करता है। समस्त विरोधों और विषमताओं में सन्तुलन की केन्द्रीय दृष्टि ही संस्कृति है जो किसी समाज की आत्मा कही जा सकती है। एक जन समूह या भीड़ "समाज" के रूप में इस केन्द्रीय दृष्टि के बिना संरचित नहीं होता। श्री शल्य के अनुसार समाज का अस्तित्व किसी संस्कृति के बिना अक्षुण्ण रहना असंभव होता है। सांस्कृतिक क्षय किसी समाज के अस्तित्व को खतरे में ड़ाल सकता है।[1] हमारे विचार में व्यक्ति की परमार्थ दृष्टि ही समाज की संरचना का आधार अतः संस्कृति है। वह केन्द्रीय बिन्दु या विशिष्टता या संस्कृति उस समुदाय के घटकों के बीच भावनात्मक एकता का आधार बनती है और यही वास्तव में राष्ट्र का आधार होता है। यह विशिष्टता न केवल एक समाज की एक राष्ट्र के रूप में पहचान कराती है अपितु अन्य राष्ट्रों से पृथकृता का भी बोध कराती है। स्वअस्तित्व के बोध की गहनता, व्यापकता

और तीव्रता का पृथकृता के बोध की गहनता, व्यापकता और तीव्रता से सामानुपातिक सम्बन्ध होता है । अर्थात् स्व अस्तित्व का बोध जितना गहन होगा, पृथकृता का बोध भी उतना ही गहन होगा । अत: जब तक किसी जनसमुदाय में "अस्मिता बोध" होगा तब तक अन्य से पृथकृता का बोध भी होगा ।[10] एक व्यक्ति में अस्मिता तो सदा रहती है, लेकिन उसका बोध तब ही होता है जब उसकी चेतना का अन्य से सम्पर्क होता । "अन्य" से सम्पर्क का अर्थ है स्वयं से भिन्न और पृथक् कोई विषय प्रस्तुत हो । इसी तरह एक जनसमुदाय की अस्मिता का बोध तब ही होता है जब उससे भिन्न और पृथक् जनसमुदाय से उसका सम्पर्क होता है । अत: किसी भी समाज की राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्ति तब ही होती है, जब उस समाज के समक्ष भिन्नता और पृथकृता के तथ्य प्रस्तुत होते हैं । अर्थात्, किसी समाज का राष्ट्र-बोध अन्य राष्ट्रों की उपस्थिति के बोध पर निर्भर करता है । इस प्रकार किसी समाज के राष्ट्र होने और उस समाज को राष्ट्र होने का बोध होने का बोध होने में अंतर होता है । यह संभव है कि किसी समाज में "राष्ट्र" कहलाने के लिए आवश्यक एकात्मता हो, लेकिन उसे एकात्मता के कारकों का, और एकात्मता का बोध न हो । यह भी संभव है कि एकात्मता का बोध हो, लेकिन उसकी युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने उसके सदस्य समर्थन हों या उसकी उन्हें आवश्यकता अनुभूत न हुई हो । इन सभी स्थितियों में राष्ट्र तो रहता है, लेकिन राष्ट्रवाद नहीं होता । राष्ट्रवाद का उदय तब होता है जब उस राष्ट्र के सदस्यों में असुरक्षा का भय या स्वयं का अन्य में विलय हो जाने की आशंका दिखाई पड़ने लगती है ।

राष्ट्र एक समाज है और उसका जन्म जिस किसी देश में होता है उस देश की प्राकृतिक विशेषताओं का प्रभाव उस समाज पर पड़ता है । अत: राष्ट्र का एक आधार-भूत अंग वह देश होता है जिसमें कोई समाज या राष्ट्र फलता फूलता है । समस्त प्राकृतिक विपदाओं तथा सम्पदाओं के बीच दीर्घ अवधि तक एक देश में रहते हुए उस समाज में देश के प्रति भी पूज्यभाव उत्पन्न हो जाता है । और समाज के घटक रूप व्यक्तियों में निहित परस्पर भावनात्मक सम्बन्ध देश से भी प्रस्थापित हो जाता है । किसी देश के साथ आत्मीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति उसकी रक्षा के संकल्प में निहित होती है । सबसे स्थायी तत्त्व कि जिस पर एक राष्ट्र की शक्ति अवलम्बित रहती है, वह स्पष्ट रूप से उसकी भौगोलिक स्थिति है । इसलिए देश की रक्षा का संकल्प भी राष्ट्र का एक लक्षण होता है । किसी भी देश में रहने वाला जनसमुदाय अन्य देश के व्यक्तियों को अपने देश की सम्पदा का अपने समान उपभोग करने की स्वीकृति नहीं देता । सम्पर्क-साधन और आवागमन से देशीय निकटता स्थापित होती है । इससे दो देशों के जनसमुदायों में सम्बन्ध स्थापित होता है । सम्बन्ध स्थापना और अन्त:क्रिया की

अवधि में समाज के 'सामूहिक अहं'' यदि संरचना प्रक्रिया से गुजर रहे हों तो वे समाज एक दूसरे में विलीन होकर 'एक समाज' बन जाते हैं । सामूहिक अहं के निर्माण के उपरान्त दो समाजों का परस्पर विलयन अत्यन्त कठिन हो जाता है । ऐसी स्थिति में एक देश में दो समाज सह अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं । अत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश में एक से अधिक समाज या राष्ट्र रह सकते हैं । सह अस्तित्व की यह अवस्था तभी तक सन्तुलित रहती है जब तक एक समाज दूसरे समाज को अपने में समाहित करने का सचेत प्रयास न करे । इस तरह के प्रयासों से दूसरे समाज में अपने अस्तित्व की सुरक्षा के प्रति चिन्ता होती है । ऐसी चिन्ता 'एक राज्य' की आवश्यकता को पुष्ट करती है ।

किसी समाज के एक समाज या राष्ट्र होने में सम्प्रेषण का अत्यधिक महत्त्व है । समान उद्देश्य, आवश्यकताएँ या देशीय निकटता होने पर भी सम्प्रेषण के सर्वनिष्ठ माध्यम के अभाव में एकात्मता होते हुए भी वह अनुभूत नहीं होती । मानव के लिए श्रेष्ठ सम्प्रेषण-माध्यम भाषा है । समान भाषा होने का अर्थ है संस्कृति में समानता । कोई संस्कृति कितनी ''पुरातन'', कितनी विकसित और कितनी स्पष्ट है, इसका भाषा की पुरातनता, विकसित रूप और स्पष्टता से ही पता चलता है । समान भाषा का न होना देशीय निकटता के बावजूद समाजों को एक होने के मार्ग को अवरुद्ध करता है ।

किसी भी समाज के लिए 'एक राज्य' होना आवश्यक है । समाज में अन्तर्निहित विषमताओं, भिन्नताओं तथा विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था के लिए कुछ अधिकारों से युक्त उत्तरदायी सामाजिक संस्था 'राज्य' है । राज्य और व्यक्ति-समूहों के अधिकार और उत्तरदायित्व में विलोमानुपातिक सम्बन्ध होता है । जिस समाज में व्यक्तियों में उत्तरदायित्व और अधिकार के प्रति सजगता जितनी मात्रा में अधिक होती है उतनी ही मात्रा में राज्य के अधिकार और उत्तरदायित्व कम होते हैं । इसी तरह राज्य के अधिकारों और उत्तरदायित्व में वृद्धि व्यक्तियों के अधिकार और उत्तरदायित्व को कम करती है ।

समाज या राष्ट्र का निर्माण करना राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं होता । समाज अपनी रक्षा और विकास के लिए सहायक के रूप में राज्य को स्वीकार करता है । अत: समाज के स्वरूप पर राज्य का स्वरूप निर्भर करता है । इस तरह राज्य राष्ट्र का ही एक अंग होता है । राज्य यदि समाज के निर्माण का, उसके स्वरूप के निर्धारण का कार्य करने लगे तो समाज राज्य से विद्रोह कर देता है। हम जानते हैं कि ब्रिटिश राज्य ने हिन्दू समाज के स्वरूप को निर्धारित करने

का प्रयास किया । ब्रिटिश राज्य की प्रेरणा से विद्वानों ने भारतीय समाज को 'एक समाज' के बजाय अनेक समाजों के मिश्रण के रूप में प्रचारित किया गया। हिन्दू समाज को विदेशी, आर्य, द्रविड़ आदि के रूप में अलग अलग बांटने से हिन्दू समाज को एक समाज के रूप में संगठित करने वाले भावनात्मक एकात्मता के आधार-भूत तत्त्वों की विकृत व्याख्या करके समाज को कमजोर करने का प्रयास किया, जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दू समाज ने विद्रोह किया ।

एक देश में रहने वाले एक समाज के लिए एक राज्य का होना समाज के लिए ग्राह्य होता है । एक देश में एक से अधिक समाज होने पर "राज्य" भी तदनुसार ही होंगे, यह स्वाभाविक स्थिति है । एक से अधिक समाजों या राष्ट्रों के लिए एक राज्य केवल अस्वाभाविक और बलात् आरोपित स्थिति होगी। ऐसी स्थिति में या तो राज्य व्यवस्था चलाने में अक्षम हो जाता है, या फिर वे समाज देशीय निकटता को अस्वीकार करके पृथक् देश और पृथक् राज्य के लिए प्रयास करने लगते हैं । भारत, सोवियत संघ और पाकिस्तान के विभाजन इसके उदाहरण हैं । दूसरी ओर यदि एक देश के एक समाज या राष्ट्र में एक से अधिक राज्य निर्मित हों तो यह अस्वाभाविक होने से अस्थायी व्यवस्था होगी। और जब भी समाज में अस्मिता का बोध होगा, राज्य एक हो जायेंगे । कोरिया, जर्मनी इसके उदाहरण हैं (जर्मनी का एकीकरण तो हो चुका है, कोरिया का वर्तमान विभाजन भी अस्थायी ही है)।

संक्षेप में, किसी समाज को राष्ट्र कहलाने के लिए उस समाज के घटकों या सदस्यों में अतीतमूलक, भविष्योन्मुख, भावनात्मक एकात्मता यह अनिवार्य शर्त है । राष्ट्र जिस देश में निवास करता है वह उस राष्ट्र की एक शक्तिरूप तत्त्व है । राष्ट्र की देश से भी भावनात्मक एकात्मता होनी जाहिए । राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिए होता है । राष्ट्र की रक्षा का अर्थ उस राष्ट्र के निर्माण में आधारभूत मूल्यों की रक्षा है । किसी राष्ट्र का विकास तभी संभव है जब देश की रक्षा हो । अतः राज्य के दायित्व में देश की रक्षा सम्मिलित है ।

भारत में राष्ट्र के अन्वेषण का अर्थ है भारत में रहने वाले समाज का अन्वेषण । भारत में राष्ट्र का स्वरूप क्या है ? क्या वर्तमान भारत में 'एक समाज' है ? अर्थात्, भारत में रहने वाले व्यक्तियों में अतीत मूलक, भविष्यगामी, भावनात्मक एकात्मता का कोई सर्वमान्य आधार है ? वह आधार क्या है ? आदि प्रश्नों के उत्तर खोजना भी भारत में राष्ट्र के अन्वेषण का रूप है ।

सम्प्रति भारत में दो प्रकार का राष्ट्रवाद प्रचलित है, अर्थात् भारत में राष्ट्र का स्वरूप दो दृष्टिकोणों से समझने का तरीका अपनाया गया है । एक है हिन्दूराष्ट्रवाद

और दूसरा है सेक्यूलर राष्ट्रवाद । राष्ट्रवाद की एक विशेष प्रकार की धारणा रखने वाले स्वयं को सेक्यूलर घोषित करते हैं और हिन्दूराष्ट्रवाद को साम्प्रदायिक या कम्युनल या थियोक्रेटिक घोषित करते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवाद को कांग्रेसी राष्ट्रवाद कहना अधिक उचित है । इस कांग्रेस नाम का एक राजनीतिक सम्प्रदाय अस्तित्व में होने से, सेक्यूलर राष्ट्रवाद शब्द का उपयोग करना उचित प्रतीत होता है । हिन्दूराष्ट्रवादी भी स्वयं को वास्तविक सेक्यूलर घोषित करते हैं । भारत में सेक्युलरिज्म एक आयातित शब्द है। भारत में यह शब्द सर्वधर्म (पंथ) समभाव, सभी धर्मों के प्रति आदर भाव, सहिष्णुता आदि अर्थों में प्रचलित है । इस अर्थ में हिन्दू राष्ट्रवादियों के दावे को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता । वास्तव में कौन सेक्यूलर है इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ते हुए, दोनों मतों की घोषणा को स्वीकार करते हुए सुविधा की दृष्टि से 'हिन्दूराष्ट्रवाद' और सेक्यूलर राष्ट्रवाद शब्दों का प्रयोग इस लेख में किया जा रहा है । सेक्यूलर राष्ट्रवाद बहु प्रचरित है । भारत के समचार पत्र, पत्रिकाओं में इस मत का निरन्तर प्रचार होता रहा है । अत: यहाँ इसके बारे में विस्तृत परिचय न दे कर इसकी प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख करके उसकी विवेचना की जायेगी ।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद का जन्म ब्रिटिश राज्य में भारतीयों की स्वायत्तता के संघर्ष की अवधि में हुआ । अत: इसके आधार के रूप में राजनैतिक एकात्मता को ही स्वीकार किया गया । हमारे विचार में सेक्यूलर राष्ट्रवाद के जनक श्री मोहनदास करमचन्द गांधी थे । उनका मत था कि हमारी राष्ट्रीयता की वास्तविक कसौटी हमारी सर्वनिष्ठ (Common) राजनैतिक अधीनता ही है ।" इस निष्कर्ष के पीछे संभवत: यह मान्यता थी कि भारत एक देश के रूप में कई पृथक् व स्वतंत्र समुदायों का अधिष्ठान है । मज़हब को राष्ट्रीयता का आधार मानें तो भारत में अनेक मज़हब हैं । अत: इस दृष्टि से भारत एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता । संस्कृति को आधार मानें तो भारत में अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं । भाषा और जाति भी अनेक होने से एकात्मता के आधार के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता । अत: एक देश में रहने वाले समस्त पृथक् व स्वतंत्र सामुदायिक इकाइयों में 'एक राज्य' की अधीनता ही एकात्मता का आधार बन सकती है। वह राज्य ऐसा हो जिसके लिए विभिन्न भाषा, जाति, पंथ आदि समान हो । यही सेक्यूलर राज्य की स्वीकृति का आधार रहा और इसी आधार पर भारत 'एक राष्ट्र' के रूप में स्वीकृत हुआ । सेक्यूलर राष्ट्रवादियों के अनुसार भारत में सदियों से हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा अन्य आस्थाओं के लोग साथ साथ सामञ्जस्य के साथ रहते आए हैं ।[१२] यही भारतीय समाज की गौरवशाली परम्परा है । गौरवशाली परम्परा का यह रूप इतिहास के नेहरूवादी दृष्टिकोण का परिणाम है । जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं कि भारतीय इतिहास का काल-विभाजन प्राचीन या हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश काल के रूप में करना न केवल अबुद्ध है वरन्

गलत भी है । आक्रमणकारी जो उत्तर पश्चिम दिशा से भारत आए वे अपने कई पूर्ववर्ती और प्राचीन (आगन्तुकों) की तरह आए और भारत में समाहित हो गए । भारत एक स्वतंत्र देश बना रहा ।'[१३] मुगलों के भारत में सत्ता स्थापना से मिश्रित (या संकर-लेखक) संस्कृति का आविर्भाव हुआ ।[१४] यह मिश्रित संस्कृति ही वास्तव में सेक्यूलर राष्ट्रवाद का आधार बना (यदि संस्कृति को राष्ट्र की आत्मा कहा जाये तो सेक्यूलर राष्ट्रवाद को संकर राष्ट्रवाद भी कहा जा सकता है)। राष्ट्रवाद में सेक्यूलर राष्ट्रवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि इसमें अतीत की स्मृतियों, उपलब्धियों और अनुभवों का समूह अनिवार्य है ।[१५] लेकिन वे एक ऐसे व्यापक राष्ट्रवाद में विश्वास करते हैं, जो मज़हब और जाति के भेदों से ऊपर है ।[१६] राष्ट्रीय एकता परिषद् की १९६१ की घोषणा में इस राष्ट्रवाद के आधार को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया– 'हमारे राष्ट्रीय जीवन की नींव सर्वनिष्ठ नागरिकता, अनेकता में एकता, मज़हब की स्वतंत्रता, पंथ निरपेक्षता, समता, न्याय और सभी समुदायों में बन्धुता पर खड़ी है ।'' भारतीय समाज के निर्माणाधीन राष्ट्रवाद के बारे में सेक्यूलर राष्ट्रवादियों का प्रामाणिक अभिलेख भारतीय संविधान है । संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, *समाजवादी, पंथ निरपेक्ष*, लोकतंत्रात्मक गणराज्य' बनाने के लिए तथा 'उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता *और अखण्डता* सुनिश्चित कराने वाली बन्धुता बढाने के लिए'[१७] दृढ संकल्प व्यक्त किया गया है । (रेखांकित शब्द सन १९७६ में जोड़े गये ।) इसके अतिरिक्त मूलकर्त्तव्यों को सूची-बद्ध किया गया, जिसमें कहा गया है भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह ''भारत के सभी लोगों में समकक्षता और समान बन्धुत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, (भारत सरकार के द्वारा प्रकाशित संविधान के हिन्दी अनुवाद में धर्मनिरपेक्षता के बजाय 'पंथनिरपेक्षता' शब्द को स्वीकार करने के बावजूद 'Religion' का अनुवाद धर्म किया जाना गंभीर संवैधानिक भूल है और अत: निराकरणीय है ऐसा हमारा मन्तव्य है) भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित भेदभाव से परे हो ....हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे ।[१७] संविधान में यद्यपि राज्य और राष्ट्र के अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया, तथापि उद्धृत पंक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसमें समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष राज्य-युक्त समाज के निर्माण का संकल्प व्यक्त किया गया है ।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद को समझने के लिए उसकी प्रमुख मान्यताओं का पर्याप्त ज्ञान उपर्युक्त विवरण से हो जाता है । तदनुसार उसकी भारतीय समाज के वर्तमान और निर्माणाधीन स्वरूप सम्बन्धी मान्यताएं इस प्रकार हैं :–

१. भारत में प्राचीन काल से विदेशी लोग आकर बसते गए और उनकी भाषा, जाति पंथ और संस्कृति भिन्न होते हुए भी भारतीय के रूप में साथ साथ रहते आये हैं। यह भारत की गौरवशाली परम्परा है। यही 'एक राष्ट्र' के रूप में आदर्श स्थिति है।

२. भारत का निर्माणाधीन स्वरूप पंथ-निरपेक्ष है।

३. भारतीय समाज में व्यक्ति की गरिमा स्वीकृत है, तथा व्यक्ति को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, पंथ और उपासना की स्वतंत्रता रहेगी।

४. भारत में राष्ट्र का आधार मिश्रित संस्कृति है और यह इस राष्ट्र का गौरव है।

५. राष्ट्र का अर्थ 'एक' राजनैतिक सत्ता के अधीन रहने वाला समाज है। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन चला, आज़ादी मिली और विगत ४६ वर्षों से शिक्षा, गृह और प्रचार-नीति के साथ राजनीति का भी निर्धारण होता रहा है। हमारे विचार में या तो इन मान्यताओं में कहीं भयंकर दोष है या फिर सेक्यूलर राष्ट्रवादी इन मान्यताओं को सही ढ़ंग से लोगों को समझा नहीं सके हैं। इसीलिए न केवल भारत के तीन टुकड़े हुए, बल्कि मज़हबी वैमनस्य और राष्ट्रीय एकता की चिन्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रही है।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद की मान्यता है कि आधुनिक भारत में अनेक भिन्न, पृथक् तथा स्वतंत्र समुदाय रहते हैं। ऐसा उनमें निहित किस गुण के कारण है, अर्थात् इन समुदायों में वह सर्वनिष्ठ तत्त्व क्या है, जो इन्हें अतीत वर्तमान में एक बनाए रखता है और जो भविष्य में भी एक साथ रहने का उनमें दृढ संकल्प उत्पन्न करता है, यह सेक्यूलर राष्ट्रवादियों ने कभी स्पष्ट नहीं किया। केवल यह देख कर कि अनेक लोग एक साथ एक देश में रहते रहे हैं, यह कह देना कि उनमें भावनात्मक एकात्मता है– इतिहास के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण और अज्ञान का परिणाम ही हो सकता है। इस्लामी संस्कृति की पृथक् अस्मिता और उसके आधार पर २२ प्रतिशत लोग भारत के ३० प्रतिशत भाग को भारत से अलग कर गए– इस स्पष्ट घटना के बाद भी मिश्रित संस्कृति की गौरवशाली एकात्मता की बात कहना हमारी समझ के बाहर है। स्वतंत्रता के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के निरन्तर प्रयास किए गए और ऐसा करने वाले कथित हिन्दू ही थे, मुस्लिम नहीं। यही नहीं आज भी मुसलमान नाराज हो जायेंगे तो भारत फिर खण्डित हो जाएगा ऐसा आशंकित आतंक सेक्यूलर राष्ट्रवादियों द्वारा फैलाया जा रहा है। क्या इसके बाद भी मिश्रित संस्कृति की मान्यता को राष्ट्र का गौरव कहा जा सकता है? सेक्यूलर राष्ट्रवादियों की यह मान्यता आर्य आक्रमण की अप्रामाणिक मान्यता वाले

दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय समाज को समझने के प्रयास का परिणाम है। क्या किसी आर्य ने, द्रविड़ ने, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव ने अपने मज़हब के आधार पर भारतीय होने से इन्कार किया है ? भारत में जो कथित विदेशी आए, या तो उन्होंने अपनी पृथक् पहचान त्याग कर वे भारतीय हो गए या फिर यहां के लोग विदेशियों के साथ एकाकार हो गए । यह अवस्था मिश्रित संस्कृति की नहीं, एक नई संस्कृति की कही जा सकती है, या प्राचीन संस्कृति का परिष्कार है ।

यह सत्य है कि भारत में भाषा, जाति और पंथ की विविधता सदा रही है । भारत देश में राज्य भी कई रहे हैं । फिर भी भारत के जन में एकात्मता किसी बिन्दु पर बनी रही । शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ ये सभी दक्षिण भारत के हैं, लेकिन इन का प्रभाव उत्तर, दक्षिण या भाषा भेद से मुक्त रहा। श्रीकृष्ण और श्री राम दक्षिण के नहीं थे, फिर भी उनका प्रभाव क्षेत्र सारा भारत ही रहा । शक, हूण आदि विदेशी भारत में आए लेकिन आज भाषा, विचार की दृष्टि से अन्य भारतीयों से उन्हें पृथक् पहचान पाना संभव नहीं । अतः सेक्यूलर राष्ट्रवादियों की यह मान्यता गलत नहीं है कि भाषा, पंथ, जाति की विविधता के बाद भी भारत एक है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि सेक्यूलर राष्ट्रवादी धर्म, सम्प्रदाय या संस्कृति को समाज में भावनात्मक एकात्मता का स्रोत नहीं मानते । भारत के विभाजन के बाद भी मिली जुली संस्कृति वाला 'राष्ट्र' मानना यह संकेत देता है कि वे देश को भी एकात्मता का स्त्रोत नहीं मानते (अन्यथा तीन बीघा क्षेत्र बंगलादेश को लीज पर देने का निर्णय नहीं लिया जाता) । तब केवल राज्य ही एकात्मता का स्रोत माना जा सकता है । सोवियत संघ, पाकिस्तान और चेकोस्लोवाकिया के विभाजन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि राज्य जनसमुदायों को एक बनाए रखने में सर्वथा असफल होते हैं ।

हम समझते हैं कि सेक्यूलर राष्ट्रवादियों को या तो एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहिये जो भारत के विभिन्न समुदायों को एकात्मभाव से आबद्ध करे (दुर्भाग्यवशात् ऐसी नई संस्कृति का निर्माण अभी तक नहीं हुआ यद्यपि ऐसे प्रयास होते हुए दिखाई अवश्य दे रहे हैं । उदाहरणार्थ भारत की प्राचीन विचारधारा के युक्तिसंगत आधार पर राष्ट्र निर्माण को साम्प्रदायिक (?) कह कर निन्दा करना, राजनैतिक विरोधियों का कानून की आड़ में दमन करना, धर्म को राजनीति से अलग करने का प्रयास, जाति, सम्प्रदाय और भाषा के आधार पर समाज को बांटना– ये सब उस नई संस्कृति के लक्षण हैं । इसका नाम क्या हो यह विचारणीय है ।) या फिर, यूरोप की संस्कृति और परम्पराओं को अपना लेना चाहिए या

फिर राष्ट्र वाद का त्याग कर के अंतर्राष्ट्रीयतावाद को स्वीकार कर लेना चाहिए। जो भी करें, आस्था का ऐसा केन्द्र या विषय ढूंढ़ें जो लोगों को एकात्म कर सकें ।

राष्ट्रवाद की दूसरी धारा है हिन्दूराष्ट्रवाद की ।

हिन्दू शब्द किसी पंथ या रिलीजन का विशेषण नहीं है । यह शब्द सिन्धु से उत्पन्न है । इसका अर्थ वही है जो 'भारतीय' या 'इंडियन' का अर्थ है । अतः हिन्दूराष्ट्रवाद को मज़हबी या थियोक्रेटिक राष्ट्रवाद के अर्थ में नहीं समझना चाहिए । हिन्दू राष्ट्रवादी भी इसको मज़हबी राष्ट्रवाद नहीं मानते । हिन्दू संस्कृति, हिन्दूदर्शन, हिन्दूजीवन दृष्टि, हिन्दुस्थान आदि प्रयोगों से विदेशी मुगलशासकों के आगमन के पूर्व की संस्कृति, दर्शन आदि के अथवा उसकी शाखाओं के लिए ऐसे शब्दप्रयोग प्रयुक्त होते आये हैं । अतः हिन्दू राष्ट्रवाद के अनुसार भारत में वह जनसमुदाय ही राष्ट्र है जिन्हें हिन्दू नाम से जाना जाता है । भारतीय संविधान के अनुच्छेद २५ के स्पष्टीकरण में कहा गया है कि "हिन्दुओं के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जायेगा कि उसके अन्तर्गत सिक्ख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के प्रति निर्देश है । इसमें ईसाई और मुसलमानों को सम्मिलित न करना यह दर्शाता है कि वैधानिक रूप से भी हिन्दू का अर्थ भारतीय मूल है ।

राष्ट्र की अवधारणा की दृष्टि से सेक्यूलर राष्ट्रवादी और हिन्दू राष्ट्रवादी में संभवतः विशेष सैद्धान्तिक भेद नहीं है । लेकिन भावनात्मक एकात्मता के जो तत्त्व भारत को एक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं उनके बारे में सेक्यूलर राष्ट्रवादी जितने अस्पष्ट हैं, हिन्दू राष्ट्रवादी उतने ही स्पष्ट हैं । स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– (स्वामी विवेकानन्द के समस्त उद्धरण रामकृष्ण मठ नागपुर के द्वारा प्रकाशित विवेकानन्द संचयन ग्रन्थ की तृतीय संस्करण से लिये गये हैं ।) प्रत्येक राष्ट्र के पास एक विचित्र जीवन-केन्द्र है और जब तक वह जीवन को अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति उस राष्ट्र का विनाश नहीं कर सकती। (पृष्ठ ३७५)

"धर्म ही है भारत की यह जीवनी शक्ति और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त इस महान् उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी तब तक संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उसका ध्वंस कर सके" (पृष्ठ ३७६) "राष्ट्र का गौरवमय अतीत राष्ट्र को नियंत्रण में रखता है, और उसका अधःपतन नहीं होने देता ।" (पृष्ठ ४३७)

"जाति, धर्म, भाषा ये ही एक साथ मिल कर एक राष्ट्र की सृष्टि करते

हैं। (पृष्ठ १६९) "प्रत्येक राष्ट्र का एक मुख्य स्वर होता है, एक केन्द्रीय विषय होता है, जिस पर अन्य सभी बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है; अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म है।" (पृष्ठ२९६) "भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अतः धर्म को सशक्त बनाना होगा।" (पृष्ठ १७२)

राष्ट्र जीवन के शाश्वत स्रोत– हिन्दूराष्ट्र वादियों के अनुसार– (१) जिस देश को अनन्तकाल से हमने अपनी पवित्र भूमि माना है, उसके लिए ज्वलन्त भक्ति भावना (२) साहचर्य और मातृत्व भावना, जिसका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान् माता के पुत्र हैं। (३) राष्ट्रजीवन की समान धारा की उत्कट चेतना, जो समान संस्कृति एवं समान पैत्रक दाय, समान इतिहास एवं परम्पराओं तथा समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं से उत्पन्न होती है। जीवन मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिन्दूराष्ट्रीयता है।[१८]

इस प्रकार हिन्दूराष्ट्रवादी देश, समाज के गौरवमय अतीत, और संस्कृति के प्रति समान रूप से पवित्र भाव, भक्तिभाव को एकात्मता के लिए आवश्यक मानता है। हमारे विचार से सेक्यूलर राष्ट्रवादी भी (यदि वह अन्तर्राष्ट्रीयवादी नहीं हैं तो) इसे स्वीकार करता है। इसलिए वह गौरवशाली परम्परा की बात करता है। मतभेद इस पर है कि परम्परा कहाँ से आरंभ मानी जाय ? और किसे परम्परा के भीतर या बाहर माना जाये ? यह इतिहास दृष्टि पर निर्भर करता है। सेक्यूलर राष्ट्रवादी विदेशी शासकों को, उनके राजनैतिक प्रभाव को भी अपनी परम्परा का अंग मानता है। उसके लिए आधुनिक भारतीय जन आर्य, द्रविड़, मुगल आदि की सन्तान है।

सेक्यूलर राष्ट्रवादी की इतिहास दृष्टि का नमूना है– "राणा प्रताप अकबर से बढ़कर या शिवाजी औरंगजेब से बढ़कर राष्ट्रीय विभूति नहीं है। यही नहीं, भ्रान्तिजन्य इतिहास में उन्हें मिथ्या राष्ट्रीय चरित्र प्रदान करके हम आधुनिक और समसामयिक इतिहास में राष्ट्रविरोधी और विघटनकारी कार्य करते हैं।"[१९] "आखिर किस परिभाषा से वे राष्ट्रीय चरित नायक थे ? और उनका संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष है ? इसलिए कि वे विदेशियों के खिलाफ लड़ते रहे ? मुगल विदेशी क्योंकर थे ? इसलिए कि वे मुसलमान थे ? इस तरह के वीर मिथक स्वतः साम्प्रदायिकता पैदा करते थे।"[२०] दूसरी ओर हिन्दू राष्ट्रवादी मुगल शासकों को पूर्णतः विदेशी मानता है। इसलिए नहीं कि वे इस्लाम नामक किसी मज़हब के मानने वाले थे बल्कि इसलिए वे दूसरे देश से भारत पर आक्रमणकारी बन आए थे और उन्होंने यहां के राज्यों को अपने अधीन करके अपना शासन चलाया। यह कहना

गलत है कि मुगल भारत आकर भारतीय राष्ट्र जीवन में समाहित हो गये। मुगल शासकों ने 'स्वयं को' भारतीय नहीं बनाया, 'भारत को' अपना बनाया। इसलिए वे नहीं बदले, भारत को बदलने का प्रयास किया। अकबर की उदारता एक शासक के स्थायी होने की इच्छा के कारण स्वीकार की गई राजनीतिगत विवशता थी। सेक्यूलर इतिहासकार मुगल शासकों को महानता के गुण गाते हुए यह अवश्य उल्लेख और प्रचार करते हैं कि उन्होंने राजपूत युवतियों से विवाह किए। लेकिन यह भी उल्लेख करना चाहिए कि कितनी शाही परिवार की युवतियाँ हिन्दुओं में विवाही गईं। आज भी स्थिति वैसी ही है। दूरदर्शनी उपदेशक बार बार यह बताते रहे हैं कि बहुत से संत महात्मा हुए हैं जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से पूजते हैं। हमारी जानकारी में इस तरह के जितने संत हुए वे प्रायः मुस्लिम थे और हिन्दुओं ने उनको सम्मान दिया। यदि इतिहासकार ऐसे महान् लोगों की सूची बनाएं जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से श्रद्धेय मानते हों तो हमें विश्वास है कि उनमें हिन्दुओं की संख्या तुलनात्मक रूप से नगण्य होगी। आज भी मुसलमान, ऐसे मुसलमान भी जो मूलतः हिन्दू हैं, स्वयं को प्राचीन अतीत से पृथक् करके विदेशी संस्कृति में सप्रयास समाहित होते हैं। अपना, अपनी सन्तान का नाम अपनी भाषा में रखना मानव की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। भारत के मुसलमानों में कितनों की मातृभाषा अरबी है ? भारत के किस प्रान्त की भाषा अरबी है? भाषा संस्कृति का एक मुख्य अंग है, किसी भी समाज का मूल है। विदेशी भाषा में नामकरण का निहितार्थ भी क्या, समझाना होगा ? इसलिए हिन्दू राष्ट्रवादी यह मानता है कि सम्प्रति मुसलमान भारतीय राष्ट्र के नहीं, इस्लाम राष्ट्र या समाज के अंग है। चूंकि इस्लाम राष्ट्र भारतीय नहीं है, जबकि बहुसंख्यक हिन्दू समाज ही यहाँ का राष्ट्र है, समस्त अल्पसंख्यकों को इस राष्ट्र से एकात्म होना होगा[२१] तभी आधुनिक भारत "एक राष्ट्र" कहा जाएगा। लेकिन सेक्यूलर राष्ट्रवादी तो यहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं कि "किसी मुसलमान के लिए ऐसे राष्ट्रवाद में भावनात्मक स्तर पर साझीदारी हो सकना और उसके प्रति सच्चा उत्साह अनुभव कर सकना आसान नहीं है जिसके राष्ट्रीय चरित नायक इसलिए सम्मान के पात्र बने हैं कि उन्होंने विदेशी मुसलमानों से युद्ध किया"[२२]। यदि यह सही है तो मुसलमानों के लिए उन नायकों के प्रति सम्मान भाव और सच्चा उत्साह रखना कठिन होगा जिन्होने विदेशी (पाकिस्तानी) मुसलमानों से युद्ध किया। फिर भी क्या मुसलमान और हिन्दू एक समाज या राष्ट्र कहे जा सकते हैं ? डॉ. आम्बेडकर हिन्दू और मुस्लिम समुदायों के बीच कथित समानताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (दोनों समुदायों को) जोड़ने वाली वस्तुओं की तुलना में पृथक्कारी वस्तुएँ अधिक जीवन्त हैं। अतः हिन्दु और मुस्लिम भारत में एक राष्ट्र की रचना करते हैं ऐसा निष्कर्ष भ्रम ही है।[२३] भारत का विभाजन और काश्मीर की विशेष

समस्या और अयोध्या विवाद डॉ. आम्बेडकर के निष्कर्ष का स्पष्ट प्रमाण हैं। हां, यदि हिन्दू संस्कृति का विस्मरण कर दिया जाय, या राष्ट्र वाद का ही परित्याग कर दिया जाय तो स्थिति भिन्न होगी।

हिन्दूराष्ट्र वादी यह मानते हैं कि भारत या हिन्दुस्थान हिन्दू राष्ट्र ही था और है भी। भविष्य में यह हिन्दू राष्ट्र बना रहे इसके लिए प्रयास करना होगा। राष्ट्र रक्षा का कार्य राज्य का भी उत्तरदायित्व है। अतः राज्य को विदेशी प्रेरणाओं या विचारों के बजाय राष्ट्रीय मूल्यों को संरक्षण देना चाहिए। पूर्वजों के प्रति आदर भाव, अपने अतीत के प्रति गौरवानुभूति का प्रस्फुरण, राष्ट्रीय एकात्मता के लिए आवश्यक है। व्यक्ति का वर्तमान व्यक्तित्व उसके विचार-मूल्य और उपलब्धियों से संरचित होता है। किसी व्यक्ति का अतीत यदि पूर्णतः अनुल्लेखनीय विस्मरणीय और महत्त्वहीन हो तो उसका भविष्य भी आत्म-शक्ति रहित ही होगा। ऐसा व्यक्ति केवल प्रतिक्रियावादी ही होता है। यही राष्ट्र के साथ भी होता है। यदि किसी राष्ट्र के अतीत में गर्व करने लायक नायक या उपलब्धियाँ नहीं हैं तो उसमें "अस्मिताबोध" भी अस्पष्ट, उत्साहहीन और आत्मविश्वास से रहित ही होगा। इसीलिए हर राष्ट्र में इतिहासकार ऐसी उपलब्धियों और ऐसे राष्ट्र नायकों को प्रस्तुत करता है जिन पर राष्ट्र गर्व कर सकें। आत्मगौरव की इस भावना को नष्ट करने के लिए ही योरोपीय इतिहासकारों ने सभी भारतीयों को विदेशी सन्तान निरूपित किया। "इतिहास सामाजिक स्तर पर अस्तित्व का अनुरक्षण और सांस्कृतिक स्तर पर आत्मनुसंधान की संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसका आश्रय अथवा अधिष्ठान सभ्यता अथवा संस्कृति-सम्पन्न समाज है"।[२४] ऐतिहासिक प्रक्रिया का अधिष्ठान एक विशिष्ट संस्कृति से अनुप्राणित समाज होता है। मिली जुली संस्कृति के रूप में या आर्थिक सम्बन्धों की परम्परा के रूप में इतिहास वास्तव में इतिहास को राष्ट्रवादी बनाता है। अतः हिन्दू राष्ट्रवादी इतिहास की राष्ट्रवादी व्याख्या और प्रस्तुति को राष्ट्र-भावना के लिए आवश्यक समझता है।

**हिन्दूराष्ट्रवाद और पंथ–निरपेक्षता :–** "असमान मतों, सिद्धान्तों और विश्वास की परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं में समायोजन करके उन्हें संयुक्त करने की जो क्षमता हिन्दू संस्कृति में है वह असमान तत्त्वों को समायोजित करके उनके सम्मिश्रण से विविधता में एकता प्रस्थापित करने की उसकी यह कार्यक्षमता संभवतः सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में बेजोड़ है"।[२५] "भावी भारत की सांस्थानिक संरचना का विकास करते समय उसे मज़हब, पंथ या रिलीजन के प्रभाव से मुक्त रखना आवश्यक है"।[२६] "कुछ लोगों का अनुमान है कि हिन्दूराष्ट्र की हमारी कल्पना मुसलमान और ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है। उससे उनका उन्मूलन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खता-पूर्ण और घातक और कुछ

नहीं हो सकता । यह कहना तो हमारी महान् एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है ।[२७]

हिन्दूराष्ट्र स्वरूपतः पंथ-निरपेक्ष है । उसकी पंथ-निरपेक्षता एक विशेष अर्थ में प्रतीत होती है । मज़हब या पंथ या रिलीजन व्यक्तिगत आस्था का विषय है । हिन्दू विचारधारा में आस्था और विचार-स्वातंत्र्य सदा स्वीकार किया गया है । शैव, वेष्णव, बौद्ध, जैन, आदि विभिन्न मज़हबों का प्रेममय सहअस्तित्व सदियों से भारत में है । सभी पंथों के प्रचारक अपने मत का निर्बाध प्रचार करते रहे और परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना भी होती रही । आत्मवत् सर्वभूतेषु देखने का सिद्धान्त और व्यवहार हिन्दू विचारधारा का सार रहा है । अतः हिन्दू समाज में सभी पंथों के प्रति प्रेमपूर्ण सहिष्णुता अनिवार्यतः निहित है । इस पंथ-निरपेक्षता की सीमा वहीं तक है जहाँ तक वह व्यक्तिगत आस्था जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति या ईश्वर, अल्लाह या परमात्मा की उपासना तक सीमित है । धन, बल, प्रलोभन या दरिद्र-विवशता का लाभ उठाकर पंथ-परिवर्तन की प्रक्रिया पंथ को व्यक्तिगत आस्था के बजाय सामुदायिक प्रभुत्व की भावना का रूप दे देता है । इस तरह के व्यवहार पंथ-निरपेक्षता की सीमा से बाहर हैं । इसीलिए हिन्दू समाज इस तरह के पंथों के अपने सद्भाव के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करता । हिन्दू राष्ट्र वादी "उपासना की भिन्नता को राष्ट्रीय ऐक्य का विरोधक नहीं मानता। उपासना-पद्धति के अत्यधिक आग्रह का बहाना बनाकर ऐहिक जीवन में पार्थक्य की नीति को ग्रहण करने का तथा विशेष अधिकारों की मांग से राष्ट्र जीवन पर आघात करने की प्रवृत्ति का विरोध करना उसका (हिन्दू राष्ट्रवादी का) स्वाभाविक परम कर्त्तव्य है"।[२८]

हिन्दू राष्ट्र में राज्य धर्मराज्य के रूप में संकल्पित है । "धर्मराज्य थियोक्रेटिक या मज़हबी राज्य नहीं है । थियोक्रेटिक राज्य का अर्थ है जहाँ राज्य किसी पंथ या गुरु के निर्देशों से चलता हो । धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शान्ति में मज़हब का स्थान स्वीकार करता है । इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह एसी अवस्थाएँ पैदा करें जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवन यापन कर सकें"।[२९] राज्य समाज का उपदेशक या निर्माता नहीं और न ही राज्य व्यक्ति का मार्गदर्शक है । राज्य समाज द्वारा परम्परा से स्वीकार किए गए मूल्यों की रक्षा, उपलब्धि और विकास में सहायक मात्र है । भारत के प्राचीन, अर्वाचीन संतों, विचारकों, ऋषियों ने अपने समाज में जिन जीवन-मूल्यों को समझा है, परिभाषित किया है उन्हीं के प्रकाश में धर्म का राज्य पर नियंत्रण होना चाहिए ।

हिन्दू राष्ट्र में पंथ-निरपेक्षता अन्य पंथों के प्रति सहिष्णु भावना के अर्थ में ही तो समाज के लिए मान्य है । सभी पंथों के प्रति समत्व भाव से श्रद्धा

एक असंभव आदर्श है । हां, राज्य के लिए सभी पंथ समान हैं । इस अर्थ में पंथ-निरपेक्षता हिन्दू राष्ट्रवाद में मान्य है । इसीलिए हिन्दूराष्ट्रवादी भारत के समस्त नागरिकों के लिए समान कानून की मांग करते हैं ।

अब तक हमने संक्षेम में भारत में राष्ट्र के स्वरूप को लेकर दो भिन्न मतों की प्रवृत्तियों और मान्यताओं को (जैसा हमने समझा है) प्रस्तुत किया है। राष्ट्र होने के लिए समाज में भावनात्मक एकात्मता की आवश्यकता को दोनों ही स्वीकार करते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवादी एकात्मता का आधार उसी परम्परा को मानते हैं जिसे हिन्दूराष्ट्रवादी भी मानते हैं । दोनों के अनुसार भारत की प्राचीन परम्परा समन्वयवादी और सर्वग्राही है । दोनों ही राज्य का पंथ निरपेक्ष होना आवश्यक समझते हैं । अन्तर दोनों में यह है कि जहाँ सेक्यूलर राष्ट्रवादी वर्तमान भारतीय समाज को भावनात्मक एकात्मता से आबद्ध मानते हैं वहीं हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दू और इस्लाम संस्कृति को दो पृथक् संस्कृतियाँ मानते हैं और इनके अभिव्यक्ति क्षेत्र रूपी समाज को भी पृथक् मानते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवादी भारतीय समाज को भाषा, जाति, पंथ और संस्कृति की अनेकता के द्वारा विभाजित पृथक् तथा स्वतंत्र समुदायों का मिश्रण मानने हैं, तो हिन्दू राष्ट्रवादी इन्हें पृथक् व स्वतंत्र इकाई न मानकर समाज के एकात्म अवयव के रूप में स्वीकार करते हैं । लेकिन मुस्लिम समुदाय को अवयव के रूप में ढ़ालने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं । हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दू समाज की विशेषताओं को राष्ट्र की प्राचीन, प्रमुख और मूल धारा मानकर समस्त आगन्तुक धाराओं को इस मुख्य धारा में समाहित करना चाहते हैं, जबकि सेक्यूलर राष्ट्रवादी हिन्दू समाज को भाषा, जाति, पंथ और संस्कृति-भिन्नता को संरक्षण देते हुए उन्हें पृथक् रख कर राज्य के द्वारा एकात्मता स्थापन करना उचित समझते हैं ।

स्वतंत्र भारत में अब तक राज्य के द्वारा सेक्यूलर राष्ट्रवाद को मार्गदर्शक मानकर कार्य किया जाता रहा है । साथ ही तब से ही हिन्दूराष्ट्रवादी विचार भी प्रचार में हैं । विगत कुछ वर्षों से जहाँ एक ओर सेक्यूलर राष्ट्रवाद के प्रभाव में कमी आती दिखाई दे रही है, वहीं हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रति रुझान में निरन्तर वृद्धि भी परिलक्षित हो रही है । अन्तर्राष्ट्रीय घटना क्रम में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे हैं । जहाँ एक महाशक्ति कहलाने वाला समाजवादी राष्ट्र बिखर गया और अमेरिका एकमात्र महाशक्ति रह गया, वहीं इस्लामी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियाँ भी राज्यों को संगठित कर रही हैं । ऐसे में, भारत की स्थिति बड़ी विचित्र हो गयी । हमने समाजवाद को राष्ट्र का स्वरूप स्वीकार किया और परिणाम स्वरूप सोवियत संघ की ओर अधिक सहृदयता दिखाई । अब वह वाद ध्वस्त हो रहा है । फलस्वरूप अमेरिका और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का दबाव भारत पर बढ़ेगा ही । साथ ही

इस्लामी राष्ट्रों की मान्यताओं का दवाव भी भारत पर दिखाई से रहा है । कुवैत प्रकरण में भारत की भूमिका, आतंकवादियों की सरकार (अफगान) को मान्यता देने में आतुरता, रुश्दी की पुस्तक पर भारत में प्रतिबन्ध लगाने में अति उत्साह, अयोध्या में रामजन्मस्थान पर मस्जिद बनाने की त्वरित घोषणा– ये सब इस्लामी दबाव के परिणाम ही प्रतीत होते हैं । इन दबावों से मुक्त होने के लिए उन मूल्यों को स्पष्ट परिभाषित करना होगा, स्वीकार करना होगा जो हमें अपनी स्वतंत्र अस्मिता का बोध करा सकें । अन्यथा हमारी गृहनीतियाँ भी बाह्य दबावों से संचलित होती रहेंगी । भारत किस प्रकार का राष्ट्र है, यह स्पष्ट होने पर ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में हमारी भूमिका की सार्थकता होगी । इसलिए अपने राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करना आज की ज्वलंत आवश्यकता है । हमारा अपना स्वरूप स्पष्ट होगा तो दूसरों से अपने सम्बन्धों का स्वरूप भी स्पष्ट होगा, अन्यथा नहीं ।

राष्ट्र की अवधारणा में निहित अतीतमूलक, भविष्योन्मुख भावनात्मक एकता की दृष्टि से सेक्यूलर राष्ट्रवादी ऐसा सर्वनिष्ठ तत्त्व ढूंढने में सर्वथा असफल प्रतीत होते हैं, जो वर्तमान भारतीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर सके। दूसरी ओर हिन्दूराष्ट्रवादियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे राजनीति में मज़हब या रिलीजन का उपयोग करते हैं । लेकिन जैसा कि श्री के. जे. शाह कहते हैं कि यह संभव है रिलीजन (बिना साम्प्रदायिक संकीर्णता को अपनाये हुए) की हम एक भिन्न जीवन-(मीमांसा) दे सकें । ऐसी स्थिति में मज़हब का राजनीति के द्वारा या राजनीति का मज़हब के द्वारा उपयोग व्यक्ति और समाज के लिए किया जा सकता है ।[३०] इस विकल्प पर भी विचारमन्थन होना चाहिए । सौभाग्य से अयोध्या-विवाद ने राष्ट्र के स्वरूप संबंधी विचार-मन्थन को गति दी है । इस अवसर का विचारकों को, प्रबुद्ध वर्ग को अवश्य उपयोग करना चाहिए । यह भारत के हित में है ।

हमारे विचार से सेक्यूलर राष्ट्रवाद 'राष्ट्रवाद' नहीं, राज्यवाद है । इसे स्वीकार करने पर राज्य-संकुचन और विखण्डन तथा राज्य के समाज पर नियंत्रण की प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी, जिसका परिणाम देश-विखण्डन या संकुचन के रूप में होगा । वह शक्ति जो भारतीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर सकती है, हिन्दू समाज में, उसके संस्कारों में, उसके प्राचीन ऋषियों के दर्शन में ही निहित है । राज्य टूटते बनते रहे, विदेशी आक्रमणकारी देश को गुलाम बनाते रहे, लेकिन हिन्दू समाज अपनी पृथक् पहचान बनाए हुए है । ऐसा किन विचारों या तत्त्वों से संभव हो सका, उन्हें ढूंढ कर पुनर्प्रतिष्ठित करना होगा । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुं ओर पुनर्जीवन

के लक्षण दिखाई दे रहे हैं । भविष्य को इसी अतीत के सांचे में ढ़ालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा''। भारतीय समाज में एकात्मता का आधार उसकी आध्यात्मिकता और संस्कृत भाषा ही रही है । साथ ही वर्ण और आश्रम धर्म तथा पुरुषार्थ चतुष्टय समाज को एकात्म स्वरूप प्रदान करती रही हैं। इन्हें कमजोर करने के प्रयासों के कारण समाज सन्तुलन बिगड़ा है । इन अवधारणाओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने और आचरण का आधार बनाने पर ही राष्ट्र के रूप में भारत को अखण्ड रखा जा सकता है । यह सब हिन्दूराष्ट्र की रूपरेखा के अंग है । यदि संभव हुआ तो इन पर एक स्वतंत्र लेख हिन्दूराष्ट्र की रूप रेखा में विचार करेंगे, और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि भारत की समस्त समस्याओं का समाधान हिन्दू जीवन दृष्टि से ही संभव है ।

भारत में वर्तमान असंतोष, संघर्ष और आक्रोश की अवस्था के मूल में स्वतंत्र वैचारिकता का अभाव ही प्रतीत होता है । भारतीय समाज के सभी समुदाय जब तक मुक्त भाव से विचार मन्थन नहीं करेंगे, समस्या परिस्थितयों को केवल बिगाड़ती चली जाएगी । विचार-प्रचार का कार्य राज्य या राज्यनेताओं पर छोड़ देना उचित नहीं है । विचारशील लोग समाज को इनके भरोसे नहीं छोड सकते। एक पक्ष जब विचार-प्रक्रिया को अनदेखा करके शक्ति द्वारा दमन करने का प्रयास करे तो दूसरे पक्ष के पास भी यही विकल्प रह जाता है । इस संघर्ष के निमित्त बने अयोध्या-विवाद की दुर्घटना-रूप परिणति इसीका परिणाम है । राज्य का सारा प्रचारतंत्र केवल हिन्दुओं की निन्दा करने में, उन्हें उपदेश देने में ही लगा रहा। आज हमारे पास रेडिओ, दूरदर्शन जैसे माध्यम हैं । हिन्दू प्रतिनिधियों को अपना पक्ष रखने का पूरा अवसर दिया जाता, और उनकी बात को समझने का प्रयास किया जाता तो संभव था कि दुर्घटना न घटती । अयोध्या-विवाद हिन्दू-मुस्लिम समुदायों का धार्मिक विवाद नहीं था । यह विश्व में बढ़ते इस्लामी आतंकवाद, कट्टरतावाद और सेक्यूलर लोगों के द्वारा हिन्दुओं की भावनाओं के तिरस्कार के कारण सामुदायिक असुरक्षा की भावना के परिणाम स्वरूप विचार-प्रक्रिया निष्पक्ष भाव से तेज की गई होती तो परिणाम अन्ततः सुखद होता । अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । प्रबुद्ध वर्ग निष्क्रियता को त्याग कर विचार और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के संवैधानिक अधिकार का प्रयोग करें । कुछ समय के लिए शास्त्रीय चिन्तन और लेखन के घेरे से बाहर आकर सीधे वर्तमान से जुड़ें ।

बी. कामेश्वर राव

स्वामी विवेकानन्द स्मृति
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर–४९२००० (म. प्र.)

## संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. *परामर्श (हिन्दी)*, खण्ड १४, अंक ४, सितम्बर १९९३ "साम्प्रदायिकता : एक विश्लेषण"

२. *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*, पृष्ठ ४.

३. यहाँ ये लक्षण ए. आर. देसाई कृत उपर्युक्त ग्रन्थ में उद्धृत के आधार पर हैं।

४. *पाश्चात्य राजनैतिक विचारधारा*, भाग २, के. एन. वर्मा, पृष्ठ ७४५.

५. Documents on Political Thought in Modern India, A. Appadorai, p.488

६. *वहीं*, पृष्ठ ४९२-९३.

८. द्रष्टव्य ए. आर. देसाई कृत *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*, पृष्ठ २३९-४०.

९. *समाज : दार्शनिक परिशीलन*, पृष्ठ ३८.

१०. द्रष्टव्य : "राष्ट्रीयता की परिभाषा चाहे जैसी की जाय, किन्तु राष्ट्रीयता का मूल तत्त्व है राष्ट्रीय चरित्र की उन निश्चित विशेषताओं का होना जो किसी विशेष राष्ट्र के लोगों में सर्वसामान्य रूप से पाई जाती है और जिसके आधार पर उस राष्ट्र के सदस्य अन्य सदस्यों से अलग पहचाने जाते हैं।"–*राष्ट्रों के बीच राजनीति*, हंस जे. मार्गनथाउ पृ.१९३

११. *Documents on Political Thought in Modern India.* p. 527.

१२. *Anatomy of Confrontation*, Ed. S. Gopal, p. 19.

१३. *Discovery of India*, p. 232.

१४. *वहीं*, पृष्ठ २५४.

१६. *वहीं*, पृष्ठ २६९.

१७. *भारतीय संविधान*, अनुच्छेद ५१क का ड., और च.

१८. *विचार नवनीत*, मा. स. गोलवलकर पृष्ठ १३१-३२.

१९. *इतिहास की पुनर्व्याख्या*, राजकमल पब्लिकेशन १९९१, पृष्ठ १३५.

२०. *वहीं*, पृष्ठ १३३.

२१. मुस्लिम समुदाय के भारत में एकात्म होने के एक रूप के बारे में इशरत हसन अनूवर का सुझाव विचारणीय है– मुस्लिम धार्मिक नेताओं को चाहिए वे "-declare by general consensess that Rama, Krishna, Buddha and Mahavira have been the prophets and Divine messengers commissioned to help and guide spiritually the people of this sub-continent India to discover the same truth, that truth is one and universal which was later on revealed to Mohammad, Guru Nanak and Mahatma Gandhi in our times."

२२. *इतिहास की पुनर्व्याख्या*, पृष्ठ १३५.

२३. *Documents on Political Thought*, p. 491.

२४. *इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त*, सम्पा. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ २०८.

२५. पाञ्चजन्य साप्ताहिक १८-८-९१, पृष्ठ १२ पर उद्धृत विलियम कैप के विचार.

२६. वहीं, पृष्ठ १३.

२७. *विचार नवनीत*, पृष्ठ १३१.

२८. गोलवलकर, *राष्ट्रीय एकात्मता : एक विश्लेषण*, पृष्ठ २३.

२९. *एकात्म मानववाद*, दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ ६०.

३०. *National Integration and Communal Harmony*, p. 135.

परामर्श (हिन्दी)
आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३९. डॉ. (श्रीमती) कमला द्विवेदी
५, प्रधान मार्ग,
महावीर नगर,
जयपुर–३०२०१७
(राजस्थान)

# साध साषीभूत कौ अंग

साधु का महत्त्व कबीर-काव्य में बहुल है। साधु वह है जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो। साषीभूत का तात्पर्य है जिसने अन्तर्ज्ञानमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान (आनंदरूप ब्रह्म) प्राप्त कर लिया हो अथवा जो साक्षी (साक्षिन्) हो उस मूल आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम का। सच्चे संत के लक्षण बता रहे हैं कबीर। "जो ब्रह्म को सत् *समझेगा उसे लोग सत् (संत) समझेंगे।" तैत्तिरीय उपनिषद्*

कबीर निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥ ४९४

भावार्थ : कबीर कहते हैं हरिदास का अंग है निरबैरता (किसी से वैरभाव नहीं) निष्कामता (इच्छा-आशा-स्वार्थभाव का अभाव) और विषयों से उदासीनता। प्रीति केवल उस खालिक से। "विषया सूं न्यारा रहै" अर्थात् विषयासक्त अथवा विषयनिरत न हो– विषय-सुख की ओर जिसका मन है उसका मन भगवान् की ओर नहीं लग सकता है क्योंकि इन्द्रियसुख और आत्मसुख में विरोध है।

कबीर भक्त के स्वभाव और उसके व्यावहारिक जीवन को महत्त्व देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, कबीर का कथन है कि केवल लक्ष्य की ओर देखो उसी से प्यार करो, उसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक सुख की चिन्ता न करो। ऐसा जीवन होने पर स्वार्थवृत्ति नहीं विकसित होगी। फलस्वरूप कोई कामना नहीं रहेगी और जब स्वार्थ का भाव नहीं तब किसी से ईर्ष्या-द्वेष-घृणा नहीं :– समानता का भाव। विषय-भोग से उलटी गति से ही महान् उपलब्धि संभव है।

कबीर की भाषा, शब्दों का चुनाव एवं उनका सम्यक् प्रयोग उपनिषद् की भांति प्रभविष्णु हैं– गागर में सागर भर दिया है। *कठउपनिषद्*– "अज्ञानी जीव बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं– वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु-पाश में फंसते हैं *किन्तु धीर पुरुष* अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते।"

विवृति : *सेती* (साखी १८८, ४३७) । *नेह* < *स्नेह* । *न्यारा*, म. *न्यारा*, गु. *न्यारूं*, पं. *नेआरा*, ओड़ि. *निआरा* (=अलग). *निनार* (पद. ३१३) < अन्य आकार । *रहै* (३०५) । *संत* < सन्त् *(अस्)* = सन्त्–ऋग्वेद में प्रयुक्त है । सत् (सद्भाव, सन्मति) सन्त् ।

> कबीर संत न छोड़ें संतई, जे कोटिक मिलै असंत ।
> चंदन भवंगा बेढ़िया, तऊ सीतलता न तजंत । १२१, ४९५

भावार्थ : कबीर साधु-संत की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि जो सत्य को पकड़े हुए है वह परिवेश के प्रतिकूल होने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता । दुष्टों के दुर्व्यवहार को वह अनदेखा करता है क्योंकि वह जानता है कि ये अज्ञानी और मूढ हैं, इनका मन विकारों से भरा है । उदाहरण देकर कबीर स्पष्ट करते हैं चंदन अपना शीतल स्वभाव नहीं छोड़ता भले ही सर्प लिपटे हों चंदन वृक्ष से (चंदन में सर्प लिपटना कवि परम्परा अथवा रूढ़ि है, यह तथ्य नहीं है) ।

संत और सत्य समानार्थी कहे जा सकते हैं—दोनों ही अस् (=है) से विकसित हैं । सत्य (परमसत्य) वही है जो सदा एक रस रहे—विकार की संभावना ही जहाँ न हो । जो संत है वह असंत (असत्य=विकार युक्त) के प्रभाव से दूषित नहीं हो सकता है । शीतलता चंदन और संत दोनों का धर्म है :–

> तुलसी ऐसे सीतल संता । सदा रहैं एहि भांति एकंता ।
> कहा करें खल लोग भुजंगा । कीन्हौं गरलसील जो अंगा ॥ वै.४७
> जो कोइ कोप भरै मुख बेना । सन्मुख हतै गिराशर पैना ।
> तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं । सो सीतल कहिए जग मांही ॥ वै.४९

विवृति : संत (४८६), छाड़ै (छाड़सी ४७१) । चंदन= संत, भुजंग= दुष्ट । बेढ़िया (बेढ़्या ४८७), भवंगा (भवंग ४६४), तऊन (४७२) तजंत < त्यजति, त्यज्= छोड़ना । मिले (४८६) ।

मनावैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव अथवा आदत की जीवन–व्यवहार में बहुत बड़ी भूमिका है । अभ्यास से मनुष्य वाणी को नियंत्रित कर क्रोध से बच सकता है। तन-मन-वचन से किसी को उद्वेग न हो और किसी के कारण उद्विग्न न हो यही संतई है ।

> **कबीर हरि का भांवता दूरै थैं दीसंत ।**
> **तन लीना मन उनमना, जगि रूठड़ा फिरंत ॥३॥ ४९६**

कबीर हरि का भांवता झीणां पंजर तांस ।
रैणि न आवै नींदड़ी अंगि न चढ़ई मांस ।।४।। ४९७

भावार्थ : कबीर साधु-संत की पहचान बता रहे हैं— जो हरि को चाहता अथवा उससे प्रेम करता है वह प्रिय के विरह में, तन से क्षीण—केवल ठठरी-ठठरी-मांस तो चढ़ता ही नहीं उसके शरीर पर, क्योंकि संसार के भोग के प्रति वह उदासीन रहता है । मन संसार के विषयों में नहीं रमता है इसीलिए वह उनमना रहता है । हरिदास को रात दिन स्वामी का, इष्ट का—सुमिरन बना रहता है। उसे रात में भीद नीं नहीं, विश्राम नहीं, विरही क्या जाने नींद, लक्ष्य-प्राप्ति की सतत चिंता ।

विवृति : भांवता (भावई ३९६) भावै २१, भावता ६४९ < भावयति पा.[३] भावति प्रा.[४] भावइ । दीसंत (दीसै ३७३, ४७८) फिरंत (फिरै ३५१, ३६७, ४४०, ४८५) प्रा. फिरइ । बीन < क्षीण । झीण < प्रा. झीण । उनमना < उन्मनस्—नस्क=बेचैन।

कबीर अरणता सुखि सोंवणा, रत्तै नींद न आइ ।
ज्यूं जलि टूटै मंछली, यूं बेलंत बिहाइ ।।५।। ४९८

भावार्थ : कबीर राम अथवा हरिनाम में रत (लयलीन) की विरहानुभूति की बात करते हैं—उसे नींद नहीं । उसकी रात्रि तड़फड़ाते-जगते बीतती है— "रैनि बिहाइ"। ' वह प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है, जैसे जल से विलग मछली बेचैन होती है जल में पहुँचने के लिए । जिसे उस परमसत्य के प्रति प्रीति नहीं उसे सुख की नींद आती है— उसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं, इसलिए उसको प्राप्ति की चिन्ता भी नहीं । हरिदास को हरि और हरिनाम सुमिरन की चिन्ता "च्यंता तौ हरि नाउं की, और न चिंता दास ।"(४१)

विवृति : *अरणता* —*अण* प्रा. (=न) + रत । टूटै, टूटना < त्रुदयति=अलग हो जाती है । यूं (४७१) वेलंत—बेल्लु, वेल्लयति= लोटना, वेल्लन । *बिहाइ* < हा = त्यागना, छोड़ना, *विहापयति* = बीतता है "जागत रैनि बिहाइ" ७२१

कबीर जिनि कुछ जांण्या नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ ।
मैं अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ।।६।। ४९९

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक प्रिय को जाना नहीं, जब तक उससे प्रीति नहीं, तभी तक चैन है, तभी तक सुख की नींद अर्थात् अज्ञानी सुखी है । जिसे आत्म-बोध अथवा उसका परिचय मिल गया उसे कहाँ चैन । कबीर अपने लिए

कहते हैं मैं अबूझी थी अर्थात् प्रिय से परिचय नहीं था तब तक चिंता मुक्त थी पर जबसे उसे बूझा-जाना अथवा उसकी ज्योति को देखा तब से बला मोल ले ली है अर्थात् किसी क्षण भी चैन नहीं । तुल.' ५०१, ५०२

सुखिया सब संसार है खाइ अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ।। ११२

विवृति : अबूझी = जिसने बूझा-जाना न हो, अबुद्ध । बूझिया = जाना (४५२, ४८९) बलाइ (२७०) । जाण्या नहीं अर्थात् उस एक को नहीं पहचाना । पड़ी (३६१, ४६०) *पूरी* < पूरित, पूर । तुल.

जो वै एकै जांणिया, तौ जाण्या सब जाण ।
जो वो एक न जांणिया, तो सब ही जांण अजांण ।। २००
जब लग जीव परचा नहीं कन्या कुंवारी जाणि ।
हथलेवा हौंसे लीया, मुसकल पड़ी पिछांणि ।। ४६०

**कबीर जांण भगत का नित मरण, अणजाणैं का राज ।**
**असर पसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ।।७।। ५००**

**भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी भक्त की नित्य–सतत मृत्यु है, क्योंकि वह उस एक प्रिय को पाने के लिए पागल है । जो अज्ञानी है जिसको उसकी प्राप्ति की चिंता नहीं है वह मौज में है । वह राजा की तरह भोग भोगता है । उसे तो इन्द्रियों की तृप्ति में ही संतोष है— खाना-पीना मौज करना चार्वाकों-शाक्तों की तरह । वे इस संसार की असारता नहीं समझ पाते हैं, उन्हें यह भी नहीं बोध है कि इस असार संसार में इन्द्रियों का प्रसार—उनकी भोग वृत्ति–उन्हें ले डूबेगा । "पसार" दुनिया का कामकाज भी यही है—**

**"ई संसार असार को धंधा अंतकाल कोई नाहीं हो ।" "असार को धंधा अर्थात् असार का प्रसर (प्रसार)— यही "असार पसर" है । पसर < सृ, प्रसर (२७४) तुल. :—**

**कबीर चिंता चिति निवारिये, फिर बूझिये न कोइ ।**
**इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोइ ।। २७४**

**विवृति : *समझै नहीं* = जानता नहीं । "आपण समझै नाहि" (३६०) पेट भरन सूं काल (मुहा.) अर्थात् भोगी का आदर्श पेट भरने तक । *जांण भगत* = ज्ञानी**

और भक्त जिसे संसार की असत्यता और उस ब्रह्म की सत्यता का बोध है, साथ ही जो उसकी भक्ति में लयलीन है । ज्ञान-भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं—

रैनि को भूषन इंदु है, दिवस का भूषन भानु ।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति का भूषन ज्ञान । ४३ वैरा.
ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग ।
त्याग को भूषन शांतिपद, तुलसी अमल अदाग ॥ ४४ वैरा.

कबीर पेट भरना, पैसा कमाना जीवन का लक्ष्य नहीं मानते—यह जगत् का धंधा है, माया है जिससे लोभ-मोह-ईर्ष्या को आश्रय मिलता है । जीवन, रहस्य की खोज के लिए है ।

*आइंस्टाइन* ने कहा है—"रहस्यमयता हमारी सब से सुखद अनुभूति है—सारी सच्ची कला और विज्ञान का स्रोत भी यही है ।"

आज की भोगवादी संस्कृति स्वकेन्द्रित है—अर्थ और पेट भरना । इसी के पीछे मनुष्य भाग रहा है । कबीर सावधान करते हैं इस अज्ञानता के विरुद्ध। जीवन की भूख रोटीमात्र से नहीं मिटती । इसके लिए नैतिक मूल्यों पर आधारित जीवन चाहिए । कबीर ने अनुभव किया कि हिन्दू अकर्मण्य-आलसी-कर्तव्यच्युत है । उनकी भोगपरक दृष्टि मंदिर के भोग-प्रसाद तक है । मुसलमान भोग के लिए हिन्दू कन्याओं पर अधिकार करता है, लूटता है, मंदिर का सोना ले जाता है। कबीर मूल की खोज के लिए प्रेरित करते हैं—"आनन्दमूल सदा परसोतम" (३१ सोरठि) "उस आनन्द सू चित लाऊंगा । तो मैं बहुरि न भी जलि आऊंगा ।" ३१ गौडी

**कबीर जिहि चटि जांण बिनांण है, तिहि घटि आंवटणां घणा ।**
**बिन खंडै संग्राम है, नित उठि मन सूं जूझणा ॥८॥ ५०१**

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी-विज्ञानी (अध्यात्ममार्ग का पथिक) को चिंता-पीड़ा है, उसके भीतर काम-क्रोध विकारों से जूझने का द्वन्द्व हर समय छिड़ा रहता है—निरंतर वह इन विकरों से मुक्ति के लिए संघर्षरत रहता है, क्योंकि सतत अभ्यास-वैराग्य से ही इनसे छुटकारा संभव है । मन चंचल है । इसको वश में रखना अत्यंत दुष्कर है । सामान्य सूर तलवार से युद्ध करता है, पर भक्त-दास के पास कोई अस्त्र शस्त्र नहीं । केवल मनोबल दृढ निश्चय, सतत संग्राम ही उसके उपकरण हैं । कबीर *"सूरातन कौ अंग"* में कहते हैं—

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ॥ ६५९

तथा,

कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यान खडग गहि काल सिरि भली मचाई मार ॥ ६७९

विवृति : *घटि* = घट (सं.) = शरीर । *बिनांण* < विज्ञान । *आवटणा* < आवर्तन (वृत्) = चक्कर, भंवर, घूर्णन । "आवर्तः संशयानाम्" पंच.[6] १.१९१ *खंडै* < खड्ग । सूं (४७४) मन सूं जूझणां = मन के विकारों से लड़ना "कबीर सोई सूरिवां, मन सो मांड़ै झूझ ।" ६५५ तथा "कबीरा मरि मैदान में, करि इन्द्रियां सूं झूझ ।" ६५४ जूझ, झूझ < युद्ध युध्, युध्यते = जूझता है ।।

कबीर का *शब्द सामर्थ्य और उनकी शैली* की प्रभविष्णुता अद्भुत है ।

कबीर राम बिवोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन-दिन पीला होई ॥९॥ ५०२
कबीर पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै प्यंड रोग ।
छांनै लंघण नित करै, राम पियारे जोग ॥१०॥ ५०३

भावार्थ : कबीर साषीभूत में उस भक्त के बाह्य लक्षण बता रहे हैं जो राम प्यारे के विरह का अनुभव करता है और उस विरहज्वाला में जलता रहता है, जिसे न शरीर की सुधि है और न भूख प्यास की । इस लंघन-उपवास से उसकी देह रक्ताभाव का शिकार हो जाती है जिससे वह पाण्डु रोगी (पीलिया) अथवा पान सदृश पीला दिखता है । कबीर का बल उस प्रियतम के योग-संयोग पर है । तु. साखी ६३–

गुण गाये गुण ना कटै, रटै न राम वियोग ।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग ॥ ६३

विवृति : न *चीन्है कोइ* = लंघन करते करते उसका शरीर इतना कृश-पीत हो जाता है कि वह नितांत भिन्न लगता है । तंबूली < ताम्बूलिक पान < अप.[7] पन्न सं. पर्ण । *दिन दिन* = अनुदिन, दिन-ब-दिन । *पीलक दौड़ी* = पीलापन छा गया । *प्यंड* < पाण्डु । *छांनै,* छांन < छन्न (छद् =ढ़कना)= छिपे-छिपे अथवा ओट में । *लंघण* < लङ् घण = उपवास, लङ्घ = लांघना । *जोग* = योग; राम पियारे–कबीर राम को पतिरूप में मानते हैं ।

काम मिलावै राम कूं, जे कोइ जाणैं राषि ।
कबीर बिचारा क्या करै जे सुखदेव बोलै साषि ॥ ॥ ॥ ५०४

भावार्थ : कबीर काम के विरोध में नहीं है—काम = प्रेम । बुरी है काम के प्रति आसक्ति अथवा सांसारिक मोह । ईश्वरीय प्रेम (काम) गोपियों का अनुकरणीय है जिन्होंने घर छोड़कर कृष्ण के साथ ऐक्य स्थापित किया—शुकदेव इसके प्रमाण हैं । (शुकदेव, व्यास के पुत्र, जिन्होंने *श्री मद्भागवत पुराण* राजा परीक्षित को सुनाया ।) कबीर तो एक अदना-नगण्य (फा. बेचारा) व्यक्ति है, उसके कहने का क्या महत्त्व । कबीर का कथ्य है कि वे गोपियों की तरह प्रिय के विरह में व्याकुल हैं, उनका उस प्रेम पर कोई वश नहीं—वे तो बिक चुके हैं उस पति के हाथों, उन्हें पातिव्रत धर्म निबाहना है । काम के प्रेरक भाव को जानना अपेक्षित है प्रेम के स्वरूप को जानने के लिए । बोलै साषि = साक्षी रूप में बोलने वाला, प्रमाण । शुक ''साक्षीभूत'' हैं प्रेमी भक्त के रूप में । शुकदेव ने अप्सरा रम्भा के काममार्ग पर प्रेरित करने के प्रयत्न का सफलतापूर्वक मुकाबला किया । गौड़ी ३३ में भी सुखदेव की चर्चा है ।

''*जे कोइ जाणैं राखि*'' = जो कोई काम भाव पर शासन करना अथवा उस पर चौकसी रखना जानता है शुक की भाँति ।

कबीर कामणि अंग बिरकत भया, रत्तभया हरि नांइ ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ॥१२॥ ५०५

भावार्थ : कबीर पूर्व वाली साखी में जिस काम के उदात्तीकरण की महिमा गा रहे हैं वह हरि और उसके नाम के प्रति है । हरिभक्ति माया के विरोध में है। गोरखनाथ लंगोट के पक्के थे, वे योगी थे, ईश्वरानुरागी थे, उनके उपदेश भक्तिपरक हैं । कबीर गोरख को आदर्श रूप में मानते हैं—ईश्वरीय प्रेम के कारण । वे प्रमाण अथवा साक्षी हैं आत्मज्ञान के । अमर भये कलिमांहि = कलि में चारों ओर हिंसा, ईर्ष्या का बोलबाला है । इससे उद्धार के लिए हरि अथवा हरिनाम की शरण । कबीर का कथ्य है मन को रमावैं हरि में, उसमें रत हो, सांसारिक वस्तुओं में नहीं । *गोरख* कहते हैं :

अजपा जपै सुनि मन धरै पांचों इन्द्रिय निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होम काया तास महादेव बन्दै पाया ॥
धन जीबन की करै न आस चित न राखै कामिनि पास ।
नाद बिंद जाकै घटि जरै ताकी सेवा पार्वती करै ॥

(द्रष्टव्य : लेखक की कृति वैष्णव कबीर (पुरस्कृत) में "योगी गोरखनाथ और कबीर" प्रका. भाषा साहित्य संस्थान, १४७, त्रिवेणी रोड़, इलाहाबाद १९८६)

कबीर जदि बिषै पियारी प्रीति सूं तब अंतरि हरि नांहि ।
जब अंतर हरि जी बसै, तब बिषिया सूं चित नाहिं ॥१३॥ ५०६

भावार्थ : कबीर राम और विषय का पारस्परिक विरोध स्पष्ट करते हुए कहते हैं—एक श्रेयस् का मार्ग है, दूसरा प्रेय का, वैभव का, भोग का (*कठ उपनिषद्*) मनुष्य को इन दोनों में चुनाव करना है । जो विषयी है उसकी प्रीति राम से नहीं संभव है—वह परमार्थी नहीं बन सकता । परमतत्त्व को प्राप्त करने का इच्छुक (सत्यान्वेषी) लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है, त्रिगुणात्मक जगत् की ओर नहीं।

सांसारिक वस्तुएँ नश्वर हैं । वह इन्द्रियों को भोग की ओर खींचती हैं। इन्द्रियों का निग्रह अपेक्षित है हरि की प्रीति के लिए । *प्रीति* का प्रयोग कबीर उस परमेश्वर की प्राप्ति के लिए करते हैं (साखी ५०८) चित्त तो एक ही है (ऊधो ! मन न होहिं दस बीस—सूर) चाहे उसे विषयों में लगाये, चाहे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति में । जिसे सफल होना है वह विषयों में रमेगा नहीं— रत नहीं होगा, वह राम में रत-लयलीन होगा । परमार्थी अंतरमुखी होता । वह कृतात्मन् होता है—आत्माराम होता है । कबीर कहते हैं "जा दिन कृतमना हुता... हुता कबीरा राम जन" (सा. १५०) कृतात्मन् अर्थात् स्थिर चित्त अथवा पवित्र आत्मा वाला।

कबीर का बल है कि विषयों से आत्मशुद्धि संभव नहीं—आत्मिक शुद्धि, शांति के लिए साधुवृत्ति का होना आवश्वक है । जब भीतर निर्मल होता है, तब आत्मा की ज्योति प्रकट होती है ।

*ब्रह्मबिंदूपनिषद्*—"बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।" (विषयासक्त मन बंधन का तथा निर्विषय मन मुक्ति का कारण है ।)

*कठ उपनिषद्*—'परांचः कामान् अनुयन्ति बालाः ।" (अज्ञानी बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं) इसके विपरीत "अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" = धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते ।

कबीर जिहि घट मैं संसा बसै, तिहि घट राम न जोइ ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ ॥१४॥ ५०७

भावार्थ : कबीर संसारी-विषयी को, जिसे राम पर आस्था नहीं है उसे, संशयी कहते हैं—जहाँ द्विधा (दुविधा) है वहाँ तत्त्व-बोध, आत्म-बोध कहाँ ?

अत: संसा (संशय) को निर्मूल करना अपेक्षित है । मोह का कारण संदेह है। जो "राम पियारे" है, पूरी श्रद्धा भक्ति से आत्मा में विश्वास करता है । वह उसके नश्वर रूप में दृढतापूर्वक आस्था नहीं रखता है । संशय ही भेद ड़ालता है जीव और ब्रह्म में—ज्ञानी भक्त और ईश्वर में अभेद का सम्बन्ध है । सनेही राम और सनेही दास के बीच तृण का संचार संभव नहीं है । अर्थात्, भक्त और भगवान् में अद्वैत भाव होता है । तृण भेद का प्रतीक है । सनेही राम =सनेही हरि (सा. ७४९) सनेही दास (सा. २१०)

विवृति : जोइ < ज्योतयति (तिहि घट राम न जोइ = उस शरीर के अन्दर ब्रह्मज्ञान का प्रकाश नहीं संभव है जहाँ संशय है । जोइ (७, बिलावल ।) ज्युत् प्रकाशित होना (तु. द्युत्) । जोइया (११३) प्रकाशित किया । संचर = सम्+चर, चरति, संचरति = पहुंचता है, निकट आता है । संचारयति = चलाना, हिलाना ।
तुलनीय,

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त ।
संसा खूंटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ १३५
कबीर अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल ।
और गुनह हरि बकसई, कामी डाल न मूल ॥ ३९४

कबीर संशय-ग्रन्थि को दूर करने पर बल देते हैं— "पढ़ै वेद औ करे वड़ाई, संसै गांठि न जाई । "कठ उपनिषद् में कहा गया है "जब हृदय की सब ग्रंथियों का छेदन हो जाता है तब मुनष्य अमृत हो जाता है : "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रंथय: । अथ मृत्योऽमृतो भवति एतावद्धि अनुशासनम् ।"

"करत विचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया ।
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया ।।" २३ गौड़ी

**कबीर स्वारथ को सब को सगा, जग सगला ही जांणि ।**
**बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ।।१५।। ५०८**

भावार्थ : हरिभक्त का लक्षण है जो स्वार्थरहित हो—"बिन स्वारथ" । भक्ति का मूल आधार शुद्ध चरित्र है—चरित्र ही निकष है । संसारी विषयी की प्रवृत्ति स्वार्थपरक होती है, वह "स्वारथि बंधी" है । विरक्त की प्रवृत्ति परसेवा की ओर होती है—वह हरि की प्रीति जानता है । दुश्चरित्र वाला आत्मखोजी हो ही नहीं सकता । कबीर संन्यास लेकर हरि प्रीति की बात नहीं करते हैं, उनकी दृष्टि में संसार कसौटी है— यहीं आदमी के अच्छे-बुरे की पहचान होती है । लोग स्वार्थी है इसलिए लोग की राह छोड़कर चले । कवीर किताब वहा देने

की बात करते हैं क्योंकिय शास्त्र-ज्ञान तर्क में निपुण बनाता है—आत्मज्ञान के लिए शुद्ध चरित्र अपेक्षित है जो सतत अभ्यास-वैराग्य से संभव है। कठ उपनिषद् में कहा गया है—*"जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ, जो अशांतचित्त है वह इस आत्मा को नहीं देख सकता।"* तुल.

कबीर तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथिबंधी लोइ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥ २६५

कबीर सब जम हंडिया, मंदल कंधि चढाइ।
हरि बिन अपना को नहीं सब देखे ठोकि बजाइ ॥ ५९४

विवृति : *सब* को = सब कोइ, *कोइ* प्रा. कोइ, कश्चिद्, केचिद् (४७०, ४८९, ४८८, ५९४) *सगा* (१)। *सगल*-सगला = सकल। जांणि < ज्ञा, जानाति = जानता है, परिचित है। (४६०) बिन < बिना। *पिछांणि* प्रत्यभिजानाति =पहचानता है (४६०) "पीव पिछांणन कौ अंग"। *पिछांणन* < प्रत्यभिज्ञान। हरि की प्रीति अथवा "हरि के नाउं सूं "प्रीति" (५५७) *प्री* = प्यार करना, प्रीतड़ी (१९३, २२८)—

"कबीर हरि के नाउं सूं, प्रीति रहै इकतार।
तौ मुख तै मोती झड़े, हीरै अंत न पार" ॥ ५५७

कबीर का बल राम प्रीति पर है—सांसारिक जीवन अथवा व्यवहार तभी निर्मल होता है जब भीतर उस साईं की अनुभूति हो—सर्वत्र वह दिखाई दे।

कबीर जिहि हिरद आइया, सो क्यूं छानां होइ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥ ५०९

भावार्थ : आत्मानुभूति अथवा आत्मज्ञान प्रकाश है, वह ज्योतिस्वरूप है। हृदय में यदि वह प्रकाश है तो उसे छिपाया नहीं जा सकता, वह प्रच्छन्न (ढ़ंका) नहीं रह सकता है। कितना भी कोई यत्न करे कि संतई छिपी रहे पर यह संभव नहीं। अर्थात्, संत का शुद्ध आचरण–व्यवहार, उसका पवित्र चरित प्रमाण है उसके दीप्ति युक्त होने अथवा हरिभक्त का। जहां हरि की अनुभूति नहीं है वहां अंधकार है। मनुष्य को अपने घट (शरीर) में उस आत्मा-परमात्मा का अनुभव करना चाहिए। *छांना* (५०३) सोइ (३४०, ४६९, ४७३) *दाबिये* = दबाइए < दब्व् = दवाना, दाबना गु. दाबवुं म. दाबणे।

कछु कछु चेति देखि जीव अबहीं। मनिषा जनम न पावै कबहीं।

सार आहि जे संग पियारा । जब चेतै तब ही उजियारा ।। रमैनी, *बड़ी अष्टपदी*

कबीर फाटै दीदै मैं फिरूं, नजरि न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांनां होइ ।।१७।। ५१०

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं आंख फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखता हूं पर कोई हरि भक्त नहीं दिखाई पड़ता—सब आपा अथवा स्वार्थ में मस्त । कोई परमार्थी-रामपियारा नहीं । यदि हृदय में राम का वास हो तो उसे छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे संत का प्रकाश स्वतः प्रकट हो जाता है । संत कौन—(४९४)।

विवृति : छांना = ढ़का हुआ (५०९) = अंधकार पूर्ण : स्वार्थ पूर्ण, विषयरत। दीदा (फा. दीदा) फाटै दीदै = खुली आंख से । फिरू प्रा. फिरइ । फाटै =फटा, स्फट्, स्फटति, स्फाटयति - फाड़ता है, स्फुट = फटा, स्फुटित = फटा ।

कबीर सब घटि मेरा साइयां, सूनी सेज न कोइ ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि प्रगट होइ ।।१८।। ५११

भावार्थ : कबीर अपने को प्रेयसी मानते हैं परम पति का—कहते हैं वह तो घट-घट (शरीर) में है, सर्वत्र है, किसी की शयूया उस प्रियतम से खाली नहीं है । बात केवल उसकी अनुभूति की है, उसके रंग में रत होने की है । कबीर मानते हैं कि ब्रह्म घट-घट व्याप्त है—सर्वत्र उसी का प्रसार, पर बिना अन्तर्मुख हुए उसका अनुभव नहीं हो सकता । इन्द्रियों को बाह्य सुख की ओर से मोड़कर जब आत्मा की ओर लगावे तब वह ज्योतिर्मय इसी घट में दिखाई पड़ता है। कबीर का स्वामी राम केवल उनका नहीं है—सब का है, वह सब का सनेही है ।

विवृति : सून, सूनी < शून्य = खाली प्रा. *सुण्ण* । सेज < शयूया । "सब घट मेरा साइंयां"—"जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहि राम (५२), ऐसे घटि-घटि राम है, दुनिया देखै नाहि । (:७६१) "राम रतन पाया पाया घट माहिं ।" २६ भैरूं

कबीर ज्यूं नैनौं में पूतली, त्यूं खालिक घट मांहिं ।
मूरिख लोग न जांणहीं, बाहरि ढूंढण जाहिं । ७६९

**कबीर पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ ।**
**चित चकमकक लागै नहीं, ताथै धुंवा है है जाइ ।।१९।। ५१२**

**भावार्थ :** राम ज्योति रूप में घट-घट = प्रत्येक प्राणी में समाया हुआ है। अर्थात्, प्रत्येक मनुष्य में उसका निवास है। पर वह चित्तस्थिरता से ही अनुभव किया जा सकता है अथवा प्रगट हो सकता। मन विषयों से हटकर जब तक सर्वभावेन उस की ओर न लगेगा तब तक आत्मज्योति का साक्षात्कार नहीं होगा।

चित्त चकमक पत्थर की भांति है, सूर्य की किरणें केन्द्रित होने पर ही उसमे से लौ निकलती है अन्यथा धुंआ ही निकलेगा। चित्त चकमक लागै नहीं—अर्थात् चित राम से संलग्न नहीं होता उससे जुड़ता नहीं, उसकी लौ लगे तो आत्मानुभूति हो—"हिरदा भीतरि हरि वसै, तू ताही सौ ल्यौ लाइ।" ४३६ पावक = ज्योति—

"दसवां द्वारा देहुरा, तामै जोति।" ४३५ "नाना बांणी बोलिया जोति धरी करतारि।" ५४४ ज्योति = ब्रह्म ज्योति "अन्तः ज्योति" (५.२४ *गीता*)।

कबीर पाणी केरा पूतला, राख्या पवन संवारि।
नाना बाणी बोलिया, *जोति* धरी करतारि॥ ५४४

**कबीर खालिक जागिया और न जागै कोइ।**
**कै जागै बिषई बिष भर्‌या, कै दास बंदगी होइ॥२०॥ ५१३**

भावार्थ : कबीर का कथ्य है "सिरजनहार" = सृष्टिकर्ता चेतन है, वह सदा जागता रहता है। सचेतन होना ही उपलब्धि है। जागना अर्थात् किसी भी क्षण भय, संशय, द्विविधा का शिकार न होना, विनाशात्मक भावों के चक्कर में न पड़ना। यही "अवेयरनेस" है। राम सनेही–सेवक वही है जो सदा जागरूक रहे, विषयों से मोहग्रस्त न हो। कबीर कहते हैं या तो कामी-विषयी इन्द्रियों की संतुष्टि के लिए जागता है या दास-भक्त। दास एक क्षण भी अपने स्वामी को नहीं भुलाता। *गीता* में कहा गया है जब सब संसार सोता है अर्थात् विषयों में लिप्त रहता है तब संयमी जागता रहता है– 'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।" (*गीता* २.६९)

कबीर के "जागने" का आशय है शुद्ध हृदय होना, काम-क्रोध तस्करों से सचेत होना और रामनाम से लौ लगाना।

विवृति : विषई < विषयिन् = विषयी, भोग विलासी। बिष < बिष = जहर, हलाहल : "कबीर मूल निकंदिया कौण हलाहल खाइ। "४३४" 'अमृत छांड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गंवाया। कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई॥' २९ सोरठि। *खालिक* (सा. ४१७)

"जागहु रे नर सोवहु कहा।" २६ भैरूं

जाग्या रे नर नींद नसाई । चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥
कहै कबीर अब सोवौं नाहिं । रामरतन पाया घट माहिं ॥ २७ भैरूं

कबीर चाल्या जाइ था, आगे मिल्या खुदाइ ।
मीरा मुझ सूं यूं कह्या, किन फुरमाई गाइ ॥२१॥ ५१४

पाठान्तर– कबीर हज़ काबे जाइ था, आगै मिल्या खुदाइ ।
साई मुझ रसिउं लरि परिआ, किन फुरमाई गाइ ॥।१२॥

टिप्पणी : पहला पाठ नागरी प्रचारिणी सभा सं. श्याम सुंदर दास का है । यही पाठ माता प्रसाद गुप्त ने स्वीकार किया है । उन्होनें जो पाठान्तर दिया है वह भी दिया जा रहा है । पाठान्तर, अर्थ की दृष्टि से, अधिक संगत है– गुप्त जी के द्वारा किया गया अर्थ—"आप गाकर क्यों नहीं कहते हैं ? (उसे कहने के लिए मेरे समक्ष उपस्थित होने की अपेक्षा नहीं है ।") पर, "किन फुरमाई" का अर्थ है = "कौन आदेश देता है ?" 'गाइ' गाना के आकूत में नहीं, *"गाइ"* *गाय*, गऊ का वाचक है । *"किन फुरमाइ गाइ"* अर्थात् गोवध अथवा गोकसी मुसलमान क्यों करता है ? मेरा ऐसा फर्मा नहीं, किसने हत्या-वध कहा है ?

"आगे मिल्या खुदाइ" का भाव है सिरजनहार" "रचनाहार" "कर्त्तार" सर्वत्र है । काबा (मक्का में काबा एक इमारत जिसे मुसलमान खुदा का घर मानते हैं) जाने की अपेक्षा नहीं । वे हमारे घट में हैं, सुमिरन करो तो वे प्रकट हैं।

तुल. "तब नहिं होते *गाय, कसाई* तब कहु बिसमिल किन फुरमाई । रमैनी। बिसमिल (२७८) "बिसमिल भेंटि'" विसंभर एकै, और न दूजा कोई ।" ५८ गौड़ी। कबीर कहते हैं बिसमिल करना है तो काम-क्रोध का करो–

"हरिगुन गाइ बंग मैं दीन्हा, काम क्रोध दीउ बिसमिल कीन्हा ।" ६० *गौड़ी*

तथा "बिसमिल तामस भर कंदूरी, पंचों भषि ज्यूं होइ सबूरी ॥" ६१

कबीर "हजु काबे" गए नहीं, "ना कहीं गया आया" २३ *गौड़ी* । मुसलमानों को समझाने के लिए वे कहते हैं—

अलह राम जीऊं तेरे नांई ।

क्या उजू जप मंजन कीये, क्या मसीति सिर नांये ।
रोज़ा करै निमाज गुजारे, क्या हज़ काबै जाये ॥ ५२ आसावरी

तथा, कबीर सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज़ काबै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहा खुदाइ ॥ ४१९

तथा, हज़ काबे ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर ।
मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥ ७९७

विवृति : *किनि* = किन, कौन, (अप. कवण), पं. कौण < ''कः पुनर्'' *क्यों, की, क्यूं क्या* < प्रा. *कि, की,* पं. *सं. किम्* । फुरमाई (फा. फर्मा = आदेश, फर्मान = शाही आज्ञा, हुक्म फर्मा = हुक्म फरमाने वाला) गाइ < *गावी प्रा. गावी, गाई, (गो)* । मीरां = मीर =मालिक (१४१, ७९७) यूं (४७१, ४९८)।

१४७, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद–२११००३
(उ.प्र.)

हरिहरप्रसाद गुप्त

## टिप्पणियाँ

१. संकेत :– म = मराठी, गु = गुजराती, पं = पंजाबी, ओड़ि = ओड़िया, पद् = पद्*मावत* (जायसी)

२. संकेत :– वै = *वैराग्य सन्दीपनी* (तुलसी)

३. संकेत :– पा = पालि, प्रा = प्राकृत

४. तुल = तुलनीय

५. पंच = *पंचतंत्र*

६. अप = अपभ्रंश

# आचार्य पाणिनि की शास्त्रलाघवार्थ प्रयुक्त पद्धतियाँ

महर्षि पाणिनि ने व्याकरण को लघुत्तम बनाने हेतु जिन पद्धतियों का आश्रय लिया है, उनका संक्षिप्त विवेचन ही इस निबन्ध का ध्येय है। शास्त्रों की लाघवता की आवश्यकता क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान में हम देखते हैं कि विस्तृत तथा विशालकाय शास्त्र, दृढजिज्ञासुओं के अभाव में नष्ट तथा निरर्थक हो जाता है। पाणिनि से पूर्व बृहस्पति तथा इन्द्र ने विशालकाय शब्दशास्त्र बनाया जो कि शब्दों का संकलन था। यह शास्त्र शब्दों तथा वाक्यों की अनन्तता के कारण पूर्ण ही नहीं हुआ, हजारों दिव्य वर्षों में दीर्घजीवी देवगुरु बृहस्पति तथा देवराज इन्द्र लिखते गये, इस विशाल अपूर्ण शब्दशास्त्र को पढ़ने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य सैकड़ा वर्ष ही जी सकता है। विद्या का केवल अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि अध्ययन के पश्चात् बोध, आचरण तथा प्रचार भी आवश्यक है। इस तथ्य को महाभाष्यकार पंतजलि ने स्पष्ट शब्दों में कहते हुए लाघवता की आवश्यकता स्पष्ट की है–

> 'एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवन्ति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्रचास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।' *(पतंजलि महाभाष्य* १.१.१, पृ. २० चारुदेव शास्त्री संस्करण)

इस कथ्य से एक दूसरी बात भी अभिव्यक्त हो रही है कि साधु शब्दों के संकलन से भी पूर्णशास्त्र निर्माण सम्भव नहीं है। पूर्ण शास्त्र निर्माण के लिए शब्दों का संकलन न करके, लक्षणों का निर्देश करना चाहिए। अर्थात् शब्द लक्ष्य है और

सूत्र उनका लक्षण । सूत्रों का निर्माण करके ही हम लघुत्तम व्याकरण बना सकते हैं । यह महाभाष्य के इस उद्धरण में स्पष्ट है–

'कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः । किञ्चिसामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् ।'
(*पतंजलिमहाभाष्य*, १.१.१, पृ. २० चारुदेव संस्करण)

(तो शब्दों को कैसे जाना जाय ? कोई छोटा-सा सामान्य विशेष वाला लक्षण बनाना चाहिए, जिससे थोड़े से यत्न से बड़ी-बड़ी शब्दराशियों को जाना जायें।)

अतः पाणिनि ने सूत्रों में व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया जो अल्पाक्षर होने पर भी विशालार्थ का निर्देशन करते हैं । सूत्रशैली का समाश्रयण लघुता के लिए ही है, क्योंकि सूत्र लघुरूप होने पर भी विशाल अर्थ का प्रतिपादन करने में सक्षम है । यह सूत्रलक्षण से सिद्ध है–

लघूनि सूचितार्थानि, स्वल्पाक्षरपदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥
अल्पाक्षरम् असंदिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभम् अनवद्यञ्चसूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (*वायुपुराण* ४.९.१४२)

(सूत्र लघु अर्थ को सूचित करने वाले, स्वल्पाक्षर पद वाले सब तरह से सारभूत हैं, ऐसा मनीषी कहते हैं । अल्पाक्षर, संदेहरहित, सारयुक्त, विस्तृत अर्थ वाला, अस्तोभ (वृत्तगतिक) तथा दोषरहित को सूत्रज्ञ सूत्र कहते हैं)

अतः पूर्वमीमांसा में इस पद्धति के बोरे में कहा गया है–

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥
(पूर्वमीमांसा २.१.३२ *शाबरभाष्य*)

(ऋषिजन भी पदार्थों का पृथक् पृथक् विवेचन करके अन्त को नहीं प्राप्त करते हैं, विपश्चित् लक्षणों से ही सिद्धान्तों को बनाते हैं ।)

सिद्धान्त निर्माण हेतु सूत्र शैली ही सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि इसमें लाघव है । इस शैली का समाश्रयण पाणिनि द्वारा गृहीत होने पर आचार्य ने शास्त्र का आकार बड़ा देखकर पुनः कुछ पद्धतियों का प्रयोग लाघवार्थ किया है । दो प्रकार

का लाघव पाणिनि का लक्ष्य रहा है । प्रथम, सूत्र में पदों का यथासम्भव कम करना । द्वितीय, सूत्रों की संख्या को यथासम्भव कम करना । इन दोनों तरह के लाघवार्थ प्रयुक्त पद्धतियों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य है। इस विषय में विस्तृत अध्ययन हेतु डॉ. किशनलाल गौड 'व्योम शेखर' की उपयोगी एवं आधारभूत प्रामाणिक कृति *पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धान्त* अवलोकनीय है ।

१. सूत्रों में पद लाघव की पद्धतियां

१. क्रियापदों का त्याग

२. कारण (हेतु) सूचक पदों का त्याग

३. पुनः पुनः आने वाले शब्दों का लोप करना (अधिकार एवं अनुवृत्ति द्वारा)

४. संज्ञा सूत्रों (पारिभाषिक शब्दावली) का निर्माण

क- अनुबन्धमूलक प्रत्याहार (वर्णसमुच्चय)

ख- अनुबंधित संज्ञायें

५. परिभाषा सूत्रों द्वारा विधि सूत्रों में पदों की सम्प्राप्ति

२. सूत्र संख्या लाघवार्थ प्रयुक्त विधियां

१. उत्सर्गापवाद पद्धति

२. असिद्धविधान

३. धातुपाठ तथा गणपाठ पद्धति ।

**१.१ क्रियापदों का त्याग–** पाणिनि ने अपने सम्पूर्ण सूत्रों से विधेयपरक क्रियापदों को हटा दिया है । वाक्य में एक क्रिया-पद होना व्याकरण मतानुसार आवश्यक है । बिना क्रियापद के वाक्य परिपूर्ण नहीं होता है । यह *महाभाष्य* में सिद्धांतित है । अतः जिस वाक्य में क्रियापद नहीं हो वहां 'अस्ति' आदि पदों का अध्याहार कर लेना चाहिए । अतः पाणिनि ने सूत्रों में क्रिया पदों को नहीं पढ़ा, व्याकरणशास्त्र के अध्येता को सर्वत्र सूत्रों में अस्ति या स्यात् आदि पदों का योजन कर लेना चाहिए ।

यहाँ अवधेय है पाणिनि के कुछ सूत्रों में दृश्यते आदि क्रिया पदों का विशेष कारण से उल्लेख है, वह पूर्व सूत्रों द्वारा प्रतिपादित परिधि से बाहर के क्षेत्र के ग्रहण हेतु है ।

**१.२. कारण (हेतु) सूचक पदों का त्याग–** *अष्टाध्यायी* प्रक्रिया ग्रन्थ है । वहां आचार्य ने एक सावधानी रखी है कि कहीं पर भी हेतुसूचक पञ्चम्यन्त पद का प्रयोग न हों । क्योंकि प्रत्येक विधान के साथ कारण निर्देश करने पर शास्त्रवृद्धि तो होती ही, अपितु क्यों और कैसे आदि के प्रश्न भी हेतुवादी खड़े कर देते। शास्त्र में अनेक विवादास्पद स्थितियां खड़ी कर देते । इन सब अनावश्यक विवादों से बचने के लिए शास्त्रकार ने हेतुनिर्देश करने का कष्ट नहीं किया है । पाणिनि से पूर्व शाब्दिकों की परम्परा में बहुत विवादग्रस्त विषय थे । यास्क के *निरुक्त* में ६४ आचार्योंके परस्पर विरोधिमतों की चर्चा है । पाणिनि ने लाघव लक्ष्य की तरह असंदेह (निर्विवाद) व्याकरण का प्रमुख लक्ष्य रखा है । यहां पर अवधेय है कि पाणिनि ने कुछ सूत्रों-में हेतु-सूचक पदों को रखा है, लेकिन वहां पर हेतु-सूचक पदों का प्रयोग अपने निर्दुष्ट पक्ष के प्रतिपादन हेतु किया गया है ।

**१.३. पुनः पुनः आने वाले पदों का त्याग–** पाणिनि पूर्व सूत्र में आये हुए पद का उत्तर सूत्र में पुनः पाठ नहीं करते हैं । उसके लिए रिक्त स्थान छोड़ देते हैं । अध्येता स्वयं परम्परानुसार सूत्र में अदृष्ट पद का अन्य सूत्रों में दृष्ट पदों से अनुवर्तन कर लेता है । यह वरदराजाचार्य के इस कथन में सुस्पष्ट है– 'सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।'[३] इसे अनुवृत्ति कहा जाता है । अग्रिम सूत्रों में अर्थबोध-हेतु जिन जिन पदों की अपेक्षा है उन-उन पदों को पूर्व सूत्र में आकृष्ट किया जाता है । इस पद्धति से सूत्रों का आकार २५ प्रतिशत रह गया है ।

इस अनुवृत्ति वाली पद्धति का आश्रयण एक अन्य रूप में भी किया गया है– अधिकार सूत्र के रूप में ।

**अधिकार सूत्र–** महर्षि पतजंलि ने तीन तरह के अधिकार सूत्र स्पष्ट रूप में तथा एक अन्य प्रकार का-अधिकार सूत्र- भी उल्लेख किया है–

> अधिकारो नाम त्रिप्रकारः । कश्चिदेकदेशस्थ सर्वशास्त्रमभिज्वलयति, प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति । अपरोधिकारः यथा रज्ज्वा अयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण । अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगयागे उपतिष्ठते ।[४]

> 'अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः । तद्यथा मण्डूकाः उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ।[५]

(अधिकार तीन तरह का है । प्रथम, एकदेश में स्थित सम्पूर्णशास्त्र को प्रकाशित करता है जैसे सुप्रज्वलित प्रदीप एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है) इसके उदाहरण हैं प्रत्यया: (*अष्टाध्यायी* ३.१.१), तद्धिता: (*अष्टाध्यायी* ४.१.७६)

दूसरा अधिकार सूत्र है, रस्सी या लोहे के द्वारा बन्धे हुए काष्ठ की तरह अग्रिम सूत्र में किसी पद को चकार के द्वारा खींचना । इसका उदाहरण है उपसर्गा: क्रियायोगे (*अ.* १.४.५९) एवं गतिश्च (अ. १.४.६०) अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रतिपदिकं (*अ.* १.२.४५), कृतद्धिसमासाश्च (अ. १.२.४६)

तीसरा अधिकार वह है जब तक ही स्थानों आदेश या निमित्त को प्रत्येक सूत्र में न कहकर एकत्र कहता है । इस प्रकार में पूर्वकथित सूत्रों के पद उत्तर सूत्रों में अनुवर्तित होते हैं ।

अथवा मण्डूक गति वाले अधिकार होते हैं । जैसे मैंढक उछल-उछल कर गमन करते हैं वैसे ही कुछ अधिकार सूत्र बीच-बीच में सूत्रों को छोड़कर प्रवृत्त होते हैं ।

**१.४. संज्ञासूत्रों (पारिभाषिक शब्दावली) का निर्माण–** शास्त्रकार ने 'लघ्वर्थ-संज्ञाकरणम्' में पतंजलि के कथनानुसार[६] अनेक संज्ञा सूत्रों का निर्माण किया है जिससे लघ्वर्थ की सिद्धि कैसे होती है यह अग्रांकित प्रत्याहारों के विवेचन से स्पष्ट होगा ।

**१.४.१ अनुबन्धमूलक प्रत्याहार–** यह प्रत्याहार एक तरह से बीजगणितीय शैली से समुच्चयों का विधान करता है । पाणिनि ने तीन तरह के समुच्चयों का प्रयोग किया है– वर्णबोधक, प्रकृतिबोधक तथा प्रत्ययबोधक ।

'वर्णबोधक' प्रत्याहारों का उल्लेख पाणिनि इस सूत्र के द्वारा करते हैं– 'आदिरन्त्येन सहेता' (अ. १.१.७१) सूत्र का अर्थ है अन्त्य इत् सहित आदिवर्ण अपने सम्पूर्ण समुदाय का बोधक है । पाणिनि ने अपने चौदह माहेश्वर सूत्रों से इस प्रत्याहार विधायक सूत्र के द्वारा ४२ प्रत्याहार बनाये हैं ।

'प्रकृतिबोधक' प्रत्याहार का उल्लेख केवल एक सूत्र की *काशिकावृत्ति* में प्राप्त होता है । कञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (अ. ३.१.४०) सूत्र की वृत्ति में लिखा है– 'कृञितिप्रत्याहारेण कृभ्वस्तयोगृह्यन्ते

'प्रत्ययबोधक' समुच्चयों में भी आदिरन्त्येन सूत्र वाली विधि का प्रयोग हुआ है। आदिप्रत्यय या उसके एक भाग से लेकर अन्तिम प्रत्यय के अन्त्य इत् से जोड़ दिया गया है। ऐसे प्रत्याहार हैं– सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ्, तृन्।

१.४.२. अनुबन्धित संज्ञाओं के द्वारा पाणिनि ने अतिलाघव को प्राप्त किया है, क्योंकि अनुबन्ध मूलक संज्ञा अपने लघुरूप से विशाल शब्द परिवार को सूचित करती है। जैसे हित्, कित् आदि।

सावर्ण्यमूलक अण् तथा उदित संज्ञाएँ– पाणिनि के सूत्र अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (अ. १.१.६९) के अनुसार अण् (अ, इ, उ, लृ, ओ, ऐ, औ, ह, य्, व्, र्, ल) अपने सवर्णों के बोधक होते हैं तथा उदित (कु चु टु तु पु) अपने वर्ग के पांच वर्णों के बोधक हैं।

यहाँ यह अवधेय है कि सवर्ण वर्ण की आवश्यकता नहीं हो वहाँ पाणिनि ने 'तपरस्तकालस्य' (अ. १.१.७०) सूत्र के द्वारा तपर संज्ञाएं की हैं। इसी तरह तदन्त संज्ञा 'येनविधिस्तदन्तस्य' (अ. १.१.७२) के द्वारा तथा अलोन्त्यात्पूर्व उपधा (अ. १.१.६५) के द्वारा उपधा संज्ञा से तोपध, कोपध, नोपध आदि शब्द परिवारों का वर्गीकरण किया है। इसी प्रकार पाणिनि ने कुछ कृत्रिम संज्ञाएँ बनाईं हैं जिनका कोई अन्वर्थ ज्ञात नहीं होता है, जिन्हें केवल शास्त्र लाघव हेतु कल्पित कर लिया गया है जैसे– टि, घु, आदि संज्ञा।

**१.५. परिभाषा-सूत्रों द्वारा विधि सूत्रों में पदों की सम्प्राप्ति**

जिस पद या पदार्थ को विविध सूत्र में अनुवृत्ति के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं था उसे पाणिनि ने परिभाषा सूत्रों की सहायता से प्राप्त करवाया है। परिभाषा सूत्र भी संज्ञा सूत्रों की तरह अपने उपदिष्ट स्थान पर रहते हुए विधि सूत्र के क्षेत्र में दीपप्रकाश की तरह उपस्थित हो जाते है। जैसे 'इकःयण् अचि' (अ. ६.१.७७) सूत्र में दो परिभाषा सूत्र तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य (अ. १.१.६६) तथा षष्ठीस्थानेयोगा (अ. १.१.४९) से क्रमशः 'निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'स्थाने' पदों का लाभ होकर एक-वाक्यता में यह सूत्र का रूप बन जाता है। 'इकःस्थाने यण् अचि निर्दिष्टे पूर्वस्य' इसमें क्रिया पद का अध्याहार करने पर यह असंदिग्ध वाक्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

**२.१. सूत्र संख्या लाघवार्थ प्रयुक्त विधियों में तीन विधियाँ प्रमुख हैं–**

१. उत्सर्गापवाद विधि– इस विधि में सूत्र के सामान्य प्रवृत्ति हेतु उत्सर्गसूत्र तथा विशेष प्रवृत्ति हेतु अपवाद सूत्र का व्याख्यान किया गया है ।

इस विधि के द्वारा पृथक् पृथक् सूत्रों का निर्माण नहीं करना पड़ता है । यही पाणिनि का अमोघ अस्त्र है जिससे उन्होंने महती लाघवता को प्राप्त किया है । भट्टोजि दीक्षित' के अनुसार यह लिपि की तरह है । जैसे लिपि में कुछ ही वर्ण रहते हैं पर वे सम्पूर्ण भाषा को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही सामान्य तथा विशेष के आधार पर लक्षण निर्माण से महान् लाघव प्राप्त किया जाता है । इस पद्धति में जाति या आकृति एवं व्यक्ति के आधार पर सूत्र निर्माण किये जाते हैं । जैसे, अपत्यार्थ के लिए अण् प्रत्यय सामान्य प्रतिपादिक से किया तब हमें सामान्य प्रातिपदिकों की सूची नहीं देनी पड़ी, अतः बहुत बड़ा लाघव इस तस्यापत्यम् (अ. ४.१.९२) सूत्र में हुआ । अब केवल हम उन विशेष प्रातिपदिकों की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे जहाँ अण् न होकर अन्य प्रत्यय हो रहा हो । इसका अपवाद सूत्र है अत इञ् (अ. ४.१.९५)। इस सूत्र से अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य-अर्थ में इञ प्रत्यय होता है । यदि इस का भी अपवाद अगर मिले तो उसे भी एक सूत्र के रूप में कहा जायेगा । जैसे गर्गादिभ्यो यञ् (अष्टा. ४.१.१०५)। सूत्रकार ने इस उत्सर्गापवाद शैली के कारण अत्यन्त शास्त्र लाघव को प्राप्त किया है ।

२.२ असिद्धत्व विधान– महर्षि पाणिनि ने अपने पूर्वत्रासिद्धम् (अ. ७.२.१) सूत्र के द्वारा कुछ सूत्रों को असिद्ध माना है । इसका कारण यह है कि शब्दों की संरचना अनियत प्रवृत्ति वाली (अपवादयुक्त) होने के कारण नियमों में अन्तर्विरोध प्राप्त होता है तब आचार्य अन्तर्विरोध समाप्ति हेतु कुछ सूत्रों को बलहीन मानते हैं और उन्हें वे असिद्ध कहते हैं । इस असिद्धत्व को हम इस तरह समझें कि असिद्ध के सूत्र के अन्तर्विरोधरहित क्षेत्रों में चरितार्थ होने पर भी सिद्ध सूत्र वहाँ नहीं लग सकते हैं, क्योंकि असिद्ध सूत्र के कार्य को वे नहीं जानते हैं । अतः सूत्रों की अनभीष्ट प्रवृत्ति से बचने के हेतु कुछ विशेष सूत्रों को त्रिपादी आदि में पढ़ा गया है । अगर उन्हें असिद्ध न किया जाये तथा सामान्य पद्धति से शास्त्र-निर्माण हो तो हजारों निषेध सूत्रों की आवश्यकता होगी । क्योंकि असिद्ध विधान की विशेष पद्धति का वरण करके जिन-जिन सूत्रों का एक साथ ही निषेध हो जाता है उनके लिए पृथक्-पृथक् निषेध सूत्र निर्माण की आवश्यकता होगी । अतः यह शास्त्र-प्रक्रिया में लाघवार्थ लिया गया है ।

२.३. गणपाठ एवं धातुपाठ– पाणिनि सूत्रों में लाघव में परिशिष्ट धातु पाठ तथा गणपाठ का महत्त्वपूर्ण अवदान है । वस्तुतः ये धातु तथा शब्दों के

समुच्चय हैं, जिनमें धातु तथा शब्दों के समुदायों का संकलन किया गया है। इस शब्द-समुदायों के प्रथम शब्द के आधार पर शास्त्रोपयोगी भ्वादि, अदादि आदि अनेक लघु संज्ञायें निर्मित की गईं। उन संज्ञाओं के अवलम्बन से सामान्य विशेष सूत्रों के निर्माण में लाघव का साफल्य अर्जित किया गया है।

वस्तुत: पाणिनि का प्रत्येक सूत्र अपने आप में लाघवता का ज्वलन्त प्रमाण है। तथापि इस लेख में कुछ पद्धतियों का दिङ्निर्देश मात्र किया गया है। पाणिनि ने न केवल सूत्र अपितु प्रत्येक पद का प्रयोग अत्यावश्यक होने पर किया है। यह पतंजलि के इन शब्दों से स्पष्ट है– 'मांगलिक आचार्य:शुचौदेश उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म, तत्र नैकोऽपि वर्णोऽनर्थक: किंपुनरियता सूत्रेण।' इसी तथ्य का अनुसरण नागेश की यह परिभाषा भी करती है, "अर्थमात्रलाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा:।" विशेषकर हम महर्षि के शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर की गई इस शास्त्र रचना का गहनता से अध्ययन कर कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन कर सकते हैं।

दर्शन विभाग (एस.ए.पी)
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

## टिप्पणियाँ

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (*अष्टाध्यायी* ३.२.७५) अन्येष्वपि दृश्यते (*अ.* ३.२.१०१)
   अन्येभ्योऽपिदृश्यते (*अष्टाध्यायी* ३.३.१३०) अन्येषामपि दृश्यते (*अष्टाध्यायी* ६.३.१३७)

२. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (*अष्टाध्यायी* । १.२.५३)
   लुब्योगाप्रख्यानात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५४)
   योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५६)
   प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५६)
   कालोपसर्जने तुल्यम् (*अष्टध्यायी* १.२.५७)

३. *लघुसिद्धान्तकौमुदी* संज्ञा प्रकरणम्, हलन्त्यम् (१.३.३) के पश्चात्।

४. महाभाष्य, १.१.७ पृ. २६४

५. *वही,* २.४.१ पृ. ५५०

६. संज्ञा च नाम यतो न लघीय:। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्, *महाभाष्य* १.४.३ पृ. २४२

७. 'लघुभूत उपाय: समाश्रीयते लिपिवत्' *शब्द कौस्तुभ,* पृ. ६

# मोक्ष तथा पापमोचन

साधारणतया धर्म, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, प्राच्य हो या पाश्चात्य, में मनुष्य को अपनी सत्ता के आधार से अलग या विछुड़ा माना गया है। मानव की सत्ता का आधार ईश्वर है। मानव अपने मूल स्रोत से अलग हो गया है, जिसके फलस्वरूप उसे दुःख भोगना पड़ता है। जब मानव अपने असीमित आधार या स्रोत से अलग हो जाता है तो सभी प्रकार की सीमाओं में आबद्ध हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसे अनेकानेक दुःख भोगना होता है। अब प्रश्न उठता है कि मानव क्यों अपने मूल स्रोत से अलग हो जाता है ? इस प्रश्न के मुख्य रूप से दो उत्तर दिये जा सकते हैं–

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अज्ञान या अविद्या के कारण हम अपने आधार से अलग हो जाते हैं। इस अवस्था का नाम बन्धन है। बन्धन दुःख की अवस्था है। भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना है। आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में दुःख तकलीफ से परे है। पर अज्ञान के कारण उसे भौतिक शरीर से बन्ध जाना पड़ता है। शरीर से सम्बन्ध होने के बाद आत्मा का उससे तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप शरीर के दुःख से वह दुःखी होता है तथा सुख से सुखी। नित्य और अजन्मा आत्मा अपने को शरीर से अलग नहीं समझती है। वह सांसारिक सुखों के प्रति इतना आसक्त रहती है कि तृष्णा का भाव बराबर बना रहता है। इससे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में आत्मा अपना स्वरूप भूल जाती है और अपने मूल स्रोत से अलग हो जाती है।

पाश्चात्य धर्मों में मूल पाप की अवधारणा के द्वारा मानव जीवन में व्याप्त दुःखों की व्याख्या की जाती है। यहूदी धर्म और ईसाई धर्म में माना जाता है कि ईश्वर ने जब प्रथम मानव की रचना की तो उसका स्वरूप बिल्कुल शुद्ध और आनन्दमय था। प्रथम मानव "आदम" को ईश्वर ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। प्रारम्भ में आदम ने ईश्वर-प्रदत्त इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग नहीं किया

और निषिद्ध कर्मों से अपने को वंचित रखा । अतः उसका स्वरूप आनन्दमय था । पर काल-क्रम में उसने निषिद्ध कर्मों से अपने को अलग नहीं रखा, जिसका परिणाम हुआ कि आदम को अपनी ही गलती के कारण दुःख भोगना पड़ा । अर्थात्, वह अपने ही पापों के कारण दुःख भोगने लगा और ईश्वर से विमुख हो गया । यही बन्धन या दुःख की अवस्था है ।

भारतीय धर्म परम्परा और यहूदी-ईसाई धर्म परम्मपरा में मानव को ही इस जगत् में व्याप्त अशुभ के लिए जबावदेह माना जाता है । यहूदी-ईसाई धर्म परम्परा के अनुसार मानव ने अपने इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग किया, जिसके फलस्वरूप दुःख का पदार्पण हुआ । दूसरी ओर बौद्ध धर्म में भी मानव को अपना भाग्यविधाता बताया गया है । पर प्रश्न है कि सर्वप्रथम अज्ञानवश कर्म का कौन विधाता है? बौद्ध धर्म में इस प्रश्न को सही प्रश्न नहीं समझा जाता है । यहाँ इस वास्तविकता को मान लिया जाता है कि मनुष्य सांसारिक चक्र में फंस कर दुःख भोगता है। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि कैसे सांसारिक दुःख च्रक प्राप्त हुआ, बल्कि यह कि कैसे इसका समाधान किया जाय । अतः बौद्ध धर्म में स्पष्टतया आदिम दुःख उत्पत्ति की समस्या की विवेचना नहीं की जाती है । अन्य भारतीय धर्म दर्शनों में कर्म संसार की समस्या को अनादि कह कर इस पर विचार नहीं किया गया है । मूल पाप या दुःख के कारण पर विचार नहीं किया जाता है । ईसाई धर्म, यहूदी धर्म में वर्णित मूल पाप के सिद्धान्त को मान लेता है । आदम ने जो पाप किया उसी पाप से उसकी सभी संतति ग्रसित है । हालाँकि कई यहूदी नवियों अब यह स्वीकारने लगे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप के लिए उत्तरदायी है, न कि जाति-पाप के लिए; यानी आदि पाप की धारणा अब अस्वीकृत होने लगी है ।

चाहे अनीश्वरवादी बौद्ध धर्म हो या फिर ईश्वरवादी ईसाई धर्म, उसके द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया है कि मनुष्य अपने ही बुरे कर्मों का फल भोग रहा है । अब समस्या है कि बुरे कर्मों के कुप्रभाव की स्थिति, जो दुःखपूर्ण है, से किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है? क्या मानव को अपनेही प्रयास से मुक्ति मिल सकती है? या ईश्वर की कृपा या गुरु की सलाह आवश्यक है? इस समस्या के समाधान करने के सिलसिले में बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में मौलिक अन्तर है । पहले हम बौद्ध समाधान प्रस्तुत करेंगे और बाद में यहूदी-ईसाई समाधान ।

बौद्ध धर्म में प्रथम आर्य सत्य में बताया गया है कि सर्वत्र दुःख ही दुःख है तथा सब कुछ क्षणभंगुर है । हम इस दुःखमय और क्षणिक संसार को सुखमय और स्थायी समझते हैं । ऐसा अज्ञान या अविद्या के कारण होता है । अविद्या के

कारण क्षणिक सुख की कामना की जाती है, तथा अस्थायी वस्तुओं को स्थायी और शाश्वत मान लिया जाता है। फिर अहंभावना के कारण व्यक्ति अपने को भोक्ता मान लेता है। वह कहता है "मैं हूँ", "यह मेरा है" आदि। अहंभावना का निराकरण अविद्या के नाश से ही सम्भव है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवन और जगत् के प्रति गलत दृष्टि के फलस्वरूप ही हम बंधन में रहते हैं। अतः बौद्ध धर्म में दुःख निवारण के लिए बताए गए अष्टांगिक सोपान में सम्यक् दृष्टि प्रथम है। अविद्या के कारण ही मानव को क्षणिक वस्तुएँ शाश्वत और दुःखदायी वस्तुएँ सुखदायी नजर आती है। इस अविद्या को हटाने के लिए मिथ्या दृष्टि को त्याग कर सही दृष्टि को अपनाना होगा। सम्यक् दृष्टि का अर्थ ही है वस्तुओं को उसके वास्तविक स्वरूप में देखना। जब तक वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में न देखें तब तक हम सही मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। एक बालक अपनी अभिरुचि और दृष्टि के अनुकूल सभी वस्तुओं को खिलौना समझता है या कामी पुरुष अपनी प्रेरणा के अनुकूल सभी वस्तुओं को कामविषयक मानता है। ऐसा उसकी विशेष दृष्टि के कारण ही होता है। अतः निर्वाण-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को वस्तुओं को क्षणिक तथा जीवन को दुःखमय समझना चाहिए।

सम्यक् संकल्प के अन्तर्गत आर्य सत्यों को जीवन में उतारने का पक्का निर्णय करना है। आसक्ति, द्वेष, हिंसा, घृणा आदि को त्यागना आवश्यक है। सम्यक् वाक् के अन्तर्गत झूठ नहीं बोलना, निन्दा नहीं करना, कटु वचन से दूर रहना आदि आते है। यानी संकल्प को वचन में लाना आवश्यक है। सम्यक् कर्मान्त चौथा सोपान है। दैनिक जीवन के व्यवहार में आर्य सत्यों में बताए गए सिद्धान्तों को चरितार्थ करना चाहिए। अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-संयम आदि इस सोपान के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। सम्यक् जीवन या जीवनयापन के लिए उचित साधन अपनाना चाहिए। गलत साधन का प्रयोग जीवन जीने के लिए नहीं करना चाहिए। सम्यक् व्यायाम–मस्तिष्क से बुरे विचारों को निकालना चाहिए तथा अच्छे विचारों को भरना चाहिए। बिना प्रयास के ऐसा सम्भव नहीं है। सम्यक् स्मृति में बताया गया है कि वस्तुओं के दुःखमय और क्षणभंगुर स्वरूप को याद रखना चाहिए। इनके बाह्य और अवास्तविक स्वरूप से मोहित नहीं होना चाहिए। अष्टांगिक मार्ग का अन्तिम सोपान सम्यक् समाधि है। ध्यान या समाधि में चार अवस्थाएँ हैं जिन्हें सफलतापूर्वक पार कर लेने के बाद निर्वाण की अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में दुःख से पूर्ण छुटकारा मिल जाता है। निर्वाण दुःख-सुख, जन्म-पुनर्जन्म से पूर्ण छुटकारे की अवस्था है।

यहूदी-ईसाई-इस्लाम परम्परा में आत्मा की अमरता को स्वीकारा गया है। यहूदी धर्म में मरणोत्तर जीवन में विश्वास किया जाता है। पर यह विचार स्पष्ट

नहीं है । पर यहूदी साधारणतया यह स्वीकार करते हैं कि न्याय-दिवस के दिन प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्म के अनुसार दंड या पुरस्कार मिलेगा । ऐसा मान जाता है कि मृत्यूपरान्त मानव शियोल में रहता है जहाँ उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं । पर न्याय-दिवस में सभी आत्माओं का पुनरुत्थान होता है और सभी आत्माएँ जी उठती हैं । ईसा मसीह भी न्याय-दिवस और पुनरुत्थान में विश्वास रखते थे । यही बात संत पॉल भी स्वीकार करते हैं । यहूदी शुद्ध आत्मा में विश्वास नहीं रखते थे, देहात्मवाद को मानते थे । न्याय-दिवस के दिन देह के साथ मानव की आत्मा का पुनरुत्थान होगा । इस मत से ईसाई धर्म भी प्रभावित है । संत पॉल के अनुसार न्याय-दिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायेगी और सभी मृतक का अपनी देह और आत्मा के साथ पुनरुत्थान हो जायेगा । पुनरुत्थान के समय जो शरीर प्राप्त होता है वह सांसारिक देह की तरह नश्वर नहीं, बल्कि अमर होगा । यह शरीर सुन्दर और स्वस्थ होगा । यहूदी और ईसाई धर्मों की तरह इस्लाम में पुनरुत्थान की बात कही गई है । न्याय-दिवस के दिन मृतमानव का शरीर और आत्मा दोनों का पुनरुत्थान हो जाता है । अर्थात् इन धर्मों में सदेही आत्मा की कल्पना की गई है । इस सन्दर्भ में यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू धर्म और भारतीय दर्शनों में सदेही आत्मा की नहीं, बल्कि शुद्ध आत्मा की बात की गई है । जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के पश्चात् आत्मा को जब मोक्ष मिलता है तो शरीर का वहाँ नामोनिशान नहीं रहता है । अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी मुक्त आत्मा के साथ नहीं रहता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म-दर्शन परम्परा में ही शुद्ध आत्मा की कल्पना की गई है ।

ईसाई धर्म में माना जाता है कि ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया तथा उसे संकल्प स्वातंत्र्य प्रदान किया । पर मानव ने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया, जिससे पाप का उदय हुआ और जिसका फल उसे भोगना पड़ेगा । प्रथम मानव ने जो पाप किया उससे उसका स्वरूप ही पापमय हो गया, जिसका फल उसकी संतानों को भोगना पड़ रहा है । आज प्रत्येक मनुष्य उस आदि पाप से ग्रसित है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आदम के द्वारा किए गए पापों के फल उसकी संतानों को क्यों भोगना पड़ता है ? एक मानव के द्वारा किए गए कर्मों का फल दूसरा क्यों भोगे ? इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार जो व्यक्ति जैसा करेगा उसे वैसा फल मिलेगा । अतः आदि पाप का अर्थ यह नहीं है कि आदम द्वारा किया गया पाप का फल समस्त मानव को भोगना पड़ रहा है । बल्कि आदि पाप की धारणा से अभिप्राय यह है कि मानव के अन्दर पापवृत्ति इतनी गहरी है कि वह अपने प्रयास से उससे निकल नहीं सकता है । फिर आदि पाप का अर्थ यह भी है कि मानव ने अपने बुरे

आचरण के द्वारा समाज, देश और धर्म व्यवस्था तक को इतना भ्रष्ट कर दिया है, कि ईश्वर का रूप भी विकृत हो गया है ।

अब प्रश्न है कि मानव पाप के दलदल से कैसे निकल सकता है ? ईसाई धर्म के अनुसार यीशु मसीह के क्रूशीय बलिदान के रहस्य में विश्वास करने से मानव में पाप से मुक्ति की शक्ति आती है, ईसा की क्रूशीय मृत्यु को आदि-पाप से मानव को छुटकारा दिलाने के लिए आत्म-बलिदान के रूप में समझना चाहिए । यहूदी धर्म में मानव को उसके पापों से छुटकारा दिलाने के लिए पशु-बलि चढाते थे । निर्दोष पशु की बलि से मानव के पाप कट जाते हैं । ऐसा माना जाता है कि निर्दोष पशु मानव के पापों को अपने ऊपर ले लेता है । इस यहूदी मत से प्रभावित हो कर ईसाई धर्म में यह माना जाता है कि ईसा ने अपना क्रूशीय बलिदान कर मानव को उसके आदि-पापों से मुक्त कर दिया। चूंकि ईसा का स्वरूप भी पवित्र मेमना जैसा शुद्ध था इसलिए उनके बलिदान से समस्त मानव जाति पाप से मुक्त हो जाती है । इस बलिदान को स्वयं ईश्वर ने तैयार किया था । अतः समस्त मानव जाति को इसे अपने पापों के प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार करना चाहिए । ईश्वर मानव को इतना प्यार करता है कि उसने अपने इकलौते पुत्र को बलिदान के रूप में भेजा ताकि जो उसमें विश्वास करें उसे मुक्ति मिल सके । इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव अपने पापों के द्वारा अपने को ईश्वर से कितना दूर क्यों न ले गया हो, पर ईश्वर अपने करुणामय स्वरूप के कारण उसे क्षमा करने को तैयार है । यीशु के बलिदान के द्वारा ईश्वर ने मानव को उसके पापों से मुक्त कर दिया । मनुष्य इस तथ्य में विश्वास करें। ईश्वर की कृपा ही उसे पाप मुक्त कर सकती है । अपने प्रयासों से वह पापमुक्त नहीं हो सकता है । पापमोचन ईश्वर का अनुग्रह है । धर्म की तरह ही यहूदी और इस्लाम धर्मों में यह माना गया है कि ईश्वर कृपा ही मानव की मोक्ष प्राप्त कराने में सक्षम है ।

मानव अपने पापमय स्वरूप के कारण ही ईश्वर से दूर हो जाता है और इस जगत् में उसका अस्तित्व दूषित और कष्टपूर्ण हो जाता है । अपने अस्तित्व के मूलाधार से उसका अलग होना उसके कष्टों का कारण है । चूँकि उसका स्वरूप ही पापमय एवं दूषित है, इसलिए अपने ही प्रयासों से मानव ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सका है । वह कितना भी प्रयास क्यों न करे, वह ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त नहीं कर सकता है । उसके पापाचरण का आवरण बराबर इस प्रयास में बाधक सिद्ध होता है । अतः ईसाई मसीहों का मत है कि मानव का बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयास बराबर विफल होता रहता है । ईश्वर की करुणा और उसके प्रयास से ही पापमोचन सम्भव है । इसे एक उपमा के द्वारा हम समझ

सकते हैं जो इस प्रकार है– नदी का बहाव साधारणतया अपने पुराने मार्ग से होता है । पर बाढ़ की अवस्था में कभी-कभी नदी की धारा अपना पुराना रास्ता छोड़ कर कुछ दूर तक नया रास्ता अपना लेती है और फिर आगे जाकर पुराने रास्ते को ही अपनाती है । इससे नदी का पुराना मार्ग झील में परिणत हो जाता है, क्योंकि नदी की धारा से कट जाने के बाद उसके पानी में प्रवाह नहीं रह जाता है । झील का अर्थ है नदी के प्रवाह से विलग होने की अवस्था । अब यह अवस्था तब तक कायम रहती है जब तक नदी की धारा फिर से झील और नदी के बीच के अवरोध को समाप्त नहीं कर दे । नदी के मुख्य प्रवाह से कटा झील तब तक मुख्य धारा से अलग रहता है जब तक नदी स्वत: ही दोनों के मध्य अवरोध को समाप्त नहीं कर दे । उसी प्रकार मानव तब तक अपने आधार से अलग रहता है जब तक ईश्वर खुद ही उसका पापमोचन नहीं करें । यानी पापमोचन ईश्वर का अनुग्रह है ।

बौद्ध धर्म में निर्वाण ईश्वर का अनुग्रह नहीं है, बल्कि मानव के अपने प्रयासों का परिणाम । प्रत्येक मुमुक्षु अपने प्रयासों से अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है । मानव अपना भाग्यविधाता है । इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों के प्रतिकूल ईश्वर कृपा का कोई स्थान है । इसे "मानवतावाद" की संज्ञा भी दी गई है, क्योंकि बुद्ध ने बताया है कि मानव अपने प्रयास के द्वारा दु:ख से छुटकारा पा सकता है । निर्वाण प्राप्ति के लिए किसी शक्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है । बुद्ध ने कहा था "तुम स्वयं ही अपने लिए अपना प्रकाश बनो । बाह्य किसी शरण की सहायता मत लो । धर्म ही तुम्हारा दीप एवं शरण है" ।

अब यदि हम ईसाई और बौद्ध मतों की तुलना करें तो पायेंगे कि बौद्ध मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है । यह कहना कि मानव का अपना प्रयास निर्वाण प्राप्त नहीं करा सकता है उचित नहीं है । ईसाई धर्म में यह स्वीकार किया गया है कि मोक्ष ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसके लिए मानव प्रयास निरर्थक है । यदि यह माना जाय कि मानव के प्रयास से कुछ नहीं होता है तो फिर इससे अकर्मण्यता का जन्म होगा, कोई दु:ख से छुटकारे के लिए प्रयास नहीं करेगा । हम हाथ पर हाथ धर के बैठे रहेंगे कि जब ईश्वर की कृपा होगी मोक्ष मिलेगा । अपने कर्मों को सुधारने का प्रयास नहीं करेंगे । वस्तुतः अपने प्रयास से मोक्ष मिलता है । जैसे एक सिंह यदि पिंजड़े में बन्द हो तो वह अपने अथक प्रयास से पिंजड़े के शिकंज़े से आज़ाद हो सकता है । या फिर कई बार स्वतन्त्रता सेनानियों ने भारत की आज़ादी के संग्राम में जेल तोड़ कर अपने को आजाद किया । उसी प्रकार मानव अपने अन्दर छिपी

अदम्य शक्ति से अज्ञान रूपी बंधन को काटकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है और संतप्त मानवता के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। बोधिसत्व की अवधारणा बौद्ध धर्म में पाई जाती है। वे अर्हत् हैं जो अपनी निर्वाण गति को लोकहित में तब तक स्थगित कर लेते हैं जब तक अन्य जीवों को निर्वाण के प्रति अभिमुख नहीं कर दें। इन्हें पूर्ण ज्ञान तथा प्रज्ञा पा लेने पर भी अनेक जन्म इसलिए लेने पड़ते हैं कि दु:ख संतप्त मानवों को दु:ख निवृत्ति मार्ग बताये तथा लोक कल्याण में निरत रहें। फिर जब ईसाई धर्म में यह माना जाता है कि मानव अपने इच्छा-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से पापाचरण करता है तथा ईश्वर से विमुख होता है तब इसे स्वीकार करने में कोई असंगति नहीं है कि मानव ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के सदुपयोग से अपने पापाचरणों के फल भोगने के बाद फिर से पापाचरण नहीं करे, तथा ईश्वर के सान्निध्य और सायुज्य प्राप्त करे। बौद्ध धर्म में वर्णित कर्म-फल सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मानव को अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। जब मनुष्य अज्ञान समाप्ति के उपरान्त अपने कर्म में सुधार लाता है तब धीरे-धीरे पहले किए गए कर्मों का फल नाश होता जाता है और नए कर्म आसक्तिविहीन और धर्मसम्मत होने के कारण बन्धन में नहीं ड़ालते हैं, जिससे निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है।

रेखा सिंह

१, व्याख्याता निवास
बिहार विश्वविद्यालय परिसर,
मुजफ्फरपुर–८४२००१
(बिहार)

# नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२६)

## कारणता

पूर्व लेख में कार्यता के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। कार्यता और कारणता परस्पर सापेक्ष होने से उनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। कारणता, जनकता, हेतुता ये पर्यायवाची शब्द हैं। कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त प्राय: सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। नैय्यायिकों के मतानुसार संसार में जितने भी लौकिक और वैदिक कर्म या घटनाएँ हैं उनका उनके फल के साथ सम्बन्ध निश्चित कर के ही मनुष्यमात्र– या कहें प्राणिमात्र-उन-उन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। कर्म और उसके फल के बीच होने वाले कार्य-कारण-भाव को जाने बगैर कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्मानुष्ठान को संपन्न नहीं करता है। अत: यह सिद्ध है कि कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त यह एक सर्वव्यापक तथ्य है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कारणत्व या कारणता क्या है ? कुछ नैयायिकों का मत है[1] कि कारणत्व माने तत् तत् फलाव्यवहितपूर्वसत्त्व है, अर्थात् विवक्षित फल के पूर्व में रहना ही कारण में रहने वाली कारणता है। परन्तु यह मत उचित नहीं है। क्योंकि अनेक पदार्थ विवक्षित फल के पूर्व विद्यमान होते हैं और कारणता के उक्त लक्षण के अनुसार उन सभी पदार्थों को विवक्षित फल का कारण मानना पड़ेगा। दूसरे, कई उदाहरणों में कारण विवक्षित फल के अव्यवहित पूर्व में नहीं भी रहता है ऐसा दिखायी देता है। फिर भी उनमें कारणता का व्यवहार होता है। जैसे, 'वृष्टि से सुभिक्ष होता है' यहाँ वृष्टि सुभिक्ष के अव्यवहित पूर्व में न हो कर भी वह सुभिक्ष का कारण कहलाती है। वैसे ही याग स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान न होने पर भी स्वर्ग का कारण माना जाता है। उसी प्रकार आकाश कार्यमात्र के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान होने पर भी उसे हरेक कार्य का कारण नहीं माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण अव्याप्त तथा अतिव्याप्त दोनों ही रूप में प्रस्तुत हो जाने से स्वीकार्य नहीं हो सकता।

---

तदभाव प्रयोजकीभूताभाव प्रतियोगित्व[२] माने उस विवक्षित वस्तु के अभाव के लिये प्रयोजक होने वाले अभाव का प्रतियोगी होना भी कारणता का स्वरूप है ऐसा कुछ मानते हैं। जैसे, सुभिक्ष के अभाव का प्रयोजन है वृष्टि का अभाव। अतः उस अभाव की प्रतियोगी वृष्टि सुभिक्ष का कारण है। परन्तु यह लक्षण भी दोषरहित नहीं है। कारणता का ऐसा स्वरूप मानने पर घट के उत्पादक संयोग का कारण घट है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि घट के उत्पादक संयोगाभाव का व्यापक (प्रयोजक) अभाव घट का अभाव भी है। और उसका प्रतियोगी घट होने से घट स्वयं घट के उत्पादक संयोग का कारण बन जायेगा।

कुछ नैयायिक कारणता माने कारण का कार्य के साथ होने वाला विशेष प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं।[३] इस मत में कोई भी संबंध दो संबंधियों से निरूप्य होने से कारणता कार्य और कारण इन दोनों से ही निरूप्य (प्रदर्श्य) होती है। परंतु कारणता को स्वरूप संबंध का एक प्रकार मानने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह स्वरूप सम्बन्ध कारण-स्वरूप है या कारणतावच्छेदक धर्म-स्वरूप है यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि वह कारण-स्वरूप हो तो वस्तु (दण्ड) आदि का ज्ञान होते ही उस में (घट की) कारणता का ज्ञान होना चाहिये। उसी प्रकार कारणता कारणतावच्छेदक दण्डत्व-स्वरूप हो तो दण्डत्व का ज्ञान होते ही दण्ड में घट-कारणता का ज्ञान होना चाहिये। कारणता को कारण-स्वरूप मानने पर 'दण्ड कारण है'' यह व्यवहार नहीं होना चाहिये, क्योंकि दण्ड और कारणता एक होने से ''दण्ड कारण है'' इसका अर्थ होगा ''दण्ड दण्ड है'' और ''दण्ड दण्ड है'' ऐसा प्रयोग कहीं भी कभी भी सार्थकतया नहीं होता है।

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार अन्यथासिद्ध से भिन्न नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना ही कारणता है।[४] जैसे, दण्डमात्र घट के पूर्व नियम से रहता है तथा वह अन्यथासिद्ध से भिन्न होने से घट का कारण माना जाता है। जिस धर्म से जो वस्तु जिस कार्य की पूर्ववृत्ति मालूम पडती है वह धर्म उस कार्य की दृष्टि से अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, घट-स्वरूप कार्य के लिये दण्ड में रहने वाला दण्डत्व धर्म अन्यथासिद्ध है। क्योंकि दण्ड दण्डत्व धर्म से नियमित हो कर घट का कारण होता है। उसी प्रकार इतर कारण के साथ जिस रूप (धर्म) से युक्त (पदार्थ) जिस कार्य के पूर्व में विद्यमान रहता है उस (रूप-धर्म) से युक्त पदार्थ उस के कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। उसी प्रकार गदाधर के मत में[५] दण्डसमवहित चक्रत्वावच्छिन्न चक्र भी द्वितीय अन्यथासिद्ध है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने[६] घट के लिये दण्ड-रूप को ही द्वितीय अन्यथासिद्ध माना है, दण्डसमवहित चक्र को नहीं माना है। चक्र घट के लिये दण्ड के समान ही स्वतन्त्र कारण है। जब कि गदाधर चक्र को दण्डसमवहित के रूप में नियतपूर्व में विद्यमान मान कर उसे अन्यथासिद्ध मानते हैं।

दूसरे किसी पदार्थ के पूर्व में विद्यमानता का ज्ञान होने पर ही जिस धर्म से युक्त पदार्थ प्रकृत कार्य के पूर्व में विद्यमान के रूप में ज्ञात होता है वह उस कार्य के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध माना जाता है।[७] जैसे, ज्ञान आदि के लिये आकाश। क्योंकि आकाश की शब्द के समवायि कारण के रूप में स्थापना होने पर ही ज्ञान आदि के पूर्व में उसकी विद्यमानता अवगत होती है। ज्ञान का पूर्ववर्ति होने के लिये आकाश को पहले शब्द का पूर्ववर्ति होना पड़ता है। चूंकि शब्द की उत्पत्ति सर्वत्र होने से आकाश सर्वव्याप्त है, अतः वह ज्ञानादि का भी पूर्ववर्ति है। उसी प्रकार घट के लिये कुम्हार का पिता भी अन्यथासिद्ध है। कुम्हार का पिता कुम्हार का पूर्ववर्ति होने से घटका पूर्ववर्ति है। अतः घट का पूर्ववर्ति होने के लिये उसे पहले कुम्हार के पूर्व में रहना आवश्यक है। अतः कुलाल का पिता घट के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध है।

विश्वनाथ पंचानन ने कुलाल के पिता को चतुर्थ अन्यथासिद्ध के रूप में प्रस्तुत किया है।[८] उनके मतानुसार जिस कार्य के जनक के पूर्व में जो रहता है वह उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध है। कुलाल घट कार्य का जनक होने से कुलाल का पिता घट कार्य के जनक कुलाल के पूर्व में रहने से घट के पूर्व में रहता है। अतः वह घट की दृष्टि से अन्यथासिद्ध है।

यहाँ एक बात यह ध्यातव्य है कि याग अपूर्व का पूर्ववृत्ति हो कर ही स्वर्गादि का पूर्ववृत्ति होने पर भी अन्यथासिद्ध नहीं है। कारण याग अपूर्व के पूर्ववृत्ति के ग्रहण के बिना ही स्वर्गादि पूर्ववृत्ति का ग्रहण होता है। अपूर्व यह याग से जन्य व्यापार होने से व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धि' के नियमानुसार वह अन्यथासिद्ध नहीं है। परन्तु कुम्भकार का पिता कुम्भकार का जनक (व्यापारक) होने पर भी अन्यथासिद्ध ही है। अवश्यतया स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति पदार्थ के रहने से ही कार्य उत्पन्न होता है। उसके साथ रहने वाला जो भी हो वह उस कार्य की दृष्टि से वहाँ अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, पाकज गन्ध के लिये रूप का प्रागभाव अन्यथासिद्ध है। वह चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध है। क्योंकि जहाँ पाकज गन्ध के प्रागभाव का अभाव है तथा रूप का प्रागभाव है वहाँ सुरभि और असुरभि गन्धयुक्त अवयवों से उत्पन्न घट में गन्धोत्पति के लिये नियतपूर्ववृत्ति-रूप प्रागभाव को कारण न मान कर अन्यथासिद्ध ही मानना पड़ेगा। क्योंकि पाकज

गन्ध के अवश्यरूप से स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति अग्नि-संयोग है और उसी में कार्योत्पादकता सिद्ध होती है, नियतपूर्ववृत्ति-रूप प्रागभाव में नहीं ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने[१०] 'अवश्यक्लृप्त' यह लक्षण पंचम अन्यथासिद्ध का बताया है । जब कि गदाधर पंचम अन्यथासिद्ध का ऐसा लक्षण करते हैं कि प्रकृत कार्य के लिये जिस धर्म का गुरुभूत होने वाला व्याप्यधर्म कारणता का अवच्छेदक होता हो उस धर्म से अवच्छिन्न (पदार्थ) प्रकृत कार्य की दृष्टि से अन्यथासिद्ध होता है ।[११] जैसे, घट की दृष्टि से द्रव्यत्वावच्छिन्न (पदार्थ) घट आदि प्रकृत कार्य की जो कारणता है उसका अवच्छेदक धर्म दण्डत्व आदि हैं । दण्डत्व यह द्रव्यत्व-व्याप्त-धर्म है । अतः कारणतावच्छेदक दण्डत्व द्रव्यत्व-व्याप्य होने से द्रव्यत्वावच्छिन्न (द्रव्य) अनन्यथासिद्ध है, जब कि वही दण्ड दण्डत्वावच्छिन्न के रूप में घट का कारण है ।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो नियतपूर्ववृत्तिता के नियामक जिस धर्म से युक्त के लिये जिस कार्य की दृष्टि से कारणता का व्यवहार नहीं होता है उस धर्म से युक्त वस्तु उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध होती है ।[१२] इसलिये शब्द के पूर्व में विद्यमानता का बोध न होने पर भी शब्द के समवायिकारण आकाश में ज्ञान आदि वस्तुओं की पूर्ववृत्तिता गृहीत होने पर आकाश अन्यथासिद्ध होता है । उसी तरह पूर्वसंयोग के नाश की पूर्ववृत्तिता का ज्ञान न होने पर भी विभाग में उत्तरसंयोग की पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने पर विभाग उत्तरसंयोग की दृष्टि से अन्यथासिद्ध ही है । घट-निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार कपाल (घट का अर्धाभाग) द्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है । सब से पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है । उसके बाद क्रिया से पूर्वस्थान से कपाल का विभाग होता है । उसके पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश होता है । पूर्वसंयोग के नाश के बाद उत्तर-संयोग (कपालद्वय का संयोग) होता है । तब घट उत्पन्न होता है ।

यही कारण है कि लघुधर्म से समनियत गुरुधर्म से युक्त कारण नहीं होता[१३], क्योंकि उसमें प्रामाणिकों का कारणत्व व्यवहार नहीं है । कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति प्रमेय दण्ड को घट का कारण नहीं मानता है । प्रमेय दण्डत्व से दण्डत्व लघुधर्म है । अतः वह दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) घट का कारण है, प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) नहीं । प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) अन्यथासिद्ध है । उसी प्रकार प्रतिबन्धकाभाव भी तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में कारण नहीं गिना जा सकता । प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र के लिये प्रतिबन्धकाभाव के रूप में ही कारण होता है, तद्व्यक्ति के रूप में नहीं । तद्व्यक्ति में कारणता का व्यवहार न होने से तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में वह अन्यथासिद्ध है ।

एक ही वस्तु किसी रूप से कारण होती है तो दूसरे रूप से अन्यथासिद्ध होती है । इसलिये 'अन्यथासिद्ध से भिन्न' यह विशेषण कारणता के लक्षण में लगाना उचित नहीं है ।[१४] अपितु जिस रूप से कुछ (वस्तु) अन्यथासिद्ध है उससे अन्य रूप से युक्त होना ही कारण का स्वरूप है । नियतपूर्ववृत्ति का अर्थ है नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना । क्योंकि अतीत, अनागत ऐसा अरण्यस्थ दण्ड भी घट का नियत पूर्ववृत्ति न होने पर भी नियतपूर्ववृत्ति वर्तमान दण्ड का सजातीय होने से उसमें भी स्वरूपयोग्यता-रूप कारणता रहती है । अत: अन्यथासिद्ध्यनिरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्त्व'[१५] अर्थात् अन्यथासिद्धि को प्रदर्शित न करने वाली नियतपूर्ववृत्तिता-रूप नियामक धर्म में कारणता है । उस नियामक धर्म से युक्त जो कुछ हो वह कारण कहलाता है ।

लेकिन उक्त लक्षण में प्रविष्ट 'नियतपूर्ववृत्ति' शब्द का क्या अर्थ है ? उसका कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) काल में रहना ऐसा अर्थ करने पर स्वर्ग के लिये याग कारण नहीं होगा । क्योंकि स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में याग नहीं रहता है । याग की क्रिया स्वर्ग के कई क्षणों के पूर्व में ही घटित हो चुकी होती है । यदि कालिक या व्यापार इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से कार्य के ठीक पूर्वक्षण में रहना ऐसा अगर 'नियतपूर्ववृत्ति' का अर्थ करें तो उक्त दोष का परिमार्जन हो जाता है । क्योंकि याग स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में कालिक सम्बन्ध से न रहने पर भी अदृष्ट-रूपी व्यापार सम्बन्ध से स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में रहता है । परन्तु ऐसा कहने पर विशिष्टबुद्धि और विशेषण-ज्ञान में जो कार्यकारणभाव है उसका विशिष्ट-स्मृति में व्यभिचार होने पर विशिष्ट अनुभव के लिये विशेषण-ज्ञान को कारण मान कर उत्पन्न होने वाले व्यभिचार का निराकरण अप्रामाणिक हो जायगा । कालिक और व्यापार अन्यतर (इन दोनों में से एक) सम्बन्ध ठीक पूर्वकाल में वृत्ति है ऐसा कहने पर उक्त कार्यकारण-भाव का स्मृति में व्यभिचार नहीं होता । अनुभवात्मक विशिष्ट ज्ञान के ठीक पूर्वक्षण में विशेषण-ज्ञान कालिक सम्बन्ध से तथा स्मृत्यात्मक विशिष्ट-ज्ञान के ठीक पूर्व में विशेषण-ज्ञान संस्कार-रूप व्यापार सम्बन्ध से रहता है । अत: विशेषण-ज्ञान की विशिष्ट-स्मृति का भी कारण उक्त दोनों में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ।

परन्तु उक्त अन्यतर सम्बन्ध से अव्यवहित (ठीक) पूर्ववृत्तिता का कारणता के लक्षण में समावेश करने पर तन्तु एवं तन्तु-संयोग को भी घट का कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि तन्तु भी स्थानविशेष से घट के ठीक पूर्व में विद्यमान हो सकता है । अत: कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) क्षण में कार्य के आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी जो न हो वह कारण है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।[१६] उदाहरण के लिये घट के ठीक पूर्वक्षण में दण्ड का अभाव नहीं रहता है तन्तु

आदि का अभाव रहता है । अतः उस अभाव का प्रतियोगी तन्तु घट का कारण नहीं है । उस अभाव का अप्रतियोगी दण्ड ही घट का कारण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

वैसे ही कारण के लक्षण में 'कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में' इस अंश का समावेश न करने पर घट के आश्रय कपाल (अर्धभाग) में कपाल की उत्पत्ति के काल में घट की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत कपालद्वय के संयोग का अभाव रहता है (क्योंकि नियम यह है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं एकं अगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' ।) उस अभाव का प्रतियोगी उक्त संयोग होने से वह घट का कारण नहीं होगा ।[१७] 'कार्य के ठीक पूर्व में' इस अंश का समावेश उक्त लक्षण में करने पर कपाल की उत्पत्ति के काल में न रहने वाला संयोग घट की उत्पत्ति के ठीक पूर्वक्षण में कपाल में रहता है । अतः वहाँ (कपाल में) उसका अभाव नहीं है । तथापि वहाँ (कपाल में) जल आदि जिसका अभाव है उसका अप्रतियोगी कपालद्वय का संयोग होता है । अतः वह घट का कारण होता है ।

दर्शन विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४११ ००७

बलिराम शुक्ल

## टिप्पणियाँ

१. उदयन; पूर्वाभावो हि हेतुत्वम् । *न्यायकुसुमाञ्जल्याम्*

२. जगदीश; *कारणतावादे*

३. स हि स्वरूपसम्बन्धविशेषो न कारणस्वरूपः तदवच्छेदकीभूत धर्मस्वभावो वा ?–*वहीं*

४. हरिदासी; व्यतिरेकत्वं न कारणत्वं किन्त्वन्यथासिद्ध-नियतपूर्वभावः । न्यायकुसुमाञ्जल्याः टीकायाम्

५. गदाधर; यथा घटादिकं प्रति दण्डरूपत्वद्यवच्छिन्नम् दण्डसमवहित चक्रत्वाद्यवच्छिन्नञ्च । *कारणतावादे*

६. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्*, प्रत्यक्षखण्डे

७. गदाधर; अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञान एव यद्रूपावच्छिन्नस्य प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववृत्तिताग्रहस्तद्रूपावच्छिन्नं तत्कार्यं प्रति अनन्यथासिद्धम्, यथा ज्ञानादिकं प्रति आकाशत्वाद्यवच्छिन्नम् । *कारणतावादे*

८. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

९. गदाधर; अपूर्वादि पूर्ववृत्तित्वमगृहीत्वापि यागत्वाद्यवच्छिन्ने स्वर्गादि पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवादपूर्वद्वारा न यागत्वाद्यवच्छिन्नस्य स्वर्गादि कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम । एतादृशस्थल एव व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः । *कारणतावादे*

१०. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्*, प्रत्यक्षखण्डे

११. गदाधर; प्रकृतकार्यं प्रति यद्धर्मव्याप्यधर्मस्यागुरोः कारणतावच्छेदकत्व संभवस्तदवच्छिन्नञ्च प्रकृतकार्ये अन्यथासिद्धम् । *कारणतावादे*

१२. *वहीं*

१३. अत एव लघुधर्मसमनियतगुरूधर्मावच्छिन्नस्य प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नस्य च न कारणत्वम् । *तत्रैव*

१४. एकस्यैव केनचिद्रूपेणान्यथासिद्धत्वात् रूपान्तरेण जनकत्वाच्च अन्यथासिद्धान्यत्वेन न कारणं विशेषण-निष्ठम् । *तत्रैव*

१५. तथाचान्यथासिद्धय निरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्वं तद्धर्मपुरस्कारेण कारणत्वमिति समुदायार्थः । *तत्रैव*

१६. *वहीं*

१७. *वहीं*

# प्रतिक्रियायें

– १ –

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १४. अंक ३, जून १९९३ में प्रकाशित लेख "पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली में नैतिक मूल्य और उसकी प्रासंगिकता" वैचारिक दासता में जकड़े भारतीय समाज में स्वातंत्र्य के लिए बौद्धिक आकुलता की एक सुंदर अभिव्यक्ति है । बौद्धिक आकुलता के इस प्रवाह में आत्मगौरव (अपनी संस्कृति के प्रति) होना श्लाघ्य तो है लेकिन वैचारिक दासता से मुक्ति की आकुलता को दृढसंकल्प में परिवर्तित करने की लिए दासता का मूलान्वेषण कार्य धैर्यपूर्वक होना चाहिए । आतुरता में निष्कर्ष सतही भी हो सकते हैं । लेख में कतिपय ऐसे स्थल हैं, जहाँ और अधिक स्पष्टता, और विस्तार अपेक्षित है । कुछ ऐसे स्थलों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है ।

१. पृष्ठ २१६ के द्वितीय पैराग्राफ में लिखा है "आध्यात्मिक संस्कृति होने के कारण यहाँ आत्म से अनात्म को गौण माना गया, जबकि भौतिकवादी संस्कृति में भौतिक जगत् को अधिक महत्त्व दिया जाता है । "यहाँ 'गौण' और 'अधिक' शब्द व्याख्यापेक्षी हैं । 'गौण" शब्द की अस्पष्ट सी व्याख्या अगले वाक्य में है– "भारत में सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र आत्मा को स्वीकार करने के कारण उसी की अनुभूति या प्राप्ति को जीवन की सफलता और पूर्णता माना गया है ।" भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का यह चित्र स्पष्टतः पूर्ण नहीं है । भारतीय संस्कृति में अनात्म को गौण माना गया है– ऐसा निष्कर्ष उचित नहीं है । आत्मा 'साध्य' माना जाने से यह संस्कृति आध्यात्मिक है, लेकिन साधन तो अनात्म ही है । अनात्म की उपस्थिति और उसके माध्यम से ही आत्मा साध्य है– अन्यथा नहीं। साध्य और साधन समकक्ष नहीं होते । अतः साधन को "गौण" तो नहीं कहा जा सकता । हाँ, आत्म-अनात्म दोनों यदि साध्य रूप में मान्य हों तब किसी को गौण, किसी को प्रधान कहा जा सकता है । भारतीय संस्कृति में अनात्म को गौण माना भी नहीं गया । पुरुषार्थ की स्वीकृति अनात्म से आत्म के घनिष्ठ संबंधों की स्वीकृति ही है । हाँ, बौद्ध और शांकर परंपरा में अवश्य अनात्म

को गौण माना जा सकता है, लेकिन भारतीय संस्कृति इनसे बहुत प्राचीन है। (''अनात्म'' गौण है– ऐसा प्रचार भी वर्तमान भारतीय समाज में परिलक्षित मूल्य विस्थापन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।) फिर ''अंधं तमः प्रविशन्ति ''...की चेतावणी, ''विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह'' का उपदेश, वेदों में हर प्रकार की शक्ति की कामना-याचना वाले मंत्र तथा *गीता* का कर्मयोग; ये सब भी भारतीय संस्कृति के स्वरूप निर्धारक है। फिर सर्वंखल्विदं ब्रह्म का घोष अनात्म की गौणता का नहीं, महत्ता का संकेत करता है। सांख्यमत में प्रकृति पुरुष विवेक की अनिवार्यता स्वीकार की गई है, केवल पुरुष ज्ञान की नहीं। ये सब भारतीय संस्कृति के ही निर्भ्रान्त तत्त्व हैं। अनात्म की महत्ता तो इतनी है कि उसे समझे बिना उससे मुक्त ही नहीं हुआ जा सकता।

२. पृष्ठ २२५ तीसरे पैराग्राफ में लिखा है– ''पारम्परिक मूल्य प्रणाली के विस्थापन की प्रक्रिया में जिन घटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें से प्रथम है पराधीन भारत पर थोपी गई शिक्षा पद्धति''।

क्या इस तरह के निष्कर्ष तक पहुँचने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं था ? सैकड़ों शताब्दियां तक अनेक ऋषियों-मनीषियां के गंभीर चिंतन और अनुभव से स्थापित मूल्य मात्र १००-१५० वर्षों के प्रयासों से विस्थापित हो गए ? यदि यह सत्य है तो, क्यों उक्त मूल्य प्रणाली को समृद्ध कहा जाए ? आधुनिक भारत के वैचारिक दारिद्र्य का ही नहीं, अधिकांश महत्त्वपूर्ण समस्याओं का कारण ब्रिटिश प्रणाली और नीतियों पर ड़ाल देने की भारत में प्रथा हो गई है। वर्षों से पल्लवित संस्कृत्याधारित समृद्ध मूल्य प्रणाली थोड़े से लोगों द्वारा अल्पावधि में विस्थापित हो गई– ऐसा निष्कर्ष क्या संतोषप्रद है ? हमारी मूल्यांकन प्रक्रिया में कहीं कोई गंभीर दोष है जिसने हमारे मूल्यबोध को विकृत और अशक्त कर दिया है। ब्रिटिश या यूरोपीय विचारों ने तो मात्र ढ़ांचे को ढ़हाने का कार्य किया है। हमारी मूल्यांकन प्रक्रिया का वह दोष कहाँ है, क्या है– यह विचारणीय है। तब ही आयातित मूल्य प्रणाली के वशीभूत होने का कारण स्पष्ट होगा। मेरे विचार में– संसार को केवल दुःखमय मानना, मिथ्या अनर्थकारी और फलतः त्याज्य मानना, आत्मा-परामात्मा में अभेद मानना, अहिंसा के सिद्धांत के अतिप्रचार, आदि ने समाज की मूल्यदृष्टि को विकृत किया है। इस पर विस्तार से किसी स्वतंत्र लेख में अपने विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। यहाँ केवल इतना ही वक्तव्य है कि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली पर दोष मढ़ देना उचित नहीं है।

३. पृष्ठ २२६ पर लिखा है– ''इस पश्चिमी सांस्कृतिक आक्रमण के कारण भारतीय समाज में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित हुईं। द्वितीय पूर्णतः अतीतोन्मुख

हो जाना अर्थात् अतीत का अंधानुकरण, जिसकी एक अभिव्यक्ति धार्मिक पुनरुत्थानवाद के रूप में हम सभी देख रहे हैं ।''

उपर्युक्त वाक्यों को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ । 'पूर्णत: अतीत का अंधानुकरण' जैसा कुछ, किसी भी समाज में संभव नहीं होता । हम सदा वर्तमान में जीते हैं । इस वर्तमान का स्वरूप अतीत से घनिष्ठतापूर्वक संबंधित रहता । है अतीत के ऐसे तत्त्व जिनकी वर्तमान प्रासंगिकता न हो, जीवंत समाज में स्वत: लुप्त हो जाते हैं । वर्तमान में 'अतीत' उतना ही और उसी रूप में जीवित रहता है जिसका महत्त्व हो । अत: 'पूर्णत: अतीत का अंधानुकरण' कथन ही उचित नहीं है । हाँ, लेख में यदि इस अंधानुकरण के कुछ उदाहरण होते तो उक्त कथन को समझा जा सकता है ।

फिर अतीत के अंधानुकरण की एक अभिव्यक्ति ''धार्मिक पुनरुत्थानवाद' के रूप में भारत में कहीं है, ऐसा कम से कम मुझे तो दिखाई नहीं पड़ता । यदि स्पष्ट संकेत किया जाता तो समझने में सुविधा होती ।

बी. कामेश्वर राव

दर्शन विभाग,
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर–४९२०१०
(म. प्र.)

## पारम्परिक भारतीय मूल्य-प्रणाली में नैतिक मूल्य और उनकी प्रासंगिकता : एक प्रतिक्रिया

– २ –

जून, ९३ के *परामर्श (हिन्दी)* में प्रकाशित प्रो. छाया राय का सुविचारित एवं सुव्यवस्थित लेख, मूल्यों के वर्तमान संक्रमणशील युग में कई दृष्टियों से विचार-विमर्श के योग्य है। यहाँ मैं केवल कुछ शंकायें व्यक्त करना चाहूँगा। मेरे विचार से भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक मानना भ्रामक है। एक तो आध्यात्मिक दर्शन प्रधान होने मात्र से कोई संस्कृति आध्यात्मिक नहीं हो जाती, क्योंकि उसमें दर्शन के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी समाहित होते हैं। दूसरे, भारतीय संस्कृति का अर्थ समझने के लिये जैन, बौद्ध, ईसाई एवं इस्लाम ग्रन्थों, परम्पराओं का भी अध्ययन आवश्यक है, केवल *उपनिषद्*, *गीता* या वेदान्त की आधुनिक परम्परा के अध्ययन से यह कार्य अधूरा ही रह जाएगा। तीसरे, लोक व्यवहार एवं मूल्यों के वास्तविक निष्पादन में सामाजिक परिस्थितियों का योगदान, दार्शनिक चिंतन से अधिक होता है। क्या आज हम चाहकर भी मध्ययुगीन, भोली-भाली आध्यात्मिकता का वरण कर सकते हैं ?

आधुनिक संदर्भ में यह प्रश्न निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है कि हमें नैतिक क्यों होना चाहिये ? इसके उत्तर के लिये डॉ. राय ने धर्म की जिस अवधारणा ("मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है" पृ. २१७) की ओर इंगित किया है वह कितना पारम्परिक दृष्टि से समर्थित है यह कहना कठिन है क्योंकि आज "धर्म" शब्द के इतने अर्थप्रयोग किये जा रहे हैं कि उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं रह गया है। यदि यह मान भी लिया जाये कि किसी वस्तु की 'विधायक आन्तरिक वृत्ति धर्म' है तो भी इससे यह सिद्ध कर पाना कठिन है कि मनुष्य की विधायक आन्तरिक वृत्ति (या वृत्तियाँ) मनुष्यत्व है। यदि मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप ऐसा ही होता तो फिर किसी नैतिक संकट की संभावना ही कहाँ थी। वास्तव में मनुष्य तो विभिन्न वृत्तियों के अन्तर्विरोध में जीता है और इसी कारण नैतिक विमर्श की आवश्यकता होती है। छाया जी का यह कथन कि "इस जीवन के अभ्युदय तथा भावी जीवन में निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये नैतिक होना चाहिये"

कैसे युक्तिसंगत लग सकता है जब इस जीवन में शक्ति, समृद्धि और प्रतिष्ठा अनैतिक आचरण से ही प्राप्त होती हो और किसी पुर्नजन्म की संभावना भी संदिग्ध हो ? ऐसे में नैतिकता अनावश्यक बोझ बनकर रह जाती है और पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली का प्रो. राय द्वारा किया गया विद्वत्तापूर्ण और श्रमसध्य विवेचन आकर्षित नहीं कर पाता । सफलता ही आज का चरम मूल्य है और नैतिक होना उसकी प्राप्ति में बाधा । फिर क्यों कोई नैतिक होना चाहे ?

यदि साधनमूल्य और साध्य मूल्य के वरीयता क्रम बदल जाने मात्र से ही यह नैतिक संकट उत्पन्न हुआ होता तो शायद नैतिक उपदेशों से कुछ सीमी तक लाभ अवश्य होता । किंतु विडम्वना तो यह है कि जिसे छाया जी साध्य मूल्य माने बैठी हैं उन्हे अधिकांश मान्यता देने को तैयार ही नहीं । उनके लिये तो वही साध्य है जिसे वे साधन मूल्य मानती हैं फिर भी विस्थापन की इस प्रक्रिया को समझने का प्रयास सराहनीय है । लेकिन जो कारण लेख में गिनाये गये हैं (ब्रिटिश शिक्षा पद्धति, उपभोक्तावादी संस्कृति, और मार्क्स, फ्रायड, डारविन की खोजें) उनमें सारा दोष पश्चिम के ऊपर थोंप दिया गया है । यहाँ ये प्रश्न उठने स्वाभाविक ही हैं कि पश्चिम में भी सदियों तक आध्यात्मिक दर्शन का बोलवाला रहा है फिर क्यों धीरे-धीरे वहाँ भौतिकवादी संस्कृति हावी होती गई ? और फिर क्या कारण था कि "आध्यात्मिक पूर्व" का सूर्य भारत भी उसके अंधेरे में डूब गया ? जिस आध्यात्मिक संस्कृति की चर्चा करते हम नहीं अघाते, क्या उसकी जनजीवन में कोई गहरी पकड़ कभी थी या नहीं ? क्या आज हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को नकार कर मूल्यों की बात सोच सकते हैं ? क्या उपभोक्ता संस्कृति से बचने के लिये संचार-क्रान्ति से मुँह मोड़ा जा सकता है ? क्या डारविन, फ्रायड और मार्क्स की खोजों के वैज्ञानिक सत्य (अंशतः ही सही) को नकारना उचित होगा ? यदि दोष आधुनिक चिन्तन में है तो क्या नैतिकता का आधार अज्ञान है ? कार्ल मार्क्स, जिसका संपूर्ण दर्शन ही पूंजीवाद (आर्थिक मूल्यों की सर्वोच्चता) के विरुद्ध है तो उस पर हमें "अर्थलोलुप" बना देने का आरोप करना दुराग्रह मात्र है । हम अपने नैतिक पतन के लिये दूसरों को जिम्मेदार ठहराना कब छोड़ेंगे ?

पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली की प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिये उसकी युगानुरूप पुनर्व्याख्या की बात लेखिका ने उचित ही उठाई है, किन्तु यह बताने से चूक गई कि क्या रखना है और क्या त्याग देना है, (जैसे कर्म सिद्धान्त, वर्ण व्यवस्था आदि) ? यह अलग अलग करने का विवेक मंत्र क्या होगा ? साथ ही यह भी बताना जरूरी है कि आधुनिक वैज्ञानिक विश्व को स्वीकारने

में क्या-क्या सावधानियाँ वरतनी होगी ? इसके लिये हमें परम्परागत मूल्य प्रणाली से बाहर आना पड़ेगा, क्योंकि लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता ऐसी अवधारणायें हमने दूसरे समाजों से ली हैं और उन्हें अव हम छोड़ नहीं सकते। सच तो यह है कि नये युग की चुनौतियों का सामना हम पुरानी वैसाखियों के सहारे नहीं कर सकते। जरूरत पुनर्व्याख्या की नहीं, नवीन सर्जन की है जिसकी भट्ठी में पुरातन और आधुनिक दोनों को अग्निपरीक्षा से गुजरना होगा।

आलोक टण्डन

५३, अशराफ टोला,
हरदोई (उ. प्र.) २४१००१

# जीवन-योनि-यत्न

न्याय दर्शन में चौबीस गुण माने गए हैं । प्रयत्न नामक विशेषगुण आत्मा में रहता है । यह प्रयत्न प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं जीवनयोनि-यत्न रूप में तीन प्रकार[1] का माना गया है । प्रवृत्ति नामक प्रयत्न राग से उत्पन्न होता है । जिस विषय के प्रति मनुष्य में राग देखा जाता है उसी विषय में मनुष्य की सहज प्रवृत्ति भी देखी जाती है। जिस विषय के प्रति मनुष्य में द्वेष होता है उस विषय में मानव की स्वाभाविक रूप से निवृत्ति देखी जा सकती है । शरीर में स्वाभाविक रूप से श्वास-प्रश्वास की जो गति (क्रिया) देखी जाती है इसका कारण जो आत्मा में रहने वाला प्रयत्न होता है उसी को 'जीवन-योनि-यत्न'[2] के नाम से जाना जाता है ।

शरीर में श्वास-प्रश्वास की गति मनुष्य जब तक जीवित रहता है तब तक देखी जाती है । इसी कारण इस श्वास-प्रश्वास गति का कारण आत्मा में रहने वाला यह 'जीवन-योनि-यत्न' भी मनुष्य के जीवित रहने तक रहता ही है । श्वास-प्रश्वास की गति के कारण 'जीवन-योनि-यत्न' नामक प्रयत्न का प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसीलिए इस प्रयत्न को न्याय दर्शन में अतीन्द्रिय[3] माना गया है ।

जिस समय कोई मनुष्य दौड़ता है, उस समय श्वास-प्रश्वास की गति में विशेष उत्कर्ष अनुभव-सिद्ध है । इस समय होने वाली श्वास-प्रश्वास की गति का कारण प्रयत्न-विशेष का अनुभव सभी को साक्षात् होता है । ठीक इसी प्रकार सामान्य स्थिति में जो सहज श्वास-प्रश्वास की गति होती है उसका भी कोई यत्न-विशेष, कारण अवश्य है । जो यत्न-विशेष कारण है, वही जीवन-योनि-यत्न है, यह अनुमान से सिद्ध होता है । शरीर में कोई भी क्रिया यदि होती है तो उसका कारण प्रयत्न होता ही है । जब हम कहीं भ्रमण के उद्देश्य से जाते हैं तो हमारे पावों में क्रिया होती है । यह क्रिया तब तक नहीं सम्भव है जब तक हमारी आत्मा में भ्रमण के लिए आवश्यक प्रवृत्ति नामक प्रयत्न नहीं उत्पन्न होता है ।

इसी कारण शरीर में श्वास-प्रश्वास की गति का भी कारण 'जीवन-योनि-यत्न' नामक प्रयत्न-विशेष मानना अनिवार्य ही है ।

न्याय दर्शन के नवीन आचार्य 'जीवन-योनि-यत्न' नामक इस प्रयत्न को नहीं स्वीकार करते हैं। ये लोग अदृष्ट–विशेष से होने वाले आत्मा एवं मन के संयोग को ही जीवन मानते हुए इस मनोयोग-रूप जीवन के कारण ही श्वास-प्रश्वास क्रिया होती है ऐसा मान लेते हैं। अथवा इस प्रकार के जीवन का कारण अदृष्ट ही श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया को सहज रूप में सम्पन्न करता है, ऐसा मान कर ये 'जीवन-योनि-यत्न' को स्वतंत्र रूप से मानना अनावश्यक मानते हैं।

प्राण-क्रिया का जनक यदि 'जीवन-योनि-यत्न' को स्वीकार करेंगे तो सुषुप्ति में भी प्राण क्रिया के होने से जीवन-योनि-यत्न मानना ही होगा। यत्न चाहे जैसा भी हो, वह ज्ञान से उत्पन्न होता है। जब कभी भी हम किसी वस्तु को जानते हैं तो उसकी इच्छा होती है, और फिर हममें उस वस्तु को प्राप्त करने का उत्साह या प्रयत्न देखा जाता है। सुषुप्ति में जब मन पुरीतति नाड़ी में त्वगिन्द्रिय को छोड़कर प्रविष्ट हो जाता है, उस समय यदि 'जीवन-योनि-यत्न मानेंगे तब इस अवस्था में इस प्रयत्न का जनक अतीन्द्रिय ज्ञान मानना मी आवश्यक होगा, जब कि न्यायदर्शन सुषुप्ति काल में किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार सुषुप्ति में किसी प्रकार के ज्ञान के न उत्पन्न होने के कारण ज्ञान से होने वाला किसी भी प्रकार का यत्न भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है। फलतः, नव्य-नैयायिकों के अनुसार 'जीवन-योनि-यत्न' नामक प्रयत्न न मानना उचित ही प्रतीत होता है।

## प्रयत्न से सम्बद्ध अन्य मान्यताएँ

वैशेषिक दर्शन के आचार्य प्रशस्तपाद ने प्रयत्न, संरम्भ एवं उत्साह को पर्यायवाची माना है। प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार यह प्रयत्न दो प्रकार का है। कुछ प्रयत्न जीवन-पूर्वक होते हैं तथा कुछ इच्छा, द्वेषपूर्वक होते हैं। शरीर एवं धर्म-अधर्म (विपच्यमान कर्माशय) से युक्त आत्मा का जो मन के साथ संयोग होता है यही जीवन है। यह आत्मा एवं मन का संयोग जीवात्मा में विद्यमान धर्म एवं अधर्म का कारण होता है। "जीवनं पूर्वं धारणं यस्य सः जीवनपूर्वकः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म एवं अधर्म तथा शरीर से विशिष्ट आत्मा एवं मन का संयोगरूप जीवन पहले होता है। फिर बाद में इस जीवन से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, उसी प्रयत्न को 'जीवनपूर्वक' या 'जीवन-योनि-प्रयत्न' यह संज्ञा देते हैं। इसी प्रकार जो प्रयत्न इच्छा से या द्वेष से उत्पन्न होता है उसको हम इच्छा, द्वेषपूर्वक प्रयत्न कहते हैं। इच्छा द्वेषपूर्वक प्रयत्न को ही विश्वनाथ पञ्चानन आदि आचार्य प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप में दो प्रकार से विभक्त कर देते हैं। इनके मत में इच्छापूर्वक प्रयत्न को ही प्रवृत्ति एवं द्वेषपूर्वक प्रयत्न को ही निवृत्ति माना गया है।

वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य सोये हुए व्यक्ति की प्राणापान क्रिया के लिये तथा सोया हुआ व्यक्ति जिस समय उठता है उस समय मन का दूसरी इन्द्रिय से संयोग के लिये इस जीवन-पूर्वक प्रयत्न को अत्यावश्यक मानते हैं। सोये हुए व्यक्ति की श्वास-प्रश्वास क्रिया प्रयत्न से उत्पन्न होती है। यह तथ्य वैशेषिक दर्शन में 'क्रियात्व' हेतु से सिद्ध किया जाता है। संसार में कहीं भी, किसी भी प्रकार की क्रिया क्यों न हो, उसको उत्पन्न करने के लिये जीवात्मा में प्रयत्न या उत्साह आवश्यक होता है, यह अनुभव–सिद्ध है। जब कोई व्यक्ति सोया हुआ होता है, उस समय किसी भी प्रकार की इच्छा या द्वेष के न होने के कारण, इस समय इच्छा द्वेषपूर्वक प्रयत्न, श्वास-प्रश्वास क्रिया का कारण सम्भव नहीं है। फलतः श्वास-प्रश्वास क्रिया के कारण प्रयत्न के रूप में जीवन-पूर्वक प्रयत्न अनुमान से सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जिस समय जीव सोकर उठता है उस समय उठने के साथ ही जो मन एवं दूसरी इन्द्रिय का संयोग होता है यह संयोग मन में क्रिया के बाद ही हो जाता है। यह मन की क्रिया भी प्रयत्न-साध्य है। यहां भी इच्छा-द्वेष-पूर्वक-प्रयत्न के सम्भव न होने से जीवन-पूर्वक-प्रयत्न, मन में क्रिया को उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो जाता है। जब व्यक्ति जगा हुआ होता है उस समय भी मन अन्य इन्द्रियों से संयुक्त अवश्य होता है। उस समय भी मनुष्य श्वास-प्रश्वास अवश्य लेता है। पर जाग्रत अवस्था में इच्छा-द्वेष-पूर्वक-प्रयत्न के सद्भाव से मन की क्रिया तथा श्वास-प्रश्वास-क्रिया उत्पन्न हो जाती है, अतः जाग्रत अवस्था में इन क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये जीवन-पूर्वक-प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है।

यह जीवन-पूर्वक प्रयत्न प्रत्यक्ष का विषय इस लिये नहीं हो सकता क्यों कि सुषुप्ति में सभी इन्द्रियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है, तथा बिना इन्द्रिय व्यापार के प्रत्यक्ष असम्भव है। फलतः प्राण-क्रिया (श्वास-प्रश्वास) एवं अन्तःकरण (मन) की क्रिया से हम 'जीवन-पूर्वक-प्रयत्न' का अनुमान करते हैं।

जिस प्रकार परमाणु में होने वाली क्रिया, धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट से ही उत्पन्न होती है यह न्याय दर्शन में स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास रूप क्रिया अथवा अन्तःकरण की क्रिया भी अदृष्ट से ही सम्पन्न मान लें तो 'जीवन-योनि-यत्न' नामक प्रयत्न-विशेष की कल्पना अनावश्यक ही प्रतीत होती है। पर यदि जागते हुए मनुष्य में श्वास-प्रश्वास-क्रिया एवं अन्तःकरण (मन) की क्रिया प्रवृत्ति नामक प्रयत्न से होती है, यह सिद्ध है तो सुषुप्ति में भी यह क्रिया (श्वास-प्रश्वास) प्रयत्न-साध्य ही होगी। अतः 'जीवन-योनि-यत्न' नामक प्रयत्न स्वीकार करना ही अधिक उपयुक्त एवं स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था

में परमाणु की क्रिया को सम्पन्न करने के लिये भी यदि ईश्वर का प्रयत्न मान लें तो ईश्वर का प्रयत्न कार्य-भाव का कारण होने के फलस्वरूप, सुषुप्ति में श्वास-प्रश्वास क्रिया के पूर्व भी ईश्वर-प्रयत्न की सत्ता स्वतः सिद्‌ध है । इस प्रकार सोये हुए व्यक्ति में होने वाली प्राणापान-क्रिया को पक्ष बना कर प्राणक्रियात्व रूप हेतु जब हम सामान्य रूप से प्रयत्नपूर्वकत्व सिद्‌ध करते हैं तब यहां ईश्वर-प्रयत्नपूर्वकत्व के सिद्‌ध होने के कारण सिद्‌ध-साधन हो जाता है । इस सिद्‌ध साधन का निरास करने के लिये यदि सामान्य तथा प्रयत्नपूर्वकत्व को साध्य न मानें तथा संसारि-प्रयत्नपूर्वकत्व को ही साध्य के रूप में स्वीकार करें तब सिद्‌धसाधन तो नहीं होगा, परन्तु 'प्राणापान- क्रियात्व' रूप हेतु के 'जागरितत्व' रूप उपाधि से ग्रस्त हो जाने के कारण यह हेतु व्याप्यत्वासिद्धि नाम के दोष से ग्रस्त हो जाएगा ।

यद्यपि यह तथ्य है कि उपाधि-विशिष्ट हेतु व्याप्यत्वासिद्‌ध होता है, परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में जागरितत्व उपाधि है या नहीं इसका जब हम यह विचार करते हैं तब संसारि-प्रयत्नपूर्वकत्व रूप साध्य का व्यापक जागरितत्व नहीं है यह सिद्‌ध हो जाने से जागरितत्व उपाधि ही नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है । जो साध्य का व्यापक होते हुए साधन का अव्यापक होता है उसे ही हम उपाधि[४] मानते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में साधन क्रियात्व जहां-जहां है, जैसे सोये हुए मनुष्य की श्वास-प्रश्वास क्रिया में, वहां वहां जागरितत्व के न होने के कारण जागरितत्व धर्म साधन क्रियात्व का अव्यापक तो हो जाता है पर साध्य- संसारि-प्रयत्न-पूर्वकत्व जहां जहां है, जैसे सोये हुए मनुष्य की श्वास-प्रश्वास क्रिया में, वहाँ वहाँ 'जागरितत्व' धर्म के न होने के फलस्वरूप साध्य व्यापकत्व जागरितत्व में नहीं सिद्‌ध हो पाता है । जागरितत्व में इच्छा द्वेष-पूर्वक-संसारिप्रयत्न-पूर्वकत्व का व्यापकत्व ही संभव है और यह साध्य नहीं है । इस प्रकार उपाधि का लक्षण जागरितत्व में न होने के कारण स्वभाववद्‌वृत्तित्व रूप व्यभिचार सम्बन्ध से उपाधि-जागरितत्व से विशिष्ट हेतु-क्रियात्व के न होने से क्रियात्व को व्याप्यत्वासिद्‌ध मानना अनुपयुक्त ही है । तथापि क्रियात्व हेतु से यदि संसारि-प्रयत्न पूर्वकत्व सिद्‌ध करने का प्रयास करेंगे तो परमाणु-क्रिया में भी क्रियात्व हेतु के होने के कारण इसमें संसारि प्रयत्नपूर्वकत्व की आपत्ति अपरिहार्य हो जाएगी । इस प्रकार क्रियात्व हेतु में व्यभिचार होने के कारण इससे सुषुप्ति अवस्था की श्वास-प्रश्वास क्रिया में संसारिप्रयत्न का साधन असम्भव है, यह सिद्‌ध हो जाता है । यदि यह कहें कि संसारी का प्रयत्न उसी क्रिया के पूर्व होता है जिस क्रिया के आश्रय का ज्ञान संसारि को हो, परमाणु क्रिया में उपयुक्त क्रियात्व हेतु के होने पर भी हमें (संसारी को) परमाणु क्रिया के आश्रय परमाणु का ज्ञान न होने के फलस्वरूप, संसारिप्रयत्नपूर्वकत्व की

आपत्ति परमाणु क्रिया में नहीं दी जा सकती, तो प्राण (जीवन्तता) एवं अन्तःकरण की क्रिया के आश्रय प्राण एवं अन्तःकरण (मन) का ज्ञान ही हम संसारी को न होने के कारण प्राण एवं मन में क्रिया हेतु के होने पर भी 'संसारिप्रयत्नपूर्वकत्व' की सिद्धि न हो सकेगी यह अत्यन्त स्पष्ट है ।

ऐसी स्थिति में विभिन्न आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए मात्र क्रियात्व हेतु से प्राणापान एवं अन्तःकरण क्रिया में संसारिप्रयत्नपूर्वकत्व, सिद्ध कर पाना संम्भव नहीं है । किन्तु विवाद का विषय शरीर के भीतर होने वाली प्राण एवं अन्तःकरण की क्रिया हमारे प्रयत्न से सम्पन्न होती है, यह हम जब शरीर के भीतर होने वाली प्राण एवं अन्तःकरण क्रियात्व से सिद्ध करते हैं तो किसी भी प्रकार की आपत्ति या अनुपत्ति का अवसर ही नहीं रह जाता है । परमाणु की क्रिया में क्रियात्व के होने पर भी 'शरीर के भीतर' होने वाली प्राण एवं अन्तःकरण क्रियात्वरूप हेतु के न होने से हमारे प्रयत्न से परमाणु क्रिया होती है यह नहीं कहा जा सकता । ''यावदुद्यच्छते जन्तुस्तावत् कुर्यात् प्रतिक्रियाम्'' इस प्रकार के आगम - वचनों से भी सुषुप्ति में श्वास-प्रश्वास क्रिया का कारण 'जीवन-योनि-यत्न' सिद्ध हो जाता है ।

इच्छा एवं द्वेषपूर्वक प्रयत्न क्रमशः हितकारक वस्तु की प्राप्ति के लिये तथा अहितकारक वस्तु के परिहार के लिए होने वाले शारीरिक व्यापार का कारण माना जाता है । जो वस्तु हमारे हित के लिये होती है उस वस्तु को लेने के लिये जो हम इच्छा करते हैं तथा पुनः प्रयत्न या उत्साह हममें देखा जाता है इसे ही हम 'इच्छा-पूर्वक-प्रयत्न' या प्रवृत्ति कहते हैं । इसी प्रकार जो वस्तु हमारे लिये अहित या दुःखकारक होती है उस वस्तु से सम्बद्ध न होने के के लिए मानव- सामान्य में उस वस्तु के प्रति स्वाभाविक द्वेष भी अनुभवसिद्ध है । द्वेष के बाद उस वस्तु के परित्याग के लिए जो उत्साह-विशेष हममें देखा जाता है उसे ही हम 'द्वेषपूर्वक-प्रयत्न' या निवृत्ति मान लेते हैं । हमारा शरीर भारी होने के बाद भी जाग्रत अवस्था में गिरता नहीं है यह सभी जानते हैं । इस शरीर की व्यवस्थित स्थिति में भी 'इच्छा-पूर्वक-प्रयत्न' या प्रवृत्ति ही कारण है, इच्छा या द्वेषपूर्वक-प्रयत्न, इच्छा द्वेष सापेक्ष, आत्मा एवं मन के संयोग से ही उत्पन्न होता है यह वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है । यहाँ यह अवश्य ध्यान देना चाहिये कि यह जीव के प्रयत्न का विभाग है, ईश्वर का प्रयत्न तो नित्य एवं एक है ।

जैसे प्रयत्न नामक गुण स्वीकार किया जाता है, वैसे ही आलस्य भी एक अलग गुण नहीं माना जाता । जब मनुष्य में प्रयत्न का अभाव होता है

तभी उसमें अलसत्व व्यवहार देखा जाता है । फलतः प्रयत्नाभाव ही आलस्य है यह सिद्ध होता है । जिस प्रकार "अहं प्रयते"(मैं प्रयास करता हूँ ) इस प्रामाणिक प्रतीति के आधार पर प्रयत्न सिद्ध है, ठीक इसी प्रकार "अहं अलसः" (मैं आलस्य धरता हूँ ) इस प्रतीति के आधार पर आलस्य नामक गुण भी मान कर विपरीत रूप में प्रयत्न को ही आलस्याभाव रूप यदि मान लें तो क्या आपत्ति है, यह प्रश्न सामान्यतः उपस्थित होता है । जब हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि प्रयत्न के पर्याय-संरम्भ, उत्साह, प्रारम्भ एवं उद्यम हैं । हम उत्साही हैं, हम उद्यमी हैं यह जो हमें ज्ञान होता है इसका विषय अभाव है यह कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं मानता । इस प्रकार ज्ञान का विषय भाव ही होता है । इसके विपरीत आलस्य के पर्याय अनुद्यमी, अनारम्भक आदि शब्द माने जाते हैं । वह अनुद्यमी है इस प्रकार का ज्ञान उद्यमाभाव को ही विषय करता है, यह भी निर्विवाद है । फलतः प्रयत्न की भावरूपता स्पष्ट है तथा आलस्य को ही प्रयत्नाभाव रूप मानना उपयुक्त प्रतीत होता है । इस 'इच्छा-द्वेष-पूर्वक प्रयत्न' का मानस-प्रत्यक्ष होता है ।

नव्य-न्याय विभाग
श्री लालबहादुरशास्त्री
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली - ११००१६.

पीयूषकान्त दीक्षित

### टिप्पणियाँ

१. प्रवृत्ति निवृत्तिजीवनयोनियत्नभेदात् प्रयत्नस्त्रिविधः ।

न्या. सि. मु. गु. नि. पृ. ५०६

२. शरीरे प्राण-सञ्चारे कारणं तत्प्रकीर्तितम् ।

*कारिकावली*, १५२ का.,

३. 'यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत्'

*कारिकावली*,

४. तत्रोपाधिः साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकः । *चिन्तामणिः*, उपाधि प्र., पृ. ६६.

# तंत्रालोक के अनुसार शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध एवं शास्त्र-प्रामाण्य

किसी भी लौकिक वस्तु एवं व्यवहार के शुद्ध अथवा अशुद्ध होने तथा शुद्धि-अशुद्धि के कारण विधेय और निषिद्ध होने के विषय में तीन मत हैं : प्रथम मत मुक्ति के प्रसंग में कुछ विशिष्ट क्रियाओं का विधान करता है, दूसरा मत उसका सर्वथा निषेध करता है तथा इन दोनों से भिन्न तीसरा मत है जो अपने अनुयायियों को सब प्रकार से विधि-निषेध से परे रहने का उपदेश देता है। विधि को स्वीकार करने वाला प्रथम मत क्रमदर्शन का है जिसमें मुक्ति को क्रमिक माना गया है। निषेध का उपदेश देनेवाला दूसरा मत कुल-दर्शन का है जो आत्मानुभूति में किसी भी क्रम को नहीं मानता है। विधि और निषेध से परे रहने का उपदेश देने वाला तीसरा मत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का है। सत्तर्कों पर अधारित होने तथा समन्वय की दृष्टि को पूर्णता प्रदान करने के कारण उपर्युक्त मतों में तीसरा मत ही तात्त्विक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।

शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं व्यवहार एक संकुचित दृष्टिकोण है। इसका कारण वस्तु नहीं, अपितु प्रमाता है। यदि शुद्धता को वस्तु का धर्म माना जाता है तो उसे सदा शुद्ध ही रहना चाहिये और जब वस्तु स्वभावतः शुद्ध है तो उसके बारे में अशुद्धि के निवारण का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर यदि वस्तु का धर्म अशुद्धता का है तो उसे सदा अशुद्ध ही रहना चाहिये। क्योंकि स्वभावतः अशुद्ध वस्तु को किसी भी संस्कार से शुद्ध नहीं किया जा सकता[1]।

वस्तुओं को शुद्ध अथवा अशुद्ध मानने पर तीन दोष उत्पन्न होंगे। पृथ्वी को जल से और जल को पृथ्वी से शुद्ध मानने पर अन्योन्याश्रयता का दोष उत्पन्न होगा। अशुद्ध पृथ्वी अदि की अशुद्ध जल से शुद्धि मानने पर व्यर्थता का दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि दोनों ही समान रूप से अशुद्ध हैं। और यदि पृथ्वी को जल से, जल को वायु से, वायु को तेज से, तेज को आकाश आदि से शुद्ध

मानते हैं तो अनवस्था दोष होगा । अतः वास्तव में किसी भी वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है[२] ।

पृथ्वी आदि तत्त्वों में भी मन्त्रों की भाँति ही शिवात्मकता होने पर एक को अशुद्ध और दूसरे को शुद्ध मानने में क्या औचित्य है, इस शंका का समाधान यह है कि मन्त्रों में मनन एवं त्राण धर्म होता है और उसकी उसी रूप में अनुभूति होती है । किन्तु पृथ्वी आदि में ये धर्म नहीं होते हैं । इसलिए मन्त्र, पृथ्वी आदि से विलक्षण हैं । वस्तुतः पृथ्वी आदि सभी भाव पदार्थ शुद्ध हैं । किन्तु उन्हें अपनी शुद्धता का परिज्ञान नहीं होता । उनकी शुद्धता का परिज्ञान योगियों को होता है[३] ।

शुद्धि और अशुद्धि को विचार के उचित माननेवाले आचार्य कहते हैं कि न केवल लोक-व्यवहार में यह भेद विद्यमान है, अपितु धर्मशास्त्र स्वयं कुछ वस्तु एवं व्यवहार को शुद्ध तथा कुछ को अशुद्ध मानता है । अतः शुद्धि-अशुद्धि के विचार को उपर्युक्त तीन दोषों के उल्लेख के द्वारा उपेक्षित करना उचित नहीं है। इस शंका के निवारण में उत्तरपक्ष का कहना है कि शास्त्र तो दोनों ही तथ्यों के लिए प्रमाण है । एक ओर उनमें शुद्धि-अशुद्धि के विचार का समर्थन मिलता है, तो दूसरी ओर सभी वस्तुओं की शिवात्मकता का । अतः शुद्धि-अशुद्धि का यह प्रश्न वेद एवं आगम के प्रामाण्य के प्रश्न से जुड़ा है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुद्धि और अशुद्धि का विचार एवं भेददृष्टि तर्कसंगत नहीं है । शैव मतानुसार पारमार्थिक रूप में इस भेददृष्टि का कोई औचित्य नहीं है । फिर भी इस बिन्दु के अनिवार्य विवेचन में यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु संविद् के निकट है अथवा तदात्म है वह शुद्ध है, तथा जो उससे दूर अथवा उसके स्वभाव से पतित या च्युत है वह अशुद्ध है । दूसरे शब्दों में, संविद् से भेद एवं अभेद के आधार पर अथवा उसके स्वभाव की तद्रूपता एवं अतद्रूपता के आधार पर ही शुद्धि और अशुद्धि का विभाजन मानना उचित है । साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि इस विभाजन का मूल-आधार वस्तुस्वभाव न होकर प्रमातृधर्म है । अर्थात् स्वयं वस्तु अपने आप में शुद्ध अथवा अशुद्ध नहीं होती, बल्कि प्रमाता अपने संस्कार, ज्ञान के स्तरादि के भेदानुसार वस्तु को शुद्ध अथवा अशुद्ध रूप में देखता है । ऋषियों ने भी इसी नियमानुसार शुद्धि-अशुद्धि का विभाजन करते हुए लोक व्यवहार का निर्वाह किया था । वे शास्त्रों द्वारा निन्दित एवं लोक-विरुद्ध गोमांस का भक्षण संविद् से एकात्मता के आधार पर, उसे शुद्ध मानते हुए करते थे । उन्हीं ऋषियों ने साधारण लोगों के लिए मांस-भक्षण का निषेध केवल इसलिए किया है कि सामान्य जन उससे एकात्मता की अनुभूति किये बिना उसका उपभोग न करें।

वैदिक मतानुयायी आगमों को अप्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि वे वेद-बाह्य हैं। दूसरी ओर आगम मतानुयायी वेदों को अप्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि वे आगम-बाह्य हैं। वैदिक कथनों से निश्चित ही आगम-वचनों का अनेकत्र विरोध है। इस पर आगम मतानुयायी कहते हैं कि जहाँ तक विरोध का प्रश्न है केवल इसी आधार पर किसी शास्त्र को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं वेद में भी एक स्थान पर कही गई बात का दूसरे स्थान पर कही गई बात से विरोध मिलता है। जैसे कि सामान्य नियम के रूप में हिंसा का निषेध किया जाता है तथा अन्यत्र अपवाद रूप में हिंसा का समर्थन। वास्तव में किसी विधि का बाध दो प्रकार का होता है – कहीं समान-कार्यकारिता के कारण, और कहीं विरोध के कारण। प्रथम का उदाहरण है – 'चमसेनापः प्रणयेत्' इसमें चमसी का सामान्य विधान किया गया है। इसका बाध 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' के द्वारा होता है। दूसरे का उदाहरण है – 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति'। इसमें यूप के अष्टाश्रि होने का सामान्य विधान है, किन्तु इसका बाध 'बाजपेयस्य चतुरश्रः' की अपवाद विधि में प्राप्त होता है। इस प्रकार जब सामान्य विधि का विशिष्ट विषय में अपवाद होना स्वयं वैदिक मानते हैं तब आगमोक्त विधि के द्वारा वैदिक विधि का अपवाद क्यों नहीं माना जा सकता ?

मीमांसा दर्शन में अर्थवाद विधि-वाक्यों के अंग बनकर ही प्रमाण माने जाते हैं। उदाहरण के लिए 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस विधि-वाक्य का अंगभूत अर्थवाद वाक्य है 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'। परन्तु शैवदर्शन में शैवागम का प्रत्येक वाक्य स्वतंत्र रूप से प्रमाण है, वह किसी का अंग नहीं है। इस मत में अर्थवाद की न केवल स्वतंत्रता अपितु परतन्त्रता भी सत्य अर्थात् निरर्थक नहीं है। जैसे पद का अंग होने पर भी परस्पर सन्निधि के कारण वर्णों की निरर्थकता नहीं मानी जाती नहीं तो 'गज' पद में 'ग' एवं 'ज' इन दोनों की सन्निधि से बनने वाला 'गज' पद भी निरर्थक हो जायेगा, जबकि 'गज' पद सार्थक है। इस तरह अवयवों के निरर्थक होने पर अवयवी को भी निरर्थक मानना पड़ेगा। अर्थवाद विधि का अंग अथवा अवयव है अतः अर्थवाद को भी सार्थक एवं सत्य ही माना जाना चाहिये। लोक-व्यवहार भी अर्थवाद के अनुसार ही चलता है। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन की अर्थवाद सम्बन्धी मान्यता तर्क-सम्मत प्रतीत नहीं होती।

वस्तुतः शैव दर्शन का दृष्टिकोन यह है कि किसी भी शास्त्र को सर्वथा मिथ्या मानना उचित नहीं है, क्यों कि विज्ञानरूप परमेश्वर न केवल उनका रचयिता है अपितु वह स्वयं शास्त्रों के रूप में विद्यमान है। शिव अपनी स्वतंत्र इच्छा

के द्वारा ही जिस प्रकार भाव पदार्थों के रूप में अवस्थित है, उसी प्रकार वह शब्दात्मक शास्त्र के रूप में भी विद्यमान है[१]। तथापि शैवमतानुयायी मुमुक्षु को विविध शास्त्रों को देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिये। शास्त्रों की यह विविधता अधिकारि-भेद के कारण है[७]। परमेश्वर ने ही वेद आदि शास्त्रों का उपदेश संकोच एवं भेद के तारतम्य से किया है[८]। अतः जिस स्तर के अधिकारी के लिए जो शास्त्र उपदिष्ट है उसको उसी का आचरण करना चाहिये। परन्तु जहाँ तक शैवसाधक का प्रश्न है, उसे केवल शैवोगमों का ही अनुसरण करना चाहिये[९]।

संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

कमला द्विवेदी

टिप्पणियाँ

१. प्रमाता हि व्यवस्यति इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति, *तंत्रा.* ४.२४
२. द्रष्टव्य – *तन्त्रालोक*, ४. २१३ -२५.
३. द्रष्टव्य – *तन्त्रालोक*, ४. २२८
४. द्रष्टव्य – *तन्त्रा.* ४. २४३-४४.
५. द्रष्टव्य – *तन्त्रा*, ४. २३६-३७
६. द्रष्टव्य – *तन्त्रा.* ४. २३५.
७. भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्परविलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि। *तंत्रालोक विवेक*, ४.२५१
८. द्रष्टव्य – *तन्त्रालोक*, ४.२५२-५३.
९. पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत्। *तन्त्रालोक विवेक*, ४.२५३ में उद्धृत.

# धर्मनिरपेक्षता : सभी धर्मों के राजनैतिक लूट की खुली छूट

भारतीय लोकतंत्र के राजनैतिक क्षितिज पर धर्मनिरपेक्षता के मानदण्डों का दुर्भाग्यपूर्ण दुरुपयोग हुआ है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश के लोकतांत्रिक ढाँचे को कमजोर बनाने वाले कारणों मे इस दुरुपयोग का सर्वाधिक हाथ रहा है । हमने लोकतंत्र के अनुयोगी सिद्धान्त 'सेक्यूलिरिटि' को आयातित तो किया, पर इसको फलित करने के लिए हम इस देश की धरती को उर्बरक न बना पाये। इसके विपरीत इसमें निहित चिन्तन की अनदेखी कर हम अपने राजनैतिक लाभ के लिए इसको भुनाने की व्यवस्था में जुट गए । धर्मनिरपेक्ष-लोकतांत्रिक देश में धर्म के नाम पर राजनैतिक पार्टियों का गठन हुआ । राष्ट्रीय दलों से लेकर क्षेत्रीय दलों तक सबने अपने-अपने ढंग से धर्मनिरपेक्षता को सुविधाजनक अर्थों में ढ़ाला। दक्षिणपन्थी तो क्या, वामपन्थी भी इसका फायदा उठाने से नहीं चूक सके । यही वजह है कि इतना कुछ खोने के बाद भी आज धर्मनिरपेक्षता को सर्वधर्मसमभाव जैसे मोहक शाब्दिक पाखण्ड से मण्डित करने की चतुराई को दोहरा रहे हैं । यूं तो सर्वधर्म समभाव का छद्म नाद भारत जैसे देश में ही गुंजाया जा सकता है जहां अनेक धर्मों का घातमेल है । यहां सर्वधर्म समभाव का सीधा सा मतलब है : राजनीतिक लाभ के लिए सभी धर्मों के इस्तेमाल की संवैधानिक छूट । इसीलिए यहां का राजनेता सुविधा और आवश्यकता के अनुसार सभी धर्मों का मुखौटा पहन लेते हैं । जरूरत पड़ने परने पर वे मन्दिरों में माथा रगड़ते हैं, मस्जिदों में चादर चढ़ाते हैं, गुरुद्वारों में अरदास करते हैं और गिरिजाघरों में प्रार्थनायें करते हैं। धर्म के नाम पर इसी पाखण्ड-प्रदर्शन को वे धर्मनिरपेक्षता कहते हैं । धर्मनिरपेक्षता का यह विचित्र भारतीय संस्करण है ।

धर्मनिरपेक्षता ऐतिहासिक चिन्तन से प्रसूत प्रयोगात्मक विचारप्रणाली है, जो देश के प्रत्येक नागरिक के लिए समानरूप से लोकतांत्रिक व्यवस्था को जीवन्त एवं व्यावहारिक बनाती है । इसे हम लोकतंत्र का वैचारिक दर्शन भी कह सकते हैं और लोकतंत्र की मर्यादाओं के विघटन के विरुद्ध एक सक्रिय सामाजिक आन्दोलन

भी । इस तरह धर्म-निरपेक्षता एक ओर धर्म को धर्म के सौदागरों से मुक्त कराने का सबल संघर्ष है, तो दूसरी ओर राजनीति और धर्म के अपवित्र गठजोड़ के विरुद्ध विद्रोह की चेतावनी भी । सत्ता की राजनीति और पाखण्ड का धर्म– यही दो मानवता के प्रबल शत्रु हैं और इन्हीं से निपटना धर्म-निरपेक्षता की वैज्ञानिक विचारयात्रा का लक्ष्य है ।

धर्म अपने प्राकृत रूप में एक अपरिहार्य सार्वभौम सामाजिक संप्रत्यय है । सामाजिक अनुशासन के लिए जो कुछ भी वरणीय या धारणीय है वही धर्म है । धर्म, देश काल या जाति की सीमाओं से अविभाज्य है । यह मानवमात्र के लिए है । जैसे पानी किसी धर्म का नहीं होता, आग किसी धर्म की नहीं होती, उसी तरह धर्म भी किसी सम्प्रदाय, पन्थ या जाति का नहीं होता । इससे एक दूसरे को लड़ाया भी नहीं जा सकता । इसके नाम पर न व्यापार चलाया जा सकता है, न राजनीति खेली जा सकती है । यह सब तो धर्म के बुनियादी सिद्धान्तों को तोड़कर ही सम्भव हो सकता है । अपनीं विराट् गुणवत्ता की दृष्टि से धर्म अपने अस्तित्व और व्यवहार के लिए भी सर्वथा निरपेक्ष है । हिन्दू-मुसलमान, सिख-ईसाई जैसे अहंकार-मूलक प्रत्ययों के जुड़ते ही धर्म सापेक्ष हो जाता है, और सापेक्ष होते ही अपनी गुणवत्ता एवं प्रभुसत्ता खो देता है । उसकी अखण्ड दृष्टि खण्डित हो जाती है । धर्म को तोड़ना मानवता को तोडना है, सामाजिक असन्तुलन को आमंत्रण देना है । धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय है– न धर्म तोड़ा जाय, न मानवता तोड़ी जाय ।

किसी भी सम्प्रदाय का उदय प्रतिक्रियात्मक होता है । उसका उद्देश्य स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने से कहीं अधिक दूसरों को नीचा दिखाना होता है । इसलिए सम्प्रदाय पूरी तरह सापेक्ष होता है । साम्प्रदायिक धर्म दूसरे के घोषित शत्रू होते हैं । हिन्दू शब्द में ज़हां मुस्लिम विरोध छिपा है वहां मुस्लिम शब्द से हिन्दू-विरोध झांकता मिलेगा । हिन्दू हर मुसलमान को म्लेच्छ समझता है तो हर मुसलमान हिन्दू को काफिर । उसे उन-उन धर्मों के ठेकेदार ऐसी ही घुट्टी पिलाते हैं । ईसाइयों के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों ही धर्म जंगली और बर्बर हैं, सभ्य और शिष्ट धर्म तो बस ईसाइयों का ही है । यह सोच धर्म न होकर दम्भ है, पाखण्ड है ।

कई बार सरकार या सरकारी संगठन धर्मनिरपेक्षता के नाम पर सर्वधर्म सम भाव के प्रदर्शन के लिए सभी धर्मों की संयुक्त सरकस जुटाते हैं । उसमें सरकारी सन्त-मौलवियों, ग्रन्थी-पादरियों को बुलाकर अपने-अपने राजनैतिक स्वार्थों के अनुसार उनसे नए-नए फरमान जारी करवा कर– साधारण जनता को बेवकूब बनवाते हैं । उन्हें एक साथ बिठाकर लोगों को आपस में लड़वाकर वोट की

राजनीति साधते हैं । सभी धर्मों का यह संयुक्त प्रदर्शन धर्म का घोर पाखण्ड है। यह सर्वधर्म सम भाव नशे की वह दुकान है, जहां गांजा, अफीम, शराब, कोकीन, हीरोइन, स्मैक सभी धड़ल्ले से बीकते हैं । धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'धार्मिक विश्वासों' को व्यक्तिगत व्यवहारों तक ही सीमित रखना है । उसके हर पाखण्ड-प्रदर्शन को सड़कों पर उतारने से रोकना है । विश्व के इतिहास में इसी पाखण्डी धर्म का सत्ता की राजनीति से चोली-दामन का सम्बन्ध रहा है । ये दोनों जुड़वा भाई हैं, एक दूसरे का स्वार्थ साधते हैं । राजनेता जनता को भौतिक रूप से अपने वश में रखने की व्यवस्था करता है, तो धार्मिक ठेकेदार मानसिक रूप से। एक राजनीति के नाम पर, तो दूसरा धर्म के नाम पर जनता से ठगी करता है। विश्व इतिहास के सर्वाधिक पन्नों को रक्त रंजित करने में इसी अपवित्र गढजोड़ का ज्यादा हाथ रहा है । बुद्ध, हजरत मुहम्मद और ईसा ने धर्म के सौदागरों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए इसी गढजोड़ के खिलाफ जेहाद छेड़ा था, भले ही उनके व्यापारी चेलों ने बाद में उनके नाम की दुकानें चलाकर वही कुछ करना शुरू किया जिसके विरुद्ध उनके गुरूओं ने विद्रोह का बिगुल बजाया था। इतिहास साक्षी है कि मन्दिर-मस्जिद और गिरिजा-गुरुद्वारों से सत्ता की राजनीति और धर्म के पाखण्ड के गठजोड़ को बल मिला और धर्म की आड़ में मानवता को तोड़ने का-उसे आपस में लड़ाने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह आज भी जारी है ।

सेवा की राजनीति करने वालों का पाखण्डी धर्म के सौदागरों से कभी मेल नहीं हो सकता । ये दोनों प्रकाश-अन्धकार और आग पानी की तरह एक दूसरे के विरोधी हैं । इनका संघर्ष मानव इतिहास के विकास का संघर्ष है । इसी संघर्ष का निर्णायक नेतृत्व करने के लिए भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों ने अवतार वाद की अवधारणा को जन्म दिया । आज जब भारत में धर्म के पाखण्ड और सत्ता की राजनीति का अनिष्टकारी गठजोड़ एक विस्फोटक बिन्दु तक पहुंच चुका है,हमें धर्मनिरपेक्षता के निहित दर्शन को समझ कर जनता की सुख समृद्धि और सच्चे स्वस्थ लोकतंत्र के विकास के लिए सत्ता-लोलुप राजनेताओं और पाखण्डी धर्मध्वजियों के विनाशकारी गठबन्धन को अविलम्ब तोड़ना होगा । धर्मनिरपेक्षता का यही सही और लोककल्याणकारी अर्थ हो सकता है ।

धर्मानन्द शर्मा

युनिवर्सिटी आवास
गौतम नगर
ऊना रोड़
होशियारपुर–१४६००१
(पंजाब)

# 'पुष्पवन्त' पद का अर्थ-निर्णय : शक्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में

## I

यह पहले ही कहा जा चुका है, कि नैयायिकों के अनुसार पद की शक्ति जिस पदार्थ का निर्देश करती है, वह पदार्थ जाति-विशिष्ट व्यक्ति या जाति-व्यक्ति-आकृति इन तीनों का समन्वित रूप कहा जाता है। फिर हमने यह भी दिखलाने का प्रयास किया कि जिन पदार्थों में जाति उपलब्ध नहीं होती है, वहां 'जाति' शब्द का अर्थ धर्म के समकक्ष किया जाय तो समस्या का समाधान हो सकता है। जैसा कि 'आकाश' व्यक्तिवाची पद के स्थल में हमने उपलक्षण का सहारा लेकर 'आकाश' पद की अर्थ-बोधक शक्ति का निर्णय किया था। इस लेख में हम एक और पद का अर्थ-निर्णय करने का प्रयास करेंगे, जो किसी एक अर्थ का बोधक नहीं है, वरन् एक ही साथ दो अर्थों का बोधक होता है। उदाहरण के लिए, पुष्पवन्तौ, दम्पति, पितरौ इत्यादि पदों की विशेषता यह है कि ये पद सर्वदा ही द्विवचन में व्यवहृत होते हैं, अर्थात् ये नित्य द्विवचनान्त हैं। यहां पर हम 'पुष्पवन्त' पद पर विचार करेंगे। इस पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है।

१. 'पुष्प' पद में मतुप् प्रत्यय जोड़ कर पुष्पवत् प्रातिपदिक बनता है, इसके उत्तर में 'औ' विभक्ति लगा कर पुष्पवन्तौ (द्विवचन में) पाया जाता है। 'पुष्पवत्' पद व्यञ्जनान्त होने के कारण इसका रूप 'धावत्' पद की तरह चलेगा और प्रथमा द्विवचन में पुष्पवन्तौ होगा।

२. लेकिन 'पुष्पवन्त' पद यदि मूल प्रातिपदिक माना जाय तो अकारान्त 'पुष्पवन्त' पद रूढ्यर्थक होगा। √ अव् धातु के उत्तर उणादि प्रत्यय अच्। अ- तद् स्थान्ते अन्त आदेश होता है। अव् + अन्त = अवन्त जिसका अर्थ

रक्षक, पुष्पस्य अवन्तौ इस अर्थ में पुष्प, अव् और औ, इस विग्रह में शक + अन्ध= शकन्धु शब्द की तरह 'पुष्प' शब्द के अन्तिम अकार का पर रूप पुष्पवन्त + औ = पुष्पवन्तौ निष्पन्न किया जाता है । इस तरह से पुष्पवन्त प्रातिपदिक भी सिद्ध होता है ।

> "पुष्पवन्तौ, पुं. (पुष्पविकासे + भावे घञ) पुष्पौ विकासोऽस्त्यनयोरिति । पुष्प + मतुप् । मस्यव:) एकयोक्त्या चन्द्रसूर्यौ । इत्यमर: ।१।४।१०।। "एकया उक्त्या अपृथग्वचनेन चन्द्रार्कौ पुष्पवच्छब्दवाच्यौ न तु पुष्पवानिन्द्र: सूर्यो वेत्याभिधीयते । साञ्जे । एकयोक्त्येति भिन्न प्रयोगे नैवेत्यर्थ:। अतएव द्वयर्थकत्वात् सदा द्विवचन मित्यर्थ:। पुष्पो विकासस्तद्योगाद्वतु: । पुष्पवन्त शब्दोऽदन्तो रूढोऽपि रविशशिनौ पुष्पवन्ताख्याविति नाममाला' इति तट्टीकायां भरत: ।"
>
> *शब्दकल्पद्रुम,*

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पुष्पवत्' पद एक होकर भी दो अर्थों (शक्यों) का बोधक है । फलस्वरूप उसके शक्यतावच्छेदक भी दो होंगे । अतएव प्रश्न उठता है कि एक ही पद के द्वारा निर्देशित एक ही शक्ति से दो अर्थों में दो शस्यतावच्छेदकों का समन्वय कैसे होगा ? इसके पूर्व के लेखों में उल्लेख किया जा चुका है कि पद जिस अर्थ का वाचक होता है, उस अर्थ में तीन अंग प्रधानत: होते हैं– विशेष्य, विशेषण और संसर्ग । जैसे 'घट' पद के द्वारा घट अर्थ का बोध होता है जो घटत्व के द्वारा विशेषित है । इसमें घट विशेष्य है, घटत्व विशेषण है, तथा इन दोनों में समवाय सम्बन्ध है । लेकिन 'पुष्पवन्त' पद सूर्य और चन्द्र का वाचक एक साथ ही होता है । इसमें दो विशेष्य हैं– सूर्य और चन्द्र, तथा दो विशेषण हैं- चन्द्रत्व और सूर्यत्व, तथा दो संसर्ग हैं। फिर भी पद की शक्ति एक ही है जो इन सबका बोध करवाती है । नियमानुसार दो अर्थों का बोध करवाने के लिए दो शक्तियाँ होनी चाहिए । दृष्टान्तस्वरूप हम इस तरह का व्यवहार कर सकते हैं– दिवाकर: पुष्पवन्तपदवाच्य:' अथवा 'निशाकर: पुष्पवन्तपदवाच्य:', इनमें शक्यतावच्छेदक भी क्रमश: दिवाकरत्व (सूर्यत्व) तथा निशाकरत्व (चन्द्रत्व) हैं जो सूर्य और चन्द्र अर्थ को नियंत्रित करते हैं । जिस तरह से 'हरि' पद का उच्चारण करने से कभी विष्णु, कभी कपि, कभी इन्द्र, कभी सिंह इत्यादि का बोध भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा होता है, उसी तरह 'पुष्पवन्त' पद से भी दो अर्थों का बोध दो शक्तियों के द्वारा होना चाहिये ।

अथवा इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह से 'पुष्पवन्त' पद एक शक्ति के द्वारा दो अर्थों का बोध करवा सकता है, उसी तरह 'हरि' पद के द्वारा भी विभिन्न अर्थों का बोध एक ही शक्ति के द्वारा होना चाहिये ।

'शक्यतावच्छेदकभेदेन: शक्तिभेदस्यावश्यकत्वादवच्छेदकभेदस्यावच्छेद्यभेदनियतत्वाद्, अन्यथा हर्यादि पदेष्वपि शक्त्यैक्यापत्त: ।
—शक्तिवाद, पृ. ७०.

पर ऐसा मान्य नहीं है। 'पुष्पवन्त' पद और 'हरि' पद का व्यवहार समान रूप से नहीं होता है। जब हम कहते हैं 'हरि की उपासना करो', तो 'हरि' पद से तात्पर्य यहां विष्णु से है, अर्थात् शक्य विष्णु है, शक्यतावच्छेदक विष्णुत्व है, तथा इसकी शक्ति भी पृथक् है। जब हम कहते हैं 'वृक्ष पर हरि को देखो' तो यहां 'हरि' पद से तात्पर्य कपि से है जिसका शक्य कपि है, शक्यतावच्छेदक कपित्व है, और यह शक्ति पूर्व की शक्ति से भिन्न है। इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। जबकि 'पुष्पवन्त' पद के उच्चारण से एक साथ ही चन्द्र और सूर्य का बोध हो जाता है। अतएव दोनों पदों (पुष्पवन्त और हरि) का व्यवहार भाषा की दृष्टि से एक सरखा नहीं है। इस तरह हम एक अजीब पेशोपेश में पड़ जाते हैं।

इस संदर्भ में एक प्रश्न और जो उठाया जाता है, वह यह है कि, 'पुष्पवन्त' पद यद्यपि सूर्य और चन्द्र दोनों का ही बोधक है, पर कभी आवश्यकता पड़ने पर यह प्रकरण के अनुसार एक का भी बोधक हो सकता है। यथा – 'पुष्पवन्तावुष्णकिरणौ' (सूर्य की किरणें तप्त हैं)। इस वाक्य के द्वारा सिर्फ सूर्य के सम्वन्ध में शाब्दबोध संभव क्यों नहीं हो सकता है इसके उत्तर में कहा जाता है उपयुक्त उदाहरण 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा जब सूर्य का बोध होता है उस समय चन्द्र के अर्थ की बोधक शक्ति की कारण- सामग्री भी उपस्थित रहती है, इसलिए वहां पर सिर्फ सूर्य का बोध कैसे हो सकता है ?

"यथा नाना धर्मविशिष्टैकधर्म्मिवाचकात् पदात् शक्तिप्रमातोनैकधर्मं परित्यज्य धर्मी प्रतीयते तथा चन्द्रत्व सूर्यत्वादिनानाधर्मविशिष्टनानाधर्म्मिवाचक पुष्पवन्तादिपदाच्चन्द्रत्वादिकं परित्यज्य न सूर्यत्वप्रकारको बोध: ।"
—शक्तिवाद, पृ. ६८.

अत: यहां पर यह कहना मुनासिब होगा कि 'पुष्पवन्त' पद का लौकिक व्यवहार 'हरि' पद से भिन्न है। 'पुष्पवन्त' पद सर्वदा द्विवचन में ही प्रयुक्त होता है, जबकि 'हरि' पद के साथ ऐसा नहीं होता है।

## II

### मीमांसकों का समाधान और नैयायिकों द्वारा खंडन

मीमांसकों के अनुसार इस समस्या का समाधान भिन्न तरह से किया जा सकता है। उनके अनुसार पद-पदार्थ के बीच का सम्बन्ध वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत

सप्त पदार्थ से भिन्न एक पृथक् शक्ति स्वरूप है । जैसे – 'धेनू' पद का शक्य धानकर्मत्वविशिष्ट गौ है, जिसमें शक्यतावच्छेदक दो हैं- धानकर्मत्व और गोत्व । इसी तरह 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा दो शक्यों का बोध होता है चन्द्र और सूर्य । शक्यतावच्छेदक भी दो हैं– चन्द्रत्व और सूर्यत्व । लेकिन उनकी शक्ति एक ही है । एक ही साथ दो शक्यों में वर्तमान धर्म को व्यासज्यवृत्ति धर्म कहते हैं, क्योंकि वह धर्म किसी एक शक्य में नहीं रहता है । यहां पर व्यासज्यवृत्ति धर्म का लक्षण उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा । ''एकत्वानवच्छिन्नपर्याप्तिकत्वं व्यासज्यवृत्तित्वं'' अर्थात् जो धर्म एक से अधिक अधिकरण में पर्याप्ति सम्बन्ध से वर्तमान हो, जैसे द्वित्व, त्रित्व इत्यादि । उदाहरण के लिए ''महानसीय वह्निर्नास्ति'' यहां पर प्रतियोगितावच्छेदक महानसीयवह्नित्व है, जो कि व्यासज्यवृत्ति धर्म है, क्योंकि-वह महानस और वह्नि दोनों में वर्तमान है । इसी तरह 'पुष्पवन्त' पद की शक्ति जिस अर्थ में है वह व्यासज्यवृत्ति धर्मउभयत्व के द्वारा नियन्त्रित है ।

> ''अत्र शक्त्याख्यपदपदार्थसम्बन्धान्तरवादि मीमांसकानुयायिन: – यथा धानकर्मत्वगोत्वादिरूप शक्यतावच्छेदकभेदेऽपि धेन्वादिपदानां न शक्तिभेद:, अवच्छेदकताया व्यासज्यवृत्तित्वात्, तथ प्रकृते चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्व्यासज्यवृत्तिशक्यताऽवच्छेदकता स्वीकारात्र शक्तिभेद:, न वैवं परित्यज्यान्यप्रतीति:''
>
> –*शक्तिवाद*

मीमांसकों के मत की विशिष्टता यह है कि इसके द्वारा हम 'पुष्पवन्त' पद की एक ही शक्ती के द्वारा दो अर्थों का बोध बिना हिचक कर सकते हैं । लेकिन गदाधर के अनुसार व्यासज्यवृत्ति धर्म जिन दो पदार्थों में रहता है उनकी पृथक् होने की संभावना हो सकती है । जबकि नैयायिकों के अनुसार इच्छा (ईश्वर संकेत या मनुष्य संकेत) ही अर्थ का निर्धारण करती है । फलत: वहां दो शक्यों (चन्द्र और सूर्य) को पृथक् करने की कोई संभावना मौजूद नहीं है ।

मीमांसकों के विरुद्ध यहां दो आपत्तियां उठाई जा सकती हैं । पहली यह कि 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ चन्द्र और सूर्य दोनों ही विशेष्य हैं और विशेष्यता इन दोनों में ही वर्तमान है नियमानुसार विशेष्यता भिन्न भिन्न होने से विशेष्य भी भिन्न भिन्न होते हैं । ''स्वरूपसम्बन्धात्मिकाया विशेष्यतया प्रतिव्यक्ति भिन्नत्व स्वीकारात्'' अतएव यह खूब भली प्रकार सोच विचार कर कहा जा सकता है कि 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा कभी सूर्य अथवा कभी चन्द्र का बोध हो सकत है ।

दूसरी आपत्ती है कि 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा समूहालम्बन बोध (ज्ञान) भी स्वीकार किया जा सकता है । उदाहरण के लिए दो स्वतंत्र दृष्टान्त लेते हैं– (१)

महानसीय नास्ति (२) वह्निर्नास्ति। यहां पर दो पृथक् प्रतियोगितावच्छेदक स्वीकृत हैं- महानसीयत्व और वह्नित्व। यहां पर प्रतियोगितावच्छेदक महानसीय वह्नित्व रूप से स्वीकृत नहीं है।

लेकिन विशिष्टज्ञान के क्षेत्र में उदाहरण के लिए 'पर्वते महानसीय वह्निर्नास्ति' में प्रतियोगितावच्छेदक महानसीयवह्नित्व है जो एक होकर दोनों प्रतियोगियों - महानसीय और वह्नि को नियन्त्रित करता है। प्रतियोगितावच्छेदक धर्म यहां व्यासज्यवृत्ति धर्म है।

यदि समूहालम्बन ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान में कोई भेद नहीं होता तो एक का स्थान दूसरा ले सकता है। दूसरे शब्दों में, 'महानसीय वह्निर्नास्ति' की जगह 'महानसीय नास्ति' और 'वह्निर्नास्ति' कहा जा सकता है। लेकिन यह सम्पूर्णतः संगत बात है कि 'पर्वते महानसीय वह्निर्नास्ति – महानसीय नास्ति और वह्निर्नास्ति। क्योंकि पर्वत पर महानस का अभाव यद्यपि स्वीकृत सत्य है, निर्वह्नि स्थल में वह्नि का अभाव भी स्वीकृत सत्य है पर पर्वत पर महानसीय वह्नि का अभाव होने के कारण 'महानसीयो नास्ति' यह कहना जितना आसान है, 'वह्निर्नास्ति' कहना उतना ही दुष्कर है,क्योंकि वहां वह्नि वर्तमान है। अतः समूहालम्बन ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान में परस्पर भेद स्वीकारना आवश्यक है।

समूहालम्बन ज्ञान का लक्षण *न्यायकोश* पृ. ९७५ में इस प्रकार करते हैं– "नाना प्रकारता निरूपित नाना मुख्य विशेष्यताशालि ज्ञानं।" समूहालम्बन ज्ञान के स्थल में दो विशेष्यतावच्छेदक हैं, जबकि विशिष्ट ज्ञान में एक ही विशेष्यतावच्छेदक होता है।

इस तरह 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा प्राप्त शब्दबोध समूहालम्बन ज्ञान का उदाहरण माना जा सकता है, क्योंकि यहां पर हमें दो पृथक् पदार्थ शक्य रूप में प्राप्त हैं, तथा शक्यतावच्छेदक भी दो हैं। अतः 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा किसी एक का बोध होने में कोई क्षति नहीं होगी।

> अथवाच्छेदकता ग्राहकमानेन धर्म्मिनिष्ठैकविशेष्यतानिरूपितविशेषणताऽऽपन्नेष्वेव नानाधर्मेष्ववच्छेदकत्वपर्याप्तिर्गृह्यते। महानसीयो नास्ति वह्निर्नास्तीत्याद[illegible] महानसीयत्व वह्नित्वादिपुरस्कारेण पृथक् पृथक् प्रतियोगिविषयकं ज्ञानं महासीयत्व वह्नित्वादिपर्याप्ति प्रतियोगितावच्छेदकताकं विशेषाभावं नावगाहते; अपितु शुद्ध वह्नित्वावच्छिन्नाभावादिकमेवेति कथं दिवाकर निशाकर शक्तं पुष्पवन्तमित्यादि शक्तिग्रहे चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयस्मिन् शक्यताऽवच्छेदकत्व-पर्याप्तिभानं तत्र धर्म्मिणोश्चन्द्रसूर्ययोर्भेदेन तन्निष्ठविशेष्यतायारैक्यासंभवादिति चेत्?"
>
> —शक्तिवाद, पृ. ७३-७४

मीमांसक इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि वे समूहालम्बन ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान में भेद करते हैं और इसलिए 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा उत्पन्न शाब्दबोध समूहालम्वन का उदाहरण नहीं है । यदि यह समूहालम्बन ज्ञान का उदाहरण होता तो 'पुष्पवन्त' पदनिष्ठ इच्छा का आकार इस प्रकार होता—

(क) पुष्पवन्त पदात् दिवाकर अर्थः बोधयतु ।
(ख) पुष्पवन्त पदात् निशाकर अर्थः बोधयतु ।

ऐसा कहने का अर्थ है कि 'पुष्पवन्त' पद का उच्चारण दो बार करना पड़ेगा । पर लौकिक व्यवहार के अनुसार 'पुष्पवन्त' पद एकबार उच्चारण करने से ही दोनों अर्थों–सूर्य और चन्द्र– का बोध हो जाता है । 'पुष्पवन्त' पद-जन्य बोध का विषय दोनों ही हैं, और शक्यतावच्छेदक चन्द्रत्व, सूर्यत्व और उभयत्व तीनों में है । इसलिए 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा उत्पन्न शाब्दबोध विशिष्ट ज्ञान है और पदनिष्ठ शक्ति भी एक है, जिसके द्वारा दोनों का बोध हो जाता है ।

मीमांसक अपने पक्ष के समर्थन में पुनः तर्क देते हैं कि यदि समूहालम्बन ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान एक ही होता तो इन निम्नलिखित ज्ञान के आकारें में कोई फर्क नहीं रहता । यथा—

(क) घटो नास्ति, पटो नास्ति ज (समूहालम्बन ज्ञान)
(ख) घटपटौ न स्तः (विशिष्ट ज्ञान)

लेकिन दोनों ज्ञानों में मूलतः पार्थक्य है । समूहालम्वन ज्ञान की अभावीय विषयता घट और पट में है । प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व और पटत्व में है, जबकि विशिष्ट ज्ञान के स्थल में अभावीय विषयता एक है । अतः प्रतियोगितावच्छेदक भी एक है जो घटत्व, पटत्व में पर्याप्ति सम्बन्ध से वर्तमान है ।

''कथमन्यथा घटपटौ न स्त इत्याकारकोभयत्वावच्छिन्नाभावप्रतीतौ घटपटादिरूप प्रतियोगिविषयताया भेदेऽप्यभावविषयताया ऐक्येन समूहालम्बनविलक्षणयामुभयत्वादिधर्मितावच्छेदकताया भासमान-घटत्वादिषु तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वपर्याप्तिमानम्? एवञ्च दिवाकरनिशाकरयोः शक्तमेतत्पदमित्याकारकग्रहे शक्तिविषयताया ऐक्येन समूहालम्वन विलक्षण उभयत्वधर्मितावच्छेदकताऽऽपन्न चन्द्रत्व-सूर्यत्वयोरेक शक्यतावच्छेदकत्वपर्याप्ति मानमविरुद्धमिति न दोषः?

—शक्तिवाद, पृ. ७४-७५.

इस तरह हम इस सिद्धान्त पर आ सकते हैं—

(क) 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा शाब्दबोध विशिष्ट ज्ञान है ।
(ख) 'पुष्पवन्त' पद की शक्ति एक ही है जिसके द्वारा चन्द्र और सूर्य

का बोध होता है ।

(ग) जो क्रमशः चन्द्रत्व और सूर्यत्व के द्वारा विशेषित है ।

(घ) इसका मुख्य विशेष्य एक है, जो कि उभयत्व है ।

## III

### द्वितीय आपत्ति और उत्तर

पुनः एक संशय यहां पर उत्पन्न होता है । यदि 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा विशिष्ट ज्ञान का ही बोध होता है तो सवाल है कि जैसे अभावीय ज्ञान के स्थल में उभयत्व प्रतियोगितावच्छेदक है, वैसे ही 'पुष्पवन्त' पदजन्य पदार्थ-बोध में भी उभयत्व ही शक्यतावच्छेदक हो । लेकिन अभावीय विषयता और ज्ञानीय विषयता में एक महत्त्वपूर्ण भेद है । अभावीय विषयता में जो धर्म भासमान होता है यानि प्रतियोगितावच्छेदक विशेषण होता है, जबकि जो धर्म इस विषयता में भासमान नहीं होता है उसे उपलक्षण कहते हैं। क्योंकि नियम है कि 'प्रतियोगिविशेषिताऽभावे बुद्धिविशिष्टवैशिष्ट्य मर्यादा नातिशेते' । 'घटोपटौ न स्तः' इस दृष्टान्त में उभयत्व प्रतियोगितावच्छेदक रूप में भासमान होता है इसलिए उसे विशेषण कहा जाता है। उपलक्षण अभावीय विषयता में प्रतियोगितावच्छेदक रूप से भासमान नहीं होता है। ज्ञानीय विषयता में उपलक्षण प्रकार रूप से भासमान होता है, लेकिन उसे शक्यतावच्छेदक नहीं कहा जाता है । 'पुष्पवन्त' पदजन्य बोध में उभयत्व प्रकार रूप से भासमान होता है, जो उपलक्षण है, परन्तु उसे शक्यतावच्छेदक कहना अनिवार्य नहीं है । 'पुष्पवन्त' पद-जन्य ज्ञानीय विषपयता में चन्द्रत्व और सूर्यत्व, चन्द्र और सूर्य के क्रमशः अवच्छेदक हैं, लेकिन वे सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उभयत्व के साथ भासमान होते हैं । फलस्वरूप उभयत्व को शक्यतावच्छेदक नहीं कहा जा सकता है ।

> "अभावबुद्धौ प्रतियोग्यंश उपलक्षणस्याप्रकारत्व नियमादुभयत्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वध्रौव्यात्, शक्तिग्रहे च शक्यांश उपलक्षणस्योभयत्वस्य प्रकारत्वोपगमेन तस्य शक्यताऽनवच्छेदकत्वात्"
>
> –*शक्तिवाद,* पृ. ७५.

अभावीय विषयता में प्रतियोगितावच्छेदक का भान अवच्छेद्यत्व सम्बन्ध से होता है । (कृपया विशद विवेचन के लिए डॉ. बलिराम शुक्ल के द्वारा तथा परामर्श (हिन्दी) के खण्ड १० और ११ में प्रकाशित" नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ" नामक क्रमशः प्रकाशित लेखमाला के अंश १० से १४ देखिये ।)

## IV

### तृतीय आपत्ति और उत्तर

उभयत्व को यदि प्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जाय और शक्यतावच्छेदक न माना जाय तो इसमें एक और संशय उत्पन्न होता है। वह यह है कि 'महानसीय वह्निर्नास्ति' इस दृष्टान्त में महानसीय वह्नित्व को प्रकार कहा गया है, क्योंकि महानसीयत्व और वह्नित्व परस्पर विरोधी नहीं हैं, इसलिए उन्हें प्रतियोगितावच्छेदक एक साथ माना जा सकता है। लेकिन 'पुष्पवन्त' पद के स्थल में जो पदार्थ-बोध होता है उसमें चन्द्रत्व और सूर्यत्व परस्पर विरोधी विशेषण हैं। इसलिए वे एक साथ पर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं रह सकते हैं। फलतः वे शक्यतावच्छेदक नहीं कहे जा सकते।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि 'घटापटौ न स्तः' इस दृष्टान्त में घटत्व और पटत्व विरोधी होने पर पर्याप्ति सम्बन्ध से एक साथ रह सकते हैं और उन्हें प्रतियोगितावच्छेदक कहा जाता है। सिर्फ उभयत्व प्रतियोगितावच्छेदक नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यदि सिर्फ उभयत्व को प्रतियोगितावच्छेदक माना जाय तो समस्या होगी कि उभयत्व का आश्रय कोई भी दो पदार्थ हो सकेंगे। अर्थात् घट पट की जगह टेबल, कुर्सीमें भी अभावीय विषयता रह जायेगी, क्योंकि उभय कहने से, कौन से दो पदार्थ ग्रहण किये जाय इसका निर्णय कैसे किया जायगा? अतएव प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व, पटत्व और उभयत्व इन तीनों में ही माना जाना चाहिए।

'केवलोभयत्वे तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकतायाः पर्याप्तौ यत्किञ्चिदुभयवति तादृशाभाव प्रतीत्यनुपपत्तेः'

—*शक्तिवाद*, पृ. ७६.

इसी तरह चन्द्रत्व और सूर्यत्व को भी शक्यतावच्छेदक कहा जा सकता है।

पुनः यह कहा जा सकता है कि उभयत्व में प्रतियोगितावच्छेदक है, परन्तु प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदकत्व घटत्व और पटत्व में है। अतएव अभावीय विषयता का आश्रय घट और पट पदार्थ ही ग्रहण किये जायेंगे, टेबल और कुर्सी नहीं। और ऐसा करने पर 'घटोपटौ न स्तः' तथा 'गवाश्वौ न स्तः' इन दोनों वाक्यों में भेद किया जा सकेगा। दोनों ही उदाहरणों में प्रतियोगितावच्छेदक उभयत्व है, पर प्रतियोगितवच्छेदकतावच्छेदक अलग अलग हैं। पहले उदाहरण में प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक घटत्व और पटत्व हैं तो दूसरे उदाहरण में गोत्व और

अश्वत्व हैं । इसी तरह मीमांसक कहते हैं कि 'पुष्पवन्त' पद स्थल में पदार्थ-बोध में उभयत्व शक्यतावच्छेदक है, पर शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक चन्द्रत्व और सूर्यत्व हैं ।

मीमांसकों के इस समाधान के उत्तर में कहा जा सकता है कि घटत्व और पटत्व, घट और पट के साक्षात् अवच्छेदक हैं, उभयत्व के नहीं । क्योंकि जब हम 'घट' और 'पट' शब्द सुनते हैं , तो जो विशेष उनके पदार्थ-रूप में भासमान होते हैं, वे घटत्व और पटत्व ही होते हैं । इसी तरह जब हम 'उभयत्व' शब्द सुनते हैं तो जो विशेषण पदार्थ-रूप में भासमान होता है वह उभयत्व है, घटत्व और पटत्व नहीं । 'पुष्पवन्त' पद के स्थल में भी चन्द्रत्व और सूर्यत्व, चन्द्र और सूर्य पदार्थ के साक्षात् विशेषण हैं, उभयत्व के नहीं । अतएव मीमांसकों का समाधान समीचीन नहीं है ।

इस पर मीमांसक पुन: कहते हैं कि जैसे *'धनी सुखी'* इस उदाहरण में धनी और *सुखी* ये दोनों विशेषण व्यक्ति-सत्ता की स्वीकृति पर निर्भर करते हैं, उसी तरह घटत्व और पटत्व यद्यपि उभयत्व के ही विशेषण हैं पर तभी जब घट और पट की सत्ता स्वीकार की जाय । घटत्व और पटत्व, घट और पट की सत्ता पर ही निर्भरशील हैं, पर प्रकार-रूप से उभयत्व में भासमान होते हैं । धनी होने से सुख आता है, पर धन और सुख का आधार व्यक्ति ही है (धर्मी पारतन्त्र्येण)। मीमांसक कहते हैं कि अभावीय विषयता 'घटोपटौ न स्तः' में उभयत्व,घटत्व और पटत्व के द्वारा नियन्त्रित होती है । अर्थात् वे प्रतियोगितावच्छेदक हैं और वे घट और पट के प्रकार भी हैं । ज्ञानीय विषयता के 'पुष्पवन्त' आदि स्थल में उभयत्व शक्यतावच्छेदक रूप से पदार्थ में भासमान होता है और चन्द्रत्व-सूर्यत्व उभयत्व के शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के रूप से भासमान होते हैं; पर साथ ही चन्द्र और सूर्य का प्रकार भी भासमान होता है ।

> "तयोरवच्छेदकताऽवच्छेदकत्वेऽपि शक्तिग्रहेऽवच्छेदकाश्रयचन्द्रसूर्यविशेणतयैव मानात् शाब्दबोधेऽपि तद्विशेषणतया मानसम्भवात् । अथ शक्तिग्रहे साक्षात् शक्यताऽनवच्छेदकास्य तदुभयस्य शक्यचन्द्रसूर्योभयांशे साक्षात्प्रकारतया भानं न सम्भवतीति चेद्? 'घटपटौ न स्तः' इत्यादौ घटत्व पटत्वयोः साक्षात् प्रतियोगिताऽवच्छेदकत्ववमन्तरेण प्रतियोगिविशेषणतया मानासम्भवस्तुल्य एवेत्याहुः।"
>
> —*शक्तिवाद*, पृ.७८-७९.

## IV

### गदाधर का समाधान

गदाधर के अनुसार ईश्वर-संकेत अथवा मनुष्य-संकेत ही किसी पद के द्वारा किसी पदार्थ का सम्बन्ध निर्धारण किया करता है । 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा

चन्द्र और सूर्य दोनें का ही बोध होता है, यह भी ईश्वर-संकेत पर ही निर्भर करता है। अतः 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा किसी एक अर्थ चन्द्र अथवा सूर्य का बोध नहीं हो सकता है। 'चन्द्र' पद के द्वारा चन्द्र पदार्थ का बोध होगा, पर 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा चन्द्र और सूर्य दोनों का ही बोध होगा।

"ईश्वरेच्छारूपस्य संकेतस्य शक्तित्वमंगीकर्तृसिद्धान्तिपक्षे पुष्पवन्तपदाच्चन्द्रत्वावच्छिन्नविषयकसूर्यत्वावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधे भवत्वित्याकारक एव तादृश पदे भगवत्संकेतः केवलचन्द्रत्वावच्छिन्नविषयक बोधश्च न तत्पदजन्यत्वेन तद्विषय इति तादृशपदान्न तथाविधबोधः"।

—*शक्तिवाद*, पृ. ८०.

यदि कोई कहे कि 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा जब दोनों सूर्य और चन्द्र का बोध होता है तो केवल सूर्य या केवल चन्द्र का बोध क्यों नहीं हो सकता है? इसके उत्तर में गदाधर कहते हैं कि जब 'पुष्पवन्त' पद के द्वारा पदार्थ-बोध होता है उस समय चन्द्र और सूर्य दोनों के बोध की कारण सामग्री उपस्थित रहने के कारण एक का बोध कैसे होगा ?यदि किसी को एक का बोध होता है तो वह भ्रमवश ही होता है। 'पुष्पवन्त' पद की ज्ञानीय विषयता सूर्य और चन्द्र दोनों में है और उनका शक्यतावच्छेदक चन्द्रत्व और सूर्यत्व में है जो उभयत्व के द्वारा उपलक्षित है।

"उभयविषयकत्वावच्छिन्नाया बोधनिष्ठ संकेतविषयताया ऐक्यात् शक्तैरैक्यामिति न तत्पदस्य नानार्थतेति रमणीयः समाधिः"

—*शक्तिवाद* पृ. ८३.

श्री हरिनाथ तर्कसिद्धान्त भट्टाचार्य *विवृत्ति टीका* में कहते हैं—

"अत्रैकत्र द्वययिति रीत्या चन्द्रसूर्योभयस्य तादृशपदे प्रकारतया युगपद्भानेन न समूहालम्बनत्वम्; अत एतत्ज्ञानस्यैकशक्तिविषयत्वं नानुपन्नम्।"

—*शक्तिवाद*, (विवृत्ति टीका ) पृ. ८३.

इसके अलावा यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पुष्पवन्त' पद की नाना शक्तियां चन्द्र और सूर्य का बोध कराती हैं, जैसे– 'हरि' पद में नाना शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं। पर यदि ऐसा होता तो एकाधिक शक्तियों का बोध कराने के लिए 'पुष्पवन्त' पद का उच्चारण दो बार किया जाता। ऐसा नियम है कि 'सकृदुच्चरितात् सकृदेवार्थः प्रत्यय एव' अर्थात् एक बार किसी पद का उच्चारण करने से एक ही अर्थ का बोध होता है। जब एक बार ही उच्चारण करने से दो अर्थों का बोध होता है तो निश्चित रूप से वह एक ही शक्ति के द्वारा

होता होगा । *अमरकोश* में जो कहा गया है एकयोक्त्या....", यहां 'उक्त्या' का अर्थ उच्चारण है, अर्थात् एक बार मात्र उच्चारण करने से दो अर्थों का बोध होता है ।

> "अथ वैकयोक्त्या = एकोच्चारणेन सूर्यचन्द्रमसौ पुष्पवन्तपदप्रतिपाद्यवित्यर्थः, तथा च यथा नानाऽर्थ स्थले नावृत्तिमन्तरेण नानाऽर्थबोधस्तथा न प्रकृतेः अत्र शक्तैक्येन सकृदुच्चरितात् सकृदर्थप्रत्यय एवेत्यस्य विषयत्वादिति भावः"
>
> –*शक्तिवाद*, पृ. ८४.

इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'पुष्पवन्त' पद नित्य द्विवचनान्त रूप में 'पुष्पवन्तौ' प्रयुक्त होता है । यहां पर 'औ' द्वितीया विभक्ति प्रातिपदिक पुष्पवत् के साथ युक्त होती है । लेकिन पुष्पवन्तौ नित्य द्विवचनान्त होने के कारण सर्वदा ही दो का निर्देश करता है फिर विभक्ति 'औ' जोड़ने का क्या औचित्य है ? प्रातिपदिक का अर्थ भी द्विवचन से है, 'औ' विभक्ति का अर्थ भी द्विवचन से है । तब दोनों प्रातिपदिक और प्रत्यय का योग क्या निरर्थक नहीं होगा ? उदाहरण के लिए 'घट' पद में घट प्रातिपदिक है और 'सु' विभक्ति है । 'घट' पद का अर्थ है घटत्व विशिष्ट घट और 'सु' विभक्ति का अर्थ एकवचन है । फलस्वरूप 'घटः' पद के द्वारा जो शाब्दबोध होगा उसका आकार होगा 'घट एकत्वप्रकारक' । लेकिन जब प्रातिपदिक और विभक्ति दोनों से द्विवचन का बोध हो तो शाब्दबोध कैसे होगा ? उत्तर है जैसे "द्वौ" शब्द से प्रातिपदिक और विभक्ति दोनों से ही द्वित्व का बोध होता है । फिर भी ऐसा प्रयोग (द्वौ) प्रचलित है, और व्यवहृत होने के कारण मान्य है । तथा द्वित्व का बोध भी एक बार ही होता है, दो बार नहीं । इसी तरह 'पुष्पवन्तौ' में भी द्वित्वका बोध एक बार ही होता है, दो बार नहीं । यह प्रयोग साधु है ।

१, जतीन्द्र मोहन एवेन्यु
कलकत्ता - ७००००६
(प. बंगाल)

मधु कपूर

# प्रो. आर्. एम्. हेयर का धर्मदर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण

समकालीन विश्लेषणवादी कार्नेप, सी. एल्. स्टीवेन्सन आदि अनेक दार्शनिकों के "संवेगवाद" एवं "सत्यापन सिद्धान्त" से असहमत होते हुए आर्.एम्.हेयर ने "परामर्शवाद" एवं "ब्लिक सिद्धान्त" को प्रस्तुत किया है जो नैतिक एवं धार्मिक कथनों के अर्थ, स्वरूप एवं उद्देश्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इन सिद्धान्तों के प्रणेता दार्शनिक होने के कारण अपने इस नवीन सिद्धान्त में उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ से आज तक चर्चा का केन्द्र बने रहे हैं और उसी कारण समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन के क्षेत्र में उनका विशेष महत्त्व है। हेयर अपने पूर्ववर्ती समकालीन दार्शनिकों की तरह मूलतः भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिक हैं तथा उन्हीं की तरह वे यह स्वीकार करते हैं कि दर्शन का कार्य किसी सिद्धान्त की स्थापना करना अथवा अनुभव निरपेक्ष सत्ता की खोज करना नहीं है, अपितु विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा के अर्थ का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना ही है। यही कारण है कि हेयर को भी असंज्ञानात्मक सिद्धान्त का समर्थक स्वीकार किया जाता है।

असंज्ञानात्मक सिद्धान्त का समर्थक दार्शनिक होते हुए भी हेयर ने अपने पूर्ववर्ती तर्कीय प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों से भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। १९५० के पश्चात् से ही हेयर एक प्रतिभाशाली दार्शनिक का परिचय देने लगते हैं। अब तक उनके अनेक लेख एवं पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हेयर तथा बेसिल मिचैल के साथ एक विचार गोष्ठी में भाग लेते हुए ऐंटोनी फ्ल्यू ने ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों के विषय में अपना "मिथ्यापनीय सिद्धान्त" प्रस्तुत किया था जिसका विवरण "थियोलोजी ऐंड फाल्सिफिकेशन" नामक शीर्षक से न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलोजी नामक पुस्तक में संकलित है जो १९५५ में ए.फ्ल्यू और ए. मैकिन्टायर के सम्पादन में प्रकाशित हुआ था। इसी में आर्.एम्. हेयर के ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथन सम्बन्धी विचार भी संकलित हैं जिसमें उन्होंने

"फ्ल्यू की चुनौती" का उत्तर "ब्लिक सिद्धान्त" द्वारा देने का प्रयास किया है। "थियोलोजी ऐंड फाल्सिफिकेशन" के अतिरिक्त हेयर का धार्मिक कथन सम्बन्धी विचार "रिलिजन ऐंड मारल्स" नामक शीर्षक से बेसिल मिचैल द्वारा १९५८ में सम्पादित पुस्तक फेथ ऐंड लाजिक में संकलित है। उपरोक्त दोनों निबन्धों में आर्. एम्. हेयर ने धार्मिक कथन, ईश्वर सम्बन्धी विचार को असंज्ञानात्मक मानते हुए एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। धर्मदर्शन पर हेयर का महत्त्वपूर्ण निबंध "दि सिम्पुल बिलिवर" है जो उन्हीं के द्वारा लिखित एसेज ऑन रिलिजन ऐंड ऐजुकेशन में संकलित है।

हेयर मुख्यतः विश्लेषणात्मक नैतिक दार्शनिक[1] हैं इसलिए उन्होंने धर्मदर्शन के ज्ञेय में ईश्वरमीसांसीय धार्मिक कथनों के विषय में प्रमुख रूप से धर्म के नैतिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। वस्तुतः हेयर ने नैतिक भाषा और धार्मिक भाषा के कुछ तत्त्वों को समान मानते हुए यह स्वीकार किया है कि यदि नैतिक वाक्य सार्थक है तो धार्मिक कथनों को भी निरर्थक नहीं माना जा सकता। इसलिए हेयर ने धार्मिक कथनों को भी नैतिक कथनों की तरह "परामर्शात्मक"[2] माना है और उनकी सार्थकता को स्वीकार किया है। उनकी यह मान्यता है कि नैतिक कथनों में अनिवार्यतः बाध्यता होती है। इसी प्रकार धर्मपरायण व्यक्ति भी धार्मिक कथनों में विश्वास करने के लिए बाध्य होता है। तभी तो हेयर ने ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों को धर्मपरायण व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित एवं प्रभावित करने वाला कथन माना है।

विट्गेन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित "उपयोग सिद्धान्त" का प्रभाव हेयर के दर्शन में दिखायी पड़ता है।[3] उनका विचार है कि भाषा में प्रचलित प्रत्येक शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ तार्किक नियम होते हैं जो उसे हमारे लिए सार्थक और बुद्धिगम्य बनाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी शब्द का प्रयोग करते समय इन तार्किक नियमों का उलंघन करता है तो वह इस शब्द का दुरुपयोग करता है। फलस्वरूप उसका वह कथन हमारे लिए निरर्थक हो जाता है। इतना सब मानते हुए भी हेयर के दर्शन का यह निष्कर्ष है कि नैतिक एवं धार्मिक कथन न तो तथ्यात्मक होते हैं और न ही संवेगात्मक, बल्कि परामर्शात्मक ही होते हैं।

अब तक आर्.एम्. हेयर की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं जो निम्नलिखित हैं :

१ – *द लैंग्वेज ऑफ मॉरल्स*, १९५२
२ – *फ्रीडम ऐंड रीजन*, १९६३
३ – *प्रेक्टिकल इन्फेरेन्सेज*, १९७१

४ – *एसेज ऑन फिलॉसॉफिकल मेथड़,* १९७१
५ – *एसेज़ ऑन द मोरल कॉन्सेप्ट,* १९७२
६ – *एप्लीकेशन ऑफ मोरल फिलासफी,* १९७२
७ – *मोरल थिंकिंग : इट्स लेवल्स, मेथड् ऐंड प्वाइन्ट,* १९८१
८ – *प्लेटो,* १९८२
९ – *एसेज ऑन पोलिटिकल मोरालिटी* १९८९

उपर्युक्त सभी पुस्तकें ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित की गयी हैं। आर्. एम्. हेयर तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रबल समर्थक और विश्लेषणवादी दार्शनिक हैं। फ़्ल्यू ने अपने "मिथ्यापनीयता – सिद्धान्त" के आधार पर ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के सम्बन्ध में समकालीन विश्लेषणवादी धर्मदार्शनिकों के समक्ष जो चुनौती प्रस्तुत की थी, उसका प्रत्युत्तर देने का प्रयास बेसिल मिचैल तथा आर्. एम्. हेयर ने भी किया है। अतः फ़्ल्यू की "चुनौती" को सर्वप्रथम जानना आवश्यक है।

फ़्ल्य के मिथ्यापनीयता सिद्धान्त के अनुसार केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं जिन्हें कुछ तथ्यों द्वारा कम-से-कम सिद्धान्ततः मिथ्या प्रमाणित किया जा सके। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक तथ्यात्मक कथन में अनिवार्य रूप से उन सभी तथ्यों का निषेध करने की सामर्थ्य होती है जो उस कथन में वर्णित तथ्यों के विपरीत हैं। किसी तथ्यात्मक कथन को मिथ्या प्रमाणित करने वाले विपरीत तथ्यों का यह निषेध उस कथन के अर्थ में अनिवार्यतः रहता है और यह उसके अर्थ का अनिवार्य अंश होता है। यही कारण है कि यदि कोई वक्ता जब किसी भी तथ्य को कथन का निषेध करने अथवा उसे मिथ्या प्रमाणित करने वाले तथ्य के रूप में स्वीकार करता है तो उसका कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं होता। फ़्ल्यू के शब्दों में "......यदि कोई कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता तो वह किसी तथ्य को अभिव्यक्त भी नहीं करता और इसलिए वह वास्तव में तथ्यात्मक कथन नहीं है"[४] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो तथ्यात्मक कथन जितनी अधिक और निश्चित जानकारी प्रदान करता है उसे मिथ्या सिद्ध करना उतना ही सरल होता है, क्योंकि स्पष्ट और निश्चित तथ्यात्मक कथन हमारे समक्ष कुछ विशेष तथ्य प्रस्तुत करने का दावा करते हैं। इसके विपरीत अस्पष्ट और अनिश्चित कथन हमें किसी विशेष तथ्य का ज्ञान नहीं कराते, अर्थात् वे किसी विशेष तथ्य का वर्णन नहीं करते हैं।

हेयर ने यह भी स्वीकार किया है कि जो कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता और जिसे कभी मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता, वह तथ्यात्मक

दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकता। फ़्ल्यू के विचारों का समर्थन करते हुए हेयर ने स्वीकार किया है कि " मुझे प्रारंभ में अवश्य ही यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि फ़्ल्यू ने जो आधार प्रस्तुत किया है उसके अनुसार वे मुझे पूर्णत: विजयी प्रतीत होते हैं"।[५]

परंन्तु यह विचारणीय है कि फ़्ल्यू के उक्त मिथ्यापनीयता सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भी हेयर धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथनों के विषय में फ्ल्यू के विचारों से सहमत होते हुए दिखायी नहीं पड़ते हैं। ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक मानते हुए फिंडले ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर का प्रत्यय आत्म-विरोधी है तथा फ्ल्यू ने उन कथनों को मिथ्यापनीय नहीं होने से अर्थहीन कहा है। परन्तु हेयर का मानना है कि यदि ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथन वास्तव में तथ्यात्मक कथन हैं तो इन्हें संज्ञानात्मक होने के लिए सत्यापनीय अथवा मिथ्यापनीय होना चाहिए और यदि ये कथन वास्तव में सत्यापनीय अथवा मिथ्यापनीय नहीं होते तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में वे कथन संज्ञानात्मक ही नहीं हैं। अत: ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक स्वीकार करना गलत है और इसीलिए इन कथनों की मिथ्यापनीयता का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। फ़्ल्यू ने पहले ही यह स्वीकार करके बहुत बड़ी भूल की है कि ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथन निश्चित रूप से अर्थबोधक और संज्ञानात्मक कथन होते हैं। चूंकि ये कथन मिथ्यापनीय सिद्ध नहीं हो पाये तो फ़्ल्यू ने इन कथनों को अर्थहीन कह कर अस्वीकृत कर दिया। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि यदि ये कथन संज्ञानात्मक नहीं हैं तो इन्हें मिथ्या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? हेयर के अनुसार यदि प्रारम्भ से ही ये कथन असंज्ञानात्मक हैं और इसलिए वे मिथ्यापनीय नहीं हैं तो उन्हें मिथ्यापनीय सिद्ध करने का प्रयास करना ही व्यर्थ और निरर्थक है।

आर्. एम्. हेयर ने अपने मत के समर्थन में एवं धार्मिक कथनों की समीक्षा के लिए एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे उन्होनें "ब्लिक सिद्धान्त" का नाम दिया है। हेयर के अनुसार ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक कथन तथ्यात्मक कथन नहीं हैं जिन्हें कि सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध किया जाये।[६] वास्तव में यह ऐसे कथन हैं जो तथ्यात्मक कथनों अथवा वाक्यों से पूर्णत: भिन्न होते हैं और यही कारण है कि ऐसे कथनों के सम्बन्ध में सत्यापनीयता अथवा मिथ्यापनीयता का प्रश्न भी नहीं उठाया जा सकता है। उनका कहना है कि इस प्रकार के कथन किन्हीं विशेष तथ्यों का वर्णन न करके जीवन और जगत् के विषय में वक्ता के विशेष तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण अथवा उसकी विशेष अभिवृत्ति को ही व्यक्त करते हैं। जीवन और जगत् के प्रति धर्म-परायण व्यक्तियों के इसी विशेष दृष्टिकोण अथवा उनकी इस विशेष अभिवृत्ति को हेयर ने "ब्लिक" की संज्ञा दी

है। हेयर के अनुसार "ब्लिक" वह प्रतिभास है जो किसी एक दृष्टिकोण से किसी वस्तु को देखने से प्राप्त होता है। इसलिए "ब्लिक" मानव की वह व्यापक और स्थायी अभिवृत्ति है, जिसके अनुसार संसार की सभी वस्तुएं दृष्टिगत होती हैं। ईश्वर सम्बन्धी कथन ईश्वरवादी की दृष्टि से व्यक्त होते हैं और अनीश्वरवादी की दृष्टि उनसे भिन्न होने से वह इसे दूसरे रूप में व्यक्त करता है।[७] इसलिए इन धार्मिक कथनों को अभिवृत्तिमूलक कहा जाता है। क्यूंकि "ब्लिक" तथ्यों के प्रति एक दृष्टि है, अत: वह न तो स्वयं तथ्य है अथवा न ही तथ्यों से उद्भूत अनुभवाश्रित सत्य है। हेयर का मानना है कि ब्लिक कथन भी अर्थपूर्ण होता है परन्तु इसकी अर्थपूर्णता उद्देश्य की उस सफलता की कसौटी से आंकी जाती है जिस उद्देश्य से ब्लिक को स्वीकार किया जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक कथनों द्वारा जीवन और जगत् के प्रति "ब्लिक" को ही अभिव्यक्त करते हैं। वे इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की तथ्यात्मक जानकारी नहीं देते हैं। यही कारण है कि कोई भी ब्लिक सत्य अथवा मिथ्या नहीं होता, बल्कि वह उचित या अनुचित हो सकता है।

हेयर के इस सिद्धान्त पर डेविड़ हयूम के विचारों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। हयूम के अनुसार केवल संवेदना-पुंज ही ज्ञान की सामग्री हैं अर्थात् संवेदना पुंजों से ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु संवेदनाएँ क्षणभंगुर होती हैं। इसलिए क्षणभंगुर संवेदना-पुंजों के आधार पर स्थायी बाह्य जगत् की तर्क-संगत व्याख्या नहीं की जा सकती। ह्यूम के अनुसार बाह्य सत्ता का सिद्धान्त संवेदित तथ्यों पर आधारित नहीं है बल्कि यह मनुष्यों में अन्तर्निहित एक प्राकृतिक देन है, एक पाशविक विश्वास है। अत: वह गहरी प्रवृत्ति जिसके अनुसार विश्व की सभी घटनाएं प्रतिभासित होती हैं, एक प्रकार की अभिवृत्ति अथवा दृष्टिकोण है। "ब्लिक" अथवा अभिवृत्ति यह निश्चित करती है कि किस घटना को आधारभूत तथ्य माना जाय और किस घटना को तथ्य की संज्ञा न दी जाय॥"[८] इसलिए ब्लिक तथ्यों से न तो पुष्ट अथवा अपुष्ट होने की अपेक्षा रखता है, और न तथ्यों से निर्धारित होता है, प्रत्युत स्वयं तथ्य ही ब्लिक पर निर्भर करता है। ह्यूम के प्रभाव को स्वीकार करते हुए हेयर ने स्वयं कहा है कि 'ये ह्यूम ही थे जिन्होनें हमें बताया कि जगत् के साथ हमारा सम्पूर्ण सम्बन्ध उसके विषय में जो अन्तर है उन्हें संसार में होने वाली घटनाओं के निरीक्षण द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। ...जैसा कि ह्यूम ने कहा था, ब्लिक के बिना कोई व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि हम अपने ब्लिक्स द्वारा ही इस बात का निर्णय करते हैं कि कोई व्याख्या वास्तव में व्याख्या है या नहीं।"[९] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हेयर ने विशेष दृष्टिकोणों को "ब्लिक्स" कहा है, उन्हें ह्यूम ने "प्राकृतिक विश्वास" के नाम से सम्बोधित किया है। ह्यूम की मान्यता है कि ये "प्राकृतिक

विश्वास'' किन्हीं तथ्यों का वर्णन न करने के कारण सत्य अथवा मिथ्या नहीं हो सकते, परन्तु सभी तथ्यात्मक व्याख्याएं अन्ततः इन्हीं ''प्राकृतिक विश्वासों'' के आधार पर की जाती हैं । उदाहरणार्थ, बाह्य जगत् अथवा भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास, प्राकृतिक घटनाओं में कारण-कार्य के सम्बन्ध में विश्वास, तथा आत्मा की अमरता में विश्वास ही ''प्राकृतिक विश्वास'' की श्रेणी में आते हैं । इन्हीं प्राकृतिक विश्वासों के आधार पर ही हम जीवन और जगत् सम्बन्धी तथ्यात्मक व्याख्याएं करते हैं ।

परन्तु ह्यूम यह स्वीकार करते हैं कि इन धार्मिक विश्वासों का महत्त्व हमारे जीवन में कम नहीं है, बल्कि वे भी हमारे जीवन के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण और सार्थक हैं जितने कि अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्य होते हैं । क्योंकि ये प्राकृतिक विश्वास तर्कबुद्धि पर आधारित होते हुए भी हमारी तर्कणा के लिए अनिवार्य रूप से आधार तो प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार प्राकृतिक विश्वासों से सम्बन्धित धार्मिक कथन तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक न होते हुए भी वे केवल हमारी विशेष अभिवृत्तियां तथा भावनाओं की अभिव्यक्तियां हैं । इसलिए इन्हें सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करना सम्भव नहीं है ।

हेयर के अनुसार ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथन ऐसे कथन होते हैं जो धर्मपरायण व्यक्ति अथवा वक्ता की विशेष अभिवृत्ति या ब्लिक को व्यक्त करते हैं । ऐसे कथन अथवा ब्लिक किसी तथ्य का वर्णन नहीं होता । एक उदाहरण द्वारा हेयर ने तथ्यात्मक कथनों तथा धार्मिक कथनों के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । मान लीजिए, एक पागल छात्र को निश्चित रूप से विश्वास हो गया है कि सभी स्नातक उसकी हत्या करना चाहते हैं । यद्यपि उस पागल छात्र के प्रति पहुत से स्नातकों का व्यवहार अत्यन्त मैत्रीपूर्ण है फिर भी उसके इस विश्वास में कोई भी परिवर्तन नहीं होता । स्पष्ट है कि स्नातकों के सम्बन्ध में पागल छात्र का उक्त विश्वास तथ्यात्मक न होकर एक भ्रम ही है । फिर भी हम इस कथन को इस पागल छात्र के लिए मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकते । परन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि वह पागल छात्र भ्रम में है और स्नातक उसकी हत्या नहीं करना चाहते । यहां हेयर का मानना है कि इस प्रकार का हमारा विश्वास भी एक ब्लिक ही है । इसमें अन्तर केवल यह है कि हमारा यह ब्लिक उचित है और उस पागल का ब्लिक अनुचित है । परन्तु जब ये ब्लिक्स हैं तब हम किस तथ्य के आधार पर अपने ब्लिक को उचित और पागल छात्र के ब्लिक को अनुचित ठहराते हैं । इस सम्बन्ध में डॉ. वी.पी. वर्मा का अभिमत है कि हेयर ने उस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर प्रस्तुत नहीं किया है ।

धार्मिक कथनों के विषय में अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि किसी वस्तु को "ईश्वर" की संज्ञा देकर हम केवल यही नहीं कहते कि उसकी पूजा करने से कुछ विशेष परिणाम होंगे, हम यह भी कहते हैं कि उसकी पूजा करना उचित है। अर्थात् हम कम-से-कम अंशतः दूसरों को उसके प्रति एक विशेष अभिवृत्ति रखने के लिए प्रेरित करते हैं। कोई व्यक्ति वस्तुतः ईश्वर में विश्वास करता है या नहीं, इस बात पर निर्भर है कि वह "ईश्वर" नामक वस्तु के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण रखता है। अर्थात् इस बात का निर्णय उस व्यक्ति के कार्यों द्वारा ही किया जा सकता है।"[१०] अतः स्पष्ट है कि हेयर ईश्वर में विश्वास करने का अर्थ किसी वस्तुगत् सत्ता में विश्वास करना नहीं मानते बल्कि जीवन और जगत् के प्रति एक विशेष अभिवृत्ति या दृष्टिकोण में विश्वास करना मानते हैं।

धार्मिक भाषा के स्वरूप के विषय में हेयर का यह कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्हीं के शब्दों में "सर्वप्रथम मैं नैतिक भाषा और धार्मिक भाषा के कुछ समान तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि कम-से-कम इतना तो स्वीकार किया जायेगा कि सभी अथवा लगभग सभी धर्मों का नैतिक पक्ष भी होता है। इससे मेरा अभिप्राय केवल यह नहीं है कि किसी विशेष धर्म के समर्थक वास्तव में सामान्यतः कुछ विशेष नैतिक सिद्धान्तों को मानते हैं। अपितु मेरा यह भी विचार है कि धार्मिक विश्वास के साथ नैतिक सिद्धान्तों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। धर्मगुरु धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक आदेश भी देते हैं"।[११] इससे स्पष्ट है कि हेयर स्वीकार करते हैं कि नैतिक भाषा तथा धार्मिक भाषा में कुछ समानता अवश्य होती है। अतः ये दोनों ही सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। आर्. बी. ब्रेथ्वेट ने भी हेयर के उक्त मत का समर्थन किया है।[१२] वस्तुतः यदि देखा जाये तो हेयर धार्मिक भाषा को नैतिक भाषा और तथ्यात्मक भाषा का सम्मिलित रूप स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि "उपास्य विषय के प्रति पूजा-भाव रखना पूर्णतः तथ्यात्मक विश्वास को स्वीकार करने के समान नहीं है और न ही यह केवल आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का समर्थन करने के समान है; परन्तु इसमें य दोनों तत्त्व सम्मिलित रहते हैं।[१३] यही कारण है कि हेयर ने नैतिक निर्णयों की तरह धार्मिक कथनों को भी परामर्शात्मक स्वीकार किया है।[१४] परन्तु धार्मिक भाषा के सन्दर्भ में हेयर का निश्चित और स्पष्ट विचार है कि धार्मिक कथन धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए और जीवन तथा जगत् के प्रति उनके विशेष दृष्टिकोण के लिए विशेष महत्त्व रखता है और यह उनके "ब्लिक सिद्धान्त" की एक मुख्य विशेपता कही जा सकती है। उसके अनुसार धार्मिक कथन वास्तव में ऐसे तथ्यात्मक वाक्य नहीं होते जिन्हें सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जाए,किन्तु ये ऐसे कथन अवश्य

होते हैं जो तथ्यात्मक कथनों से पूर्णतः भिन्न हैं । ऐसे कथन किन्हीं तथ्यों का वर्णन न करके केवल जीवन और जगत् के प्रति धर्मपरायण व्यक्तियों के विशेष दृष्टिकोण अथवा "बिल्क" को ही अभिव्यक्त करते हैं । अतः धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए इन कथनों का महत्त्व तो है ही । ए.जे.एयर और फ़्ल्यू की भांति हेयर भी ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता में विश्वास नहीं करते। इसलिए इन्हें भी असंज्ञानात्मक सिद्धान्त का समर्थक स्वीकार किया जाता है ।

आर्. एम्. हेयर के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं । इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में हेयर का उपर्युक्त ब्लिक सिद्धान्त कहाँ तक युक्तिसंगत है और क्या उनका सिद्धान्त फ़्ल्यू की उस चुनौती का उत्तर देने में सफल हो पाया है जिसका उल्लेख उन्होंने मिथ्यापनीयता सिद्धान्त में किया है ? इन प्रश्नों के विषय में सार्थक चर्चा करने के पूर्व महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या हेयर ने विशेष धार्मिक अभिवृत्ति अथवा ब्लिक को स्थायी तथा अपरिवर्तनीय स्वीकार किया है ? इस सम्बन्ध में बेसिल मिचैल का कहना है कि ब्लिक अपरिवर्तनशील और स्थायी हैं ।[१५] हेयर ने ह्यूम के दार्शनिक विश्लेषण का उल्लेख करते हुए यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि ब्लिक स्थायी और अपरिवर्तनशील होता है । परन्तु हेयर ने यह स्वीकार करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया है कि पाश्चात्य देशों में प्रायः लोग परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ईसाई ब्लिक से ही संचालित होते हैं । लेकिन यह ईसाई ब्लिक भी परिवर्तित हो सकता है ।[१६] स्पष्ट है कि हेयर ब्लिक को परिवर्तनशील मानते हैं । प्रायः धार्मिक दृष्टि अन्य सभी दृष्टियों की अपेक्षा व्यापक तथा सर्वसमावेशी होती है । इसलिए धार्मिक दृष्टिकोण अथवा ब्लिक सरलता से परिवर्तनशील नहीं होता । परन्तु कोई भी घटना ब्लिक से बाहर नहीं रह सकती, क्योंकि प्रत्येक ब्लिक वक्ता की विशेष अभिवृत्ति या ब्लिक ही होता है ।

हेयर ने ब्लिक सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पागल छात्र का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है और कहा है कि पागल का ब्लिक अनुचित और स्नातकों का ब्लिक उचित है । परन्तु हेयर सभी ब्लिक्स को अमिथ्यापनीय मानते हुए कुछ ब्लिक को उचित और कुछ ब्लिक को अनुचित स्वीकार कर रहे हैं । परन्तु उन्होंनें इसका कोई निश्चित मापदण्ड प्रस्तुत नहीं किया है जिससे उचित अथवा अनुचित में अन्तर किया जा सके । यदि ब्लिक्स वास्तव में अमिथ्यापनीय है तो किन्हीं दो ब्लिक्स में किसी भी प्रकार की तुलना युक्तिसंगत नहीं कही जा सकती । अतः यह कहा जा सकता है कि हेयर अपने मत की पुष्टि में कोई संतोषप्रद कारण प्रस्तुत नहीं कर सके ।

जब हेयर यह कहते हैं कि हमारा ब्लिक उचित है और पागल छात्र का ब्लिक अनुचित है तो यहां पर एक दार्शनिक समस्या उपस्थित हो जाती है। यह स्पष्ट है कि उचित अथवा अनुचित एक नीतिशास्त्रीय शब्द है जो अनुभववादी मानदण्डों के अनुसार तथ्यात्मक नहीं कहा जाता। किसी कथन को उचित अथवा अनुचित कहना केवल वर्णन करना नहीं है, बल्कि मूल्यांकन करना है और जिन नियमों, सिद्धान्तों अथवा आदर्शों के आधार पर हम आचरण को उचित अथवा अनुचित कहते हैं, वे इस मूल्यांकन के मानक होते हैं। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्राय: नीतिशास्त्र में किया जाता है जिन्हें "नैतिक शब्द" अथवा "नैतिक वाक्यांश" कहा जाता है। इन्हीं के द्वारा व्यक्ति के चरित्र अथवा आचरण का मूल्यांकन किया सकता है। जब हम यह कह सकते हैं कि उस व्यक्ति का अमुक दृष्टिकोण (ब्लिक) उचित अथवा अनुचित है तो सामान्यत: इससे व्यक्ति और उसके आचरण का मूल्यांकन नहीं होता, अपितु उसके कर्मों का मूल्यांकन सूचित होता है। अत: स्पष्ट है कि हेयर ने अपने उक्त उदाहरण से दो सार्थक तथा तथ्यात्मक कथनों से तथ्यहीन नीतिशास्त्रीय निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है जो स्पष्टत: तर्क-शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करता है। अत: हेयर के विचार को युक्तिसंगत स्वीकार करना सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

पुन: यदि हेयर के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो एक समस्या यह उपस्थित हो सकती है कि उचित अथवा अनुचित शब्द का प्रयोग मनुष्य तथा उसके समस्त ऐन्द्रिक कर्मों के सम्बन्ध में प्राय: किया जाता है। परन्तु जब हम न शब्दों का प्रयोग किसी निर्जीव वस्तु और निरैच्छिक कर्म के मूल्यांकन के लिए करते हैं तब इन्हें हम "नैतिक शब्द" भी नहीं कह सकते। यह ज्ञातव्य है कि हेयर ने धार्मिक भाषा को नैतिक तथा तथ्यात्मक भाषा का मिश्रित रूप स्वीकार किया है। इस प्रकार धार्मिक भाषा में नैतिक भाषा का आंशिक समावेश माना जा सकता है। अत: जब हेयर विक्षिप्त अथवा पागल व्यक्ति के निर्णय को अनुचित कहते हैं तब वे उसके निर्णय को स्वैच्छिक मानकर सामान्य व्यक्ति के निर्णय की तरह स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु विक्षिप्त अथवा पागल व्यक्ति का प्रत्येक निर्णय निरैच्छिक ही होता है। इसलिए हम उसके किसी भी कथन या निर्णय को उचित अथवा अनुचित कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि उसका प्रत्येक कथन अबौद्धिक और व्यर्थ होता है। इस प्रकार हेयर ने विक्षिप्त व्यक्ति के व्यर्थ और निरर्थक कथनों की, सामान्य व्यक्तियों के साथ तुलना करके निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया है। यदि हेयर के इस मत को स्वीकार कर लिया जाये तो कठिनाई यह होगी कि हम जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले कथनों को किसी व्यर्थ के कथनों से तुलना करके निरर्थक निष्कर्ष प्राप्त करेंगे,जो उस विक्षिप्त व्यक्ति की कोटि में आने के लिए पर्याप्त होगा और इस

प्रकार सम्पूर्ण लोकव्यवहार अव्यवस्थित क्रीड़ा का मैदान बन जायेगा । अत: हेयर के उक्त उदाहरण में किसी नियमनिष्ठता तथा पर्याप्त कारणता के अभाव में उनका विचार युक्तिसंगत नहीं बन पाया है ।

हेयर के अनुसार धार्मिक कथन किसी तथ्य का वर्णन न करके केवल वक्ता के ब्लिक को ही अभिव्यक्त करते हैं जिन्हें सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता । परन्तु क्या धर्मपरायण व्यक्ति हेयर के इस मत को कभी स्वीकार कर सकेंगे ? क्योंकि धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए धार्मिक कथन तथ्यबोधक अथवा संज्ञानात्मक ही होते हैं तथा इनके द्वारा ही वे जीवन और जगत् संबंधी गहन सत्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । यदि हेयर के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि धार्मिक कथनों व विश्वासों की सत्यता अथवा असत्यता के विषय में कोई भी युक्ति प्रस्तुत करना असम्भव होगा । तब तो इन विश्वासों और कथनों के विषय में कोई भी सार्थक वाद-विवाद या विचार-विमर्श नहीं किया जा सकेगा । फलत: उन विश्वासों में रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वासों की एक ऐसी परम्परा विकसित हो जायेगी जिसकी कड़ी कभी समाप्त नहीं हो सकेगी । अत: हेयर का ब्लिक सिद्धान्त सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता । परन्तु कुछ अस्पष्टता और कठिनाइयों के होते हुए भी ब्लिक के अर्थ के सम्बन्ध में धार्मिक कथनों की सार्थकता अनुभववादी दर्शन के अनुरूप होने के कारण पर्याप्त सीमा तक उचित एवं युक्तिसंगत मानी जा सकती है ।[१८]

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर – २७३००१
(उत्तर प्रदेश)

समर बहादुर सिंह

**टिप्पणियाँ**

१. जी. ई. मूर की १९०३ में प्रकाशित पुस्तक *प्रिंसिपिया एथिका* के बाद में ही नीतिशास्त्र में "विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र" नाम से इस नयी विधा का विकास हुआ ।

२. बेसिल मिचैल, फेथ ऐंड लॉजिक, पृष्ठ १८९

३. आर्. एम्. हेयर, *फ्रीडम ऐंड रीजन*, पृष्ठ ७-८

४. ए. फ्ल्यू और ए. मैकिण्टायर (सम्पादक), *न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी*, पृष्ठ ९८

५. आर्. एम्. हेयर, *न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलॉजी*, सम्पादक ए. फ्ल्यू और ए. मैकिण्टायर, पृष्ठ ९९

६. आर्. एम्. हेयर के इस विचार से ए.जे. एयर तथा ए. फ्ल्यू के सत्यापनीय सिद्धान्त तथा मिथ्यापनीयता सिद्धान्त से असहमति दृष्टिगत होती है ।

७. *फेथ ऐंड लॉजिक*, पृष्ठ १८९-९०

८. *न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलॉजी*, पृष्ठ १०१

९. *वही*, १०१

१०. *फेथ ऐंड लॉजिक*, पृष्ठ, १८७

११. *फेथ ऐंड लॉजिक*, पृष्ठ १८७

१२. जॉन हिक् द्वारा सम्पादित पुस्तक *क्लासिकल ऐंड कण्टेम्परी इन द फिलासॉफी ऑफ रिलिजन* में संकलित ब्रेथवेट का लेख, पृष्ठ ४३०

१३. *फेथ ऐंड लॉजिक*, पृष्ठ १८९

१४. *वही*, पृष्ठ १८९

१५. *न्यू एसेज इन फिलासॉफिकल थियोलाजी*, पृष्ठ १०५

१६. *वही*, पृष्ठ १०२

१७. *न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलाजी*, पृष्ठ ९९

१८. डॉ.वी.पी. वर्मा, *समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन*, पृष्ठ ६५

# नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष का स्वरूप

जैन आगम साहित्य में ज्ञान के पांच भेद– आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवल ज्ञान– किये गये हैं[1], जिन्हें ज्ञान के साधन या माध्यम के आधार पर पुनः ज्ञान के दो भेद[2] – प्रत्यक्ष और परोक्ष– करके, आभिनिबोधिक और श्रुत को परोक्ष में तथा अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष में गर्भित किया गया है[3] । ज्ञान के ये भेद सभी जैन दार्शनिकों को मान्य हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के स्वरूप, उपभेद आदि में मतैक्य नहीं है । इस कारण जैन दार्शनिकों ने अपने-अपने चिन्तन के अनुसार इनके स्वरूप आदि को प्रस्तुत किया और ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की । इन्हीं ग्रन्थों में से एक है *नन्दीसूत्र*, जो ज्ञानमीमांसा संबंधी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा इसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष पर विस्तृत चर्चा है । प्रस्तुत लेख में नन्दीसूत्र में वर्णित प्रत्यक्ष ज्ञान पर विचार व्यक्त किये गये हैं ।

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष का स्वरूप क्या है ? *नन्दीसूत्र* में इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया गया है अर्थात् प्रत्यक्ष का कोई स्वरूप नहीं बतलाया गया है । तथापि जब यह प्रश्न किया गया कि "से किं तं पच्चक्खं ? तब इसके समाधान में प्रत्यक्ष के भेद बतलाये गये हैं । किन्तु किसी वस्तु या विषय के भेद मात्र बतला देने से उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो जाता । और न ही ये दो प्रश्न, "प्रत्यक्ष का स्वरूप क्या है?" और "प्रत्यक्ष के कितने प्रकार हैं?" एक हैं । फिर, *नन्दीसूत्र* में प्रत्यक्ष का स्वरूप क्यों नहीं बतलाया गया ? संभवतः प्रत्यक्ष के स्वरूप को स्पष्ट नहीं करने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं । पहले, नन्दीसूत्र में वर्णित है कि "ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है"।[4] इसके आधार पर कहा जा सकता है कि जिस किसी ने भी ज्ञान के दो प्रकार कहे हैं, उसने उनके स्वरूप को भी स्पष्ट किया हो, किन्तु विस्मृत हो गया हो या उसने प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा ही नहीं हो । यदि प्रत्यक्ष का स्वरूप कहा ही नहीं, तब प्रश्न है कि क्यों नहीं कहा ? या *नन्दीसूत्र* के रचयिता ने नन्दीसूत्र में उसका वर्णन नहीं किया हो । किन्तु वर्णन क्यों नहीं किया ? इसी से सम्बन्धित एक और प्रश्न है कि *नन्दीसूत्र* स्वतन्त्र ग्रन्थ है या कही हुई बातों का संकलन मात्र है?

दूसरे, ऐसा माना जाता है कि किसी वस्तु या विषय का स्वरूप बतलाने की अनेक पद्धतियाँ हैं, जिनमें से कहीं लक्षण द्वारा, कहीं स्वामीद्वारा, कहीं क्षेत्र द्वारा और कहीं भेदों द्वारा स्वरूप स्पष्ट किया जाता है[६]। इससे फलित होता है कि *नन्दीसूत्र* में प्रत्यक्ष का स्वरूप उसके भेदों द्वारा स्पष्ट किया गया है। किन्तु किसी वस्तु या विषय का स्वरूप और उसके भेद एक नहीं होते हैं। यदि एक होते हैं तब प्रमाण या ज्ञान के संदर्भ में चार प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ क्यों मान्य है?[७] दूसरे, जिस विषय के जो भेद किये गये हैं वे उसी विषय के भेद हैं, यह इससे निश्चित होता है कि उस विषय का सामान्य स्वरूप क्या है। तीसरे, *नन्दीसूत्र* के रचयिता ने प्रत्यक्ष के स्वरूप के स्पष्ट करने की आवश्यकता को महसूस ही नहीं किया हो। चौथे, प्रत्यक्ष का कोई सामान्य स्वरूप सम्भव ही नहीं हो, जैसा कि *न्यायबिन्दुटीका* में अनुमान के संदर्भ में कहा गया है कि अनुमान के दोनों भेदों में अत्यन्त भेद होने के कारण अनुमान का एक सामान्य लक्षण नहीं हो सकता है[८]। यदि प्रत्यक्ष के संबंध में ऐसा माना जाये तब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष के जो भेद किये गये हैं उनमें कोई समानता है या नहीं ? यदि उनमें कोई समानता नहीं है तब वे प्रत्यक्ष के भेद कैसे हो सकते हैं ? यदि उनमें समानता है तब वहीं प्रत्यक्ष का स्वरूप है। पांचवें, जो प्राचीन आगमिक धारा में प्रत्यक्ष का स्वरूप मान्य था वही स्वरूप यहां भी मान्य हो। प्राचीन आगमिक धारा के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को स्वतः होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है[९]। किन्तु *नन्दीसूत्र* में वर्णित प्रत्यक्ष पर यह स्वरूप लागू नहीं होता है, क्योंकि *नन्दीसूत्र* में प्रत्यक्ष के दो भेद– इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष– किये गये हैं, जिनमें से इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से ही संभव है। यदि प्राचीन आगमिक धारा में मान्य प्रत्यक्ष का स्वरूप ही यहाँ मान्य है, तब प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या है ? क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष बिना इन्द्रियों के संभव है ? यदि संभव है तब 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' कहने का क्या अर्थ है ? और यदि बिना इन्द्रियों के संभव नहीं है, तब उसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि जो इन्द्रियों के माध्यम से होता है, उसे प्रत्यक्ष नहीं माना गया है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि *नन्दीसूत्र* में प्राचीन आगम-मान्य प्रत्यक्ष का स्वरूप मान्य नहीं है। यदि मान्य है तब इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है।

प्रत्यक्ष के एक दूसरे लक्षण को लिया जा सकता है, जो शायद *नन्दीसूत्र* के रचयिता को मान्य हो। यह लक्षण है, ज्ञानावरणीयकर्मों के क्षय-उपशम से या क्षय से आत्मा में जो ज्ञान प्रकट होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।[१] यहाँ प्रश्न उठता है कि ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान कौन-कौन से हैं ? क्या मति और श्रुत ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम के बिना

ही उत्पन्न होते हैं ? मति और श्रुत ज्ञान के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे बिना ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाये कि मति और श्रुत ज्ञान बिना ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं, तब सब जीवों का मति तथा श्रुत ज्ञान समान होना चाहिए था। किन्तु उनमें भेद देखा जाता है, जो उनके कर्मों के कारण ही हो सकता है। दूसरे, सभी जीव पंचेन्द्रिय होते हैं, कोई भी जीव एक, दो, तीन या चार इन्द्रिय वाला नहीं होता। ये जो भेद हैं वे ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण हैं। इससे फलित होता है मति तथा श्रुत ज्ञान भी ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय-उपशम से होता है। अर्थात्, कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जो ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न नहीं होता। अब यदि प्रत्यक्ष का उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किया जाये तब इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि मति तथा श्रुत ज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है, जो कि परोक्ष माने गये हैं। यदि यह कहा जाये कि आवरण रहित आत्मा में प्रकट होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, तब इसमें अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि आवरणरहित आत्मा में मात्र केवल ज्ञान होता है, अवधि, मनःपर्यव एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होते हैं, जो कि प्रत्यक्ष ज्ञान माने गये हैं।

प्रत्यक्ष का एक अन्य लक्षण लें, जो शायद *नन्दीसूत्र* में वर्णित प्रत्यक्ष ज्ञान पर लागू हो। यह लक्षण है, जो विशद या स्पष्ट ज्ञान है वही प्रत्यक्ष ज्ञान है।[१०] यहाँ प्रश्न उठता है कि विशद से क्या तात्पर्य है ? आंशिक विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है या पूर्ण विशद ? पूर्ण विशदता को लें, तब तो इसमें अव्याप्ति दोष आता है, क्यों कि मनःपर्यव ज्ञान और अवधिज्ञान आंशिक विशद हैं। यदि आंशिक विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाये तब इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि मति और श्रुत ज्ञान में भी आंशिक विशदता होती है। दूसरे, प्रत्यक्ष का यह लक्षण *नन्दीसूत्र* की रचना के बहुत बाद का है। इसलिये इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह प्रश्न विचारणीय है कि *नन्दीसूत्र* में प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष के दो भेद– इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष किये गये हैं।[११] किन्तु ज्ञान के जो पांच भेद बतलाये गये हैं उन भेदों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-ज्ञान नाम का कोई ज्ञान नहीं है, और न ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष को पांच ज्ञानों में से किसी ज्ञान में गर्भित किया गया है। ऐसी स्थिति में यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्वीकार करें तब ज्ञान के छः भेद होते हैं, जो आगम-विरुद्ध है। यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आगम-मान्य है तब प्रश्न उठता है कि आगम-मान्य ज्ञान के भेदों में इसका वर्णन क्यों नहीं है ? यहाँ कहा जा सकता है कि जो मतिज्ञान है वही इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। किन्तु *नन्दीसूत्र* में मतिज्ञान तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष को

दो कोटि का ज्ञान माना है । मतिज्ञान को परोक्ष तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया है । इससे फलित होता है कि मति ज्ञान तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एक प्रकार का ज्ञान नहीं, अपितु दो प्रकार के ज्ञान हैं तथा *नन्दीसूत्र* में इन्द्रिय प्रत्यक्ष को आगम-मान्य पांच ज्ञानों के अतिरिक्त ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है । पुनः प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वरूप क्या है ? यहाँ भी प्रत्यक्ष की तरह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का स्वरूप न बतलाकर सीधे उसके भेद बतलाये गये हैं । प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं बतलाने पर भी 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' नाम से ही इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है । यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या आत्मा को ज्ञान के लिए किसी माध्यम या साधन की आवश्यकता रहती है ? इन्द्रियां विषयों को जानने में सहायक हैं या बाधक । अर्थात्, इन्द्रियां ज्ञान के साधन हैं या ज्ञान पर आवरण हैं ? इन्द्रियां ज्ञान को सीमा में बांधती हैं, अर्थात् वे ज्ञान को सीमित करती हैं, तब वे सहायक कैसे हो सकती हैं ?

अब विचारणीय प्रश्न है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया क्या है? सामान्यतः जैन दार्शनिकों ने अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया माना है [१२], किन्तु *नन्दीसूत्र* में इस प्रक्रिया को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष श्रुतनिश्रित मतिज्ञान की प्रक्रिया मानी है,[१३] तथा इन्द्रिय-ज्ञान एवं मतिज्ञान को ज्ञान न मानकर, इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष की श्रेणी में तथा मतिज्ञान को परोक्ष की श्रेणी में रखा है[१४] । नन्दीसूत्र में ऐसा भेद होने के कारण ही यह प्रश्न उठता है कि फिर इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया क्या है ?

यद्यपि यह बतलानो कठिन है कि *नन्दीसूत्र* के रचयिता के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रक्रिंया क्या है ? किन्तु *नन्दीसूत्र* में किये गये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मति-ज्ञान के भेद एवं मतिज्ञान की जो प्रक्रिया बतलाई गई है उसके आधार पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का अनुमान किया जा सकता है । अर्थात् ,इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की विकल्पात्मक प्रक्रिया को समझा जा सकता है । *नन्दीसूत्र* में मतिज्ञान के दो भेद-श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित-किये गये हैं[१५] तथा श्रुतनिश्रित के चार भेद किये गये हैं -अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ।[१६] श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के इन्हीं चार भेदों को अन्य जैन दार्शनिकों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है । किन्तु इस प्रक्रिया को स्वीकार करने पर, इस प्रक्रिया के द्वारा होने वाला ज्ञान शुद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं रह पाता है । क्योंकि इसमें श्रुतज्ञान का मिश्रण है । अर्थात्, इन्द्रिय में श्रुत ज्ञान निमित्त बनता है, जो कि इसमें निमित्त नहीं होना चाहिए । इस प्रक्रिया में जो''अवाय'' ज्ञान है वह श्रुतज्ञान पर आश्रित है, क्योंकि अवाय की स्थिति में यह जाना जाता है कि ''यह लाल

रंग है, सफेद रंग नहीं", और जिस अर्थ-विशेष को हम "लाल रंग" कह रहे हैं वह पूर्वज्ञान पर आधारित होता है, जो अवश्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बतलाया गया होता है, क्योंकि हम स्वत: यह नहीं जानते हैं कि अमुक वस्तु या विषय क्या है ? जब किसी वस्तु या विषय को नाम से जानते हैं तथा नाम से पुकारते हैं तब वह श्रुतज्ञान पर आश्रित होता है । अर्थात्, शब्द-संसर्ग के पूर्व का इन्द्रिय ज्ञान 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' है तथा उसी ज्ञान के साथ जब शब्द-संसर्ग हो जाता है जब वह परोक्ष ज्ञान की श्रेणी में आ जाता है । संभवत: इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए देववाचक ने उपर्युक्त प्रक्रिया से होने वाले ज्ञान को श्रुतनिश्रित मति ज्ञान कहा हो और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को इससे भिन्न रखा हो। इस प्रकार यदि उपर्युक्त प्रक्रिया में जहां श्रुत का मिश्रण है उस अंश को निकाल दिया जाये, तब शायद जो प्रक्रिया रहती है वही इन्द्रिय प्रयक्ष की प्रक्रिया है। जो निम्नलिखित रूप से है :–

*इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया :–* अवग्रह → ईहा → धारणा । इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है–

*इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रक्रिया :–* इन्द्रिय और अर्थ का संसर्ग–विषय का प्रतिभास–अवग्रह–ईहा–धारणा ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष की उपर्युक्त प्रक्रिया में सबसे पहले इन्द्रिय और अर्थ का संसर्ग होते ही अर्थ का प्रतिभास मात्र होता है, जिसे निर्विकल्पक बोध भी कहते हैं। यह अवस्था इतनी सूक्ष्म होती है कि इसमें अर्थ की एक झलक मात्र मिलती है, विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है । इसके पश्चात् विषय की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है, जिसे 'अवग्रह' कहते हैं, जैसे 'लालरंग' की स्पष्ट प्रतीति । किन्तु इस अवस्था में यह ज्ञात नहीं होता है कि यह क्या है ? क्योंकि इस अवस्था में यह नहीं जानते कि यह रंग है और यह भी नहीं जानते कि 'लाल रंग' है, क्योंकि यदि यह जान लें कि यह 'रंग' है तब इसमें पूर्व श्रुतज्ञान का मिश्रण हो जाता है जिसके कारण वह शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं रह पाता है । क्योंकि 'रंग' तथा 'लाल' ये दो शब्द हैं और किसी अर्थ-विशेष को कोई नाम देने से उसके साथ शब्द का संसर्ग हो जाता है । अवग्रह के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि यह क्या है ? इस अवस्था को "ईहा" कहते हैं । किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष उत्पत्ति के क्रम में "ईहा" हो । कुछ अवस्थाएं ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें प्रतिभासित विषय के प्रति यह प्रश्न नहीं उठता है कि यह क्या है । अन्त में प्रतिभासित विषय के जो संस्कार हमारे मनस् में रह जाते हैं उसे "धारणा" कहते हैं । ध्यातव्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में "अवाय" नहीं होता है, क्योंकि अवाय श्रुतज्ञान पर आश्रित है, जिसे यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

में स्वीकार किया जाये तब, इसमें शब्द का संसर्ग हो जाता है जिसके कारण वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान की श्रेणी में आ जाता है ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रियों पर आश्रित होने के कारण इन्द्रिय-भेद के आधार पर इसके पांच भेद किये गये हैं[१७], इन्हें निम्नलिखित तालिका द्वारा समझा जा सकता है–

| ज्ञान | ज्ञान का साधन | ज्ञान का विषय | ज्ञान का स्रोत |
|---|---|---|---|
| श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष | कान | शब्द | श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा |
| चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष | आंख | रूप | चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा |
| घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष | नाक | गंध | घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा |
| जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष | जीभ | रस | जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा |
| स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष | त्वचा | स्पर्श | स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा |

जो ज्ञान कान के निमित्त से होता है उसे श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं ।'शब्द' इस ज्ञान का विषय है । अर्थात्, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द को जाना जाता है[१८] । यहां प्रश्न उठता है कि श्रुतज्ञान का निमित्त क्या है ? यदि श्रुतज्ञान का निमित्त श्रोत्रेन्द्रिय है तब श्रुतज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भिन्न तथा एक स्वतन्त्र ज्ञान के रूप में क्यों स्वीकार किया गया है ? अर्थात्, श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में तथा श्रुतज्ञान में क्या भेद है, जिसके कारण ये दो प्रकार के ज्ञान हैं ? यदि श्रोत्रेन्द्रिय श्रुतज्ञान का निमित्त नहीं है तब उसका निमित्त क्या है ? दूसरे, श्रुतज्ञान का विषय क्या है?

जिस इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आंख निमित्त हो, उसे चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु के द्वारा रूप को जाना जाता है । अर्थात्, चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय 'रूप' है[१९] ।प्रश्न उठता है कि चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष 'रूप' को ही ग्रहणी करती है या अन्य विषयों को भी ? यदि ऐसा माना जाये कि चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा रूप को जाना जाता है, तब तो यह स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि चक्षु के द्वारा आकृति या आकार और गति को भी जाना जाता है । यदि यह कहा जाये कि चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा रूपेतर विषयों को भी जाना जाता है, तब इसमें विरोध आता है, क्योंकि

चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय के रूप में 'रूप' को ही स्वीकार किया गया है, रूपेतर को नहीं। जिस ज्ञान में नासिका निमित्त हो उसे घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, जिह्वा जिसमें निमित्त हो उसे जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और त्वचा जिसमें निमित्त हो उसे स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं, जिनके विषय अनुक्रमशः हैं गन्ध, रस और स्पर्श[२०]। प्रश्न है कि रूप, रस गंध आदि पुद्गल के गुण हैं तब क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा मात्र गुणों को ही जाना जाता है या वस्तु को भी ? यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा गुणों को ही जाना जाता है तब वस्तु के ज्ञान का निमित्त क्या है?

सम्भवतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा मात्र रूपादि गुणों को ही जाना जाता है, वस्तुओं को नहीं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा गुणों को जानते समय जो वस्तु का ज्ञान होता है, वह गुणों को जानते समय हमारे मनस् में विभिन्न मानसिक क्रियाएं होती हैं उन्हीं मानसिक क्रियाओं के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, जो मति ज्ञान की श्रेणी में आता है। किन्तु, यदि यह स्वीकार किया जाये कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा रूप आदि गुणों को जाना जाता है तब प्रश्न उठता है कि क्या 'शब्द' गुण है? यदि है, तब किस द्रव्य का ? किन्तु, जैन दार्शनिकों ने शब्द को गुण नहीं माना है। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द का ज्ञान कैसे हो सकता है? यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय रूपादि गुण हैं ?

ध्यातव्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में इन्द्रियां अपने विषय की सर्वग्राही नहीं होती हैं, क्योंकि इनकी संरचना ही ऐसी है कि ये अपने विषय से निकलने वाली संवेदनाओं की एक निश्चित तीव्रता होने पर ही ग्रहण कर सकती हैं, क्योंकि इन्द्रियां जिसे भी जानती हैं उसे संवेदनाओं के माध्यम से जानती हैं और सभी संवेदनाओं की तीव्रता समान नहीं होती। जैसे, चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष में आंख निमित्त है और रूप विषय। किन्तु आंख प्रत्येक रूप की प्रत्येक अवस्था को ग्रहण नहीं करती। यहां प्रश्न उठता है कि क्या इन्द्रियां रूप आदि विषयों के अतिरिक्त विषयों को भी जान सकती हैं ? अर्थात् क्या ऐसे विषय जिनसे किसी प्रकार की संवेदनाएं नहीं निकलतीं, इन्द्रियग्राह्य हैं ? यदि नहीं, तब गति, आकृति आदि को कैसे जाना जाता है ?

दूसरे, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा तीनों कालों के रूपादि को नहीं जाना जा सकता है, अपितु जो वर्तमान काल में है उन्हीं को इन्द्रियां अपना विषय बनाती हैं। वर्तमान काल में भी जो रूप आदि हैं उनमें से जो अतिदूर, अतिनिकट तथा सूक्ष्म हैं उनको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता और न ही इसकी समस्त अवस्थाओं को जाना जा सकता है। यहां प्रश्न उठता है कि क्या तीनों कालों के समस्त रूप आदि को तथा उनकी समस्त अवस्थाओं को जाना जा सकता है ? यदि जाना जा

सकता है तब उनके जानने का माध्यम क्या है ? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा उन्हें जाना जा सकता है ।

पुन: प्रश्न उठता है कि नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वरूप क्या है? नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्वरूप को निश्चित करने से पहले नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष में आये "नो-इन्द्रिय" शब्द के अर्थ को जानना आवश्यक है । "नो-इन्द्रिय" से तात्पर्य है बिना इन्द्रिय[११] । इससे फलित होता है कि जो ज्ञान बिना इन्द्रियों की सहायता के ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय-उपशम या क्षय से होता है उसे "नो-इन्द्रिय" कहते हैं । प्रश्न है कि क्या नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष उन्हीं विषयों को जानता है जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं या उनसे भिन्न विषयों को ? एक ही विषय का इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान तथा नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान में क्या कोई भेद है ? अर्थात्, एक ही विषय को जब दो प्रकार के ज्ञानों से जाना जाये तब क्या उस विषय का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में समानता होती है या नहीं ? जैसे, लाल रंग को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भी जाना जाये तथा केवल ज्ञान से भी, तब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से प्राप्त लाल रंग के ज्ञान तथा केवल ज्ञान से प्राप्त लाल रंग के ज्ञान में समानता होती है या नहीं ? यदि समानता होती है, तब तो दोनों ज्ञान एक ही श्रेणी के सिद्ध होते हैं, तब ये दो ज्ञान कैसे ? यदि भेद होता है, तब एक ही विषय का दो प्रकार का ज्ञान कैसे ? उनमें से किसका यथार्थ कहा जाये और किसका अयथार्थ ? क्या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की तरह नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के भी भेद-उपभेद हैं? इसके समाधान के रूप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे एक कोटि या श्रेणी के ज्ञान हैं उसी प्रकार नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक ही प्रकार का ज्ञान है, क्योंकि नो-इन्द्रिय के भी भेद, उप-भेद हैं, जिनमें विषय, हेतु, स्रोत तथा धारकगत भेद हैं । इन भेदों के आधार पर नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तीन भेद किये गये हैं,[१२] जिन्हें एक तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है, जो इस प्रकार है–

| ज्ञान | ज्ञान का स्रोत | ज्ञान का हेतु | ज्ञान का विषय | ज्ञान का धारक |
|---|---|---|---|---|
| अवधिज्ञान | अवधिज्ञानावरणीय कर्मरहित आत्मा | अवधिज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय-उपशम | रूपी द्रव्य | नारकी, देव मनुष्य और तिर्यञ्च । |
| मन:पर्यवज्ञान | मन:पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म रहित आत्मा | मन:पर्यव ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय-उपशम | मन के पर्याय | ऋद्धिप्राप्त, अप्रमत्त संयत, सम्यग्दृष्टि, पर्याप्त संख्यात वर्ष आयु वाले कर्म-भूमिज, गर्भज, मनुष्य |

| केवलज्ञान | शुद्धआत्मा | समस्त कर्मों का क्षय | समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें | केवल पुरुष |
|---|---|---|---|---|

अब प्रश्न उठता है कि अवधिज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसके समाधान में कहा गया हैं कि जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा नहीं रखता हुआ मात्र आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानता है वह अवधिज्ञान कहलाता है[२३] । "अवधि" का अर्थ मर्यादा भी होता है[२४] । इसका अर्थ है अवधि ज्ञान अपनी मर्यादा में रहता हुआ ही द्रव्यों को जानता है । अर्थात्, रूपी द्रव्यों को जानना और अरूपी द्रव्यों को नहीं जानना ही इसकी मर्यादा है[२५] । प्रश्न उठता है कि "रूपी द्रव्य" से क्या तात्पर्य है ? रूपी द्रव्य से तात्पर्य है जिसमें "रूप"गुण हो[२६] । इससे फलित होता है कि पुद्गल ही एक मात्र ऐसा द्रव्य है जो रूपी है ।

अवधिज्ञान या तो जन्म से होता है या फिर साधना से उत्पन्न किया जा सकता है । इस आधार पर इसके दो भेद किये गये हैं -भवप्रत्ययिक और क्षयोपशमिक[२७]। जो अवधि ज्ञान जन्मजात होता है, जिसे प्रकट करने के लिए संयम, नियम, व्रत आदि की अपेक्षा नहीं होती है उसे भवप्रत्ययिक अवधि ज्ञान कहते हैं[२८] । प्रश्न उठता है कि क्या भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान में किसी पूर्व-जन्म के संयम, नियम आदि की अपेक्षा नहीं होती. है ? यदि पूर्व-जन्म के संयम, नियम, व्रत आदि की अपेक्षा रहती है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि संयम आदि की कोई अपेक्षा नहीं रहती है ? और यदि पूर्व-जन्म के संयम, नियम आदि की अपेक्षा नहीं रहती है, तब क्या भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान बिना कर्मों के क्षयोपशम के उत्पन्न हो जाता है ? क्या सभी जीवों को भवप्रत्ययिक अवधि ज्ञान होता है या कुछ विशिष्ट जीवों को ? भवप्रत्ययिक अवधि ज्ञान सभी जीवों को नहीं होता है, अपितु नारकीय तथा देवों को ही होता है[२९] । पुनः प्रश्न उठता है कि मनुष्यों और तिर्यञ्च जीवों को क्यों नहीं होता है ? इनको कौन-सा अवधिज्ञान होता है? इसके समाधान में कहा गया है कि मनुष्यों और तिर्यञ्च जीवों को क्षयोपशमिक अवधिज्ञान होता है[३०] । जो संयम, नियम,व्रत आदि के बल से प्रकट होता है उसे क्षयोपक्षमिक अवधि ज्ञान कहते हैं[३१] । यह अवधिज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय-उपशम से प्रकट होता है, इसलिए इसे क्षयोपशमिक अवधि ज्ञान कहते हैं । *नन्दीसूत्र* में इसके छह भेद किये गये हैं– अनुगामिक, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपातिक और अप्रतिपातिक[३२] ।

१. जो अवधिज्ञान सदैव अवधिज्ञानी के साथ विद्यमान रहे उसे आनुगामिक क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं । अर्थात् जो अवधिज्ञान अवधिज्ञानी के

स्थान-परिवर्तन,कालपरिवर्तन, जन्मपरिवर्तन करने पर भी साथ रहे,उसे आनुगामिक क्षयोपशमिक अवधि ज्ञान कहते हैं, जैसे चलते हुए पुरुष के नेत्र उसके साथ रहते हैं। यहां प्रश्न है कि क्या ज्ञान गतिशील है ? यदि है, तब ज्ञान का गति के साथ क्या सम्बन्ध है ? और यदि ज्ञान गतिशील नहीं है तब अवधिज्ञानी के स्थान परिवर्तन के समय वह साथ कैसे जा सकता है ? क्या ज्ञान स्थान-परिवर्तन करता है ? यदि ज्ञान स्थान परिवर्तन करता है तब क्या ज्ञान स्थान घेरता है ?

२. जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र या स्थान-विशेष में प्रकट हुआ है उसी क्षेत्र पर स्थित होकर रूपी द्रव्यों को जान सकता है उसे अनानुगामिक क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं[१३]। यह ज्ञान जिस क्षेत्र-विशेष में प्रकट हुआ है उस क्षेत्र-विशेष से किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाने पर लुप्त हो जाता है। यहां प्रश्न है कि दूसरे क्षेत्र में चले जाने पर यह लुप्त क्यों हो जाता है ? यह एक क्षेत्र-विशेष में ही क्यों प्रकट होता है ? एक बार प्रकट होने के पश्चात् जीव के साथ क्यों नहीं जाता है ? जिस क्षेत्र-विशेष में यह उत्पन्न हुआ है उस क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाने पर यह लुप्त हो जाता, फिर क्या पुनः उसी क्षेत्र में, जहाँ यह उत्पन्न हुआ है, आ जाने पर यह पुनः प्रकट हो जाता है ? यहां मूल प्रश्न यह है कि ज्ञान का क्षेत्र या स्थान से क्या सम्बन्ध है ?

३. अध्यवसायों तथा चरित्र की शुद्धि होने से और पर्यायों की अपेक्षा चारित्र की वृद्धि होने से, जिस अवधिज्ञान में वृद्धि होती है उसे वर्द्धमानक क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं[१४]। प्रश्न उठता है कि अवधिज्ञान में वृद्धि से क्या तात्पर्य है ? यहां वृद्धि को मुख्यतः तीन अर्थों में समझा जा सकता है- पहले अर्थ में वृद्धि को एक विषय-विशेष के ज्ञान की वृद्धि में ले सकते हैं, जैसे पुद्गल के जितने पक्षों का ज्ञान है उससे अधिक पक्षों का ज्ञान होना। किन्तु क्या अवधिज्ञान के संदर्भ में ऐसा माना जा सकता है कि जिस अवधिज्ञान से जिस परमाणु विशेष को जाना गया है, उस अवधिज्ञान में वृद्धि होने पर उसी परमाणु को अधिक जाना जा सकता है ? अर्थात् क्या उस परमाणु के ज्ञान में वृद्धि होगी ?यदि वृद्धि होगी, तब परमाणु के ज्ञान में वृद्धि से क्या तात्पर्य है ? दूसरे अर्थ में अवधि ज्ञान की वृद्धि से तात्पर्य है क्षेत्र की वृद्धि अर्थात्, जिस अवधिज्ञान के द्वारा जितने क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को जाना जा सकता है उससे अधिक क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को जाना जा सकता है। तीसरे अर्थ में कालिक वृद्धि को लिया जा सकता है। अर्थात्, जितने काल तक रूपी द्रव्यों को जाना जा सकता है उससे

अधिक काल तक रूपी द्रव्यों को जानना। अब प्रश्न है कि अवधिज्ञान में वृद्धि से तात्पर्य इन तीनों प्रकार की वृद्धियों से है या किसी अन्य प्रकार की वृद्धि से ? क्या अवधिज्ञान की वृद्धि की कोई सीमा है ? अवधिज्ञान की वृद्धि का साधन क्या है ? इसके समाधान में कहा गया है कि चरित्र की शुद्धि एवं वृद्धि से अवधिज्ञान की वृद्धि होती है। यहां प्रश्न है कि ज्ञान तथा चरित्र का क्या सम्बन्ध है ?

४. जब पूर्व काल में प्रकट अवधिज्ञान में न्यूनता आ जाती है तब उसे हीयमान क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार ईंधन की कमी से अग्नि मंद हो जाती है, उसी प्रकार चरित्र की कमी से अवधिज्ञान भी हीन, हीनतर और हीनतम हो जाता है[३५]।

५. जो अवधिज्ञान एकदम लुप्त हो जाता है उसे प्रतिपातिक क्षयोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि प्रतिपातिक अवधि ज्ञान धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त नहीं होता है, अपितु एकदम लुप्त हो जाता है, जैसे जगमगाता हुआ दीपक, दीपक, तेल, तथा बाति के होते हुए भी, वायु के एक झोंके से एकदम बुझ जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी एकदम लुप्त हो जाता है। यहां प्रश्न है कि इसके एकदम लुप्त होने का कारण क्या है ? यह एक ही कर्म से लुप्त होता है या अनेक कर्मों से? यदि एक ही कर्म से लुप्त होता है तब वह कर्म कौन-सा है ? यदि अनेक कर्मों से लुप्त होता है तब वह पूर्व संचित कर्मों से होता है या तत्क्षण के कर्मों से ?

६. जिस अवधिज्ञान से ज्ञाता अलोक के एक भी आकाश- प्रदेश को जानता और देखता है उसे अप्रतिपातिक क्षयोपशमिक अवधि ज्ञान कहते हैं[३६]। प्रश्न उठता है कि अवधि ज्ञान से अलोकाकाश के प्रदेश को कैसे जाना जा सकता है ? क्योंकि अलोकाकाश में मात्र आकाश-द्रव्य है, जो अरूपी है तथा अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है। अप्रतिपातिक अवधिज्ञान, अवधिज्ञान की अन्तिम अवस्था है जिसका कभी नाश नहीं होता है। अर्थात्, यह कभी लुप्त नहीं होता है और न ही इसमें न्यूनता या कमी आती है। जिसे भी इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है उसे इस ज्ञान के पश्चात् 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति अवश्य होती है।

यहां प्रश्न है कि वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपातिक और अप्रतिपातिक क्षयोपशमिक अवधिज्ञानों को अवधिज्ञान के प्रकार कैसे माने जा सकते हैं ? क्योंकि ज्ञान में वृद्धि होना, कमी होना, लुप्त होना और लुप्त नहीं होना ज्ञान की विभिन्न अवस्थाएं हैं। यदि अवस्थाओं

को अवधिज्ञान के प्रकार या भेद माना जाये, तब तो अवधिज्ञान के अनेक भेद होंगे, क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक क्षण की अलग-अलग अवस्थाएं होती हैं।

दूसरे, इन सभी अवधिज्ञानों का विषय रूपी द्रव्य है, तब प्रश्न उठता है कि फिर मन:पर्यव-ज्ञान अवधिज्ञान से भिन्न, ज्ञान का एक प्रकार कैसे हो सकता है ? क्योंकि मन:पर्यव-ज्ञान मन की पर्यायों को जानता है जो रूपी हैं, क्योंकि मन पुद्गल है और पुद्गल रूपी द्रव्य है। इससे फलित होता है कि मन रूपी है और मन रूपी होने के कारण उसकी पर्याय भी रूपी हैं। अत: मन की पर्यायों को अवधिज्ञान से जाना जा सकता है। तब मन:पर्यव-ज्ञान स्वतन्त्र ज्ञान कैसे ?

किन्तु प्रश्न है कि मन:पर्यव-ज्ञान का स्वरूप क्या है ? *नन्दीसूत्र* में यद्यपि मन:पर्यव-ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं बतलाया गया है, अपितु हिन्दी टीका के अनुसार जो ज्ञान मनके पर्यायों या भावों को जानता है उसे मन:पर्यव-ज्ञान कहते हैं[३७]। मन:पर्यव-ज्ञान के द्वारा मन के पर्यायों को जानते समय इन्द्रिय तथा मन की कोई भूमिका नहीं होती है, अपितु जब आत्मा के मन:पर्यव ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय-उपशम हो जाता है तब आत्मा उन्हें प्रत्यक्ष रूप से जानती है। प्रश्न उठता है कि मन का पर्याय किसे कहते हैं ? इसके जवाब में कहा गया है कि "जब मन किसी वस्तु या विषय का चिन्तन करता है तब चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियां धारण करता है। वे क्रियाएँ ही मन के पर्याय हैं[३८]।" यहां प्रश्न है कि मन की विभिन्न आकृतियां मन के पर्याय हैं या मन की क्रियाऐं ? दूसरे, क्या चिन्तनशील मन के अतिरिक्त मन की विभिन्न अवस्थाएं मन के पर्याय नहीं हैं ? यदि नहीं है तब क्या अचिन्तनशील मन पर्याय से रहित है ? यदि अचिन्तनशील मन की विभिन्न अवस्थाएं भी मन के पर्याय हैं तब उपर्युक्त मन के पर्याय के लक्षण में अव्याप्ति दोष है। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -जैसे कोई व्यक्ति "क" समय में किसी वस्तु का चिन्तन कर रहा है, "ख" समय में सो रहा होता है, "ग" समय में मतिज्ञान से घट को जान रहा होता है, "घ" समय में अवधिज्ञान से रूपी द्रव्यों को जान रहा होता है, "ङ" समय में निर्विकल्पक समाधि में हो। ये एक मन की विभिन्न अवस्थाएं हैं। यहां प्रश्न है कि मन की ये विभिन्न अवस्थाएं मन के पर्याय हैं या नहीं ? दूसरे, मन के पर्याय कैसे मान जा सकते हैं, क्योंकि मन स्वयं पुद्गल का पर्याय है। अर्थात्, क्या पर्याय के पर्याय होते हैं ? यदि होते हैं तब इसमें अनवस्था दोष आता है।

जैसा कि ऊपर कहा चुका है कि मन:पर्यव-ज्ञान से यह जाना जा सकता है कि कोई व्यक्ति क्या चिन्तन कर रहा है या किस वस्तु के बारे में क्या विचार

कर रहा है। यहां प्रश्न है कि मन:पर्यव–ज्ञान के द्वारा उस वस्तु या विषय को भी, जिसका विचार किया जा रहा होता है, जाना जा सकता है ? अर्थात्, जैसे कोई "घट" के बारें में विचार कर रहा है तब क्या मन:पर्यव–ज्ञान के द्वारा घट के विचार के साथ उस वास्तविक घट को भी जाना जा सकता है ? यदि जाना जा सकता है, तब कैसे; और नहीं, तब क्यों ? इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है जब इस प्रश्न का समाधान हो कि विचार तथा विचार के विषय में क्या सम्बन्ध है ?

नन्दीसूत्र में मन:पर्यव-ज्ञान के दो भेद किये गये हैं– ऋजुमति और विपुलमति।[३९] जो अपने विषय का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करता है उसे ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान कहते हैं, और जो उसी विषय को विशेषरूप से प्रत्यक्ष करता है उसे विपुलमति मन:पर्यव-ज्ञान कहते हैं।[४०] एक ही विषय को ऋजुमति मन:पर्यव-ज्ञान के द्वारा कुछ कम जाना जाता है और विपुलमति-ज्ञान के द्वारा कुछ अधिक। किन्तु विपुलमति मन:पर्यव-ज्ञान के द्वारा समस्त मनों की समस्त पर्यायों को नहीं जाना जा सकता है। यहां प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा ज्ञान भी है जो समस्त मनों की समस्त पर्यायों को जान सकता है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि 'केवल ज्ञान' के द्वारा जाना जा सकता है।

पुनः प्रश्न उठता है कि केवल ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसके जवाब में कहा गया है कि समस्त ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय होने पर प्रकट होने वाले निरावरण ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं। वह अकेला होने के कारण उसे केवलज्ञान कहते हैं।[४१] केवल ज्ञान के द्वारा तीनों कालों के समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को जाना जाता है तथा उन्हें जानने के लिए किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। वह अतीन्द्रिय होता है। उसके एक बार प्रकट होने पर फिर कभी लुप्त नहीं होता है। अर्थात्, केवल ज्ञान सादि तथा अनन्त है और एक जैसा रहने वाला है। उससे बढकर अन्य कोई ज्ञान नहीं है जो मात्र मनुष्य भव में प्रकट होता है, अन्य किसी भव में नहीं।

केवल ज्ञान के मुख्य दो भेद किये गये हैं - भवस्थ केवलज्ञान और सिद्ध केवलज्ञान।[४२] जिस आत्मा में केवलज्ञान प्रकट हो गया है किन्तु वह अभी मनुष्य भव में है, उस आत्मा के 'केवलज्ञान' को भवस्थ केवल ज्ञान कहते हैं।[४३] और जिस आत्मा में केवलज्ञान है तथा वह किसी भव में नहीं है अर्थात्, देह रहित शुद्ध आत्मा के केवलज्ञान को सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं।[४४] नन्दीसूत्र में भवस्थ केवलज्ञान तथा सिद्ध केवलज्ञान के अनेक भेद, उप-भेद किये गये हैं,[४५] जिन्हें निम्नलिखित तालिका के द्वारा समझा जा सकता है :–
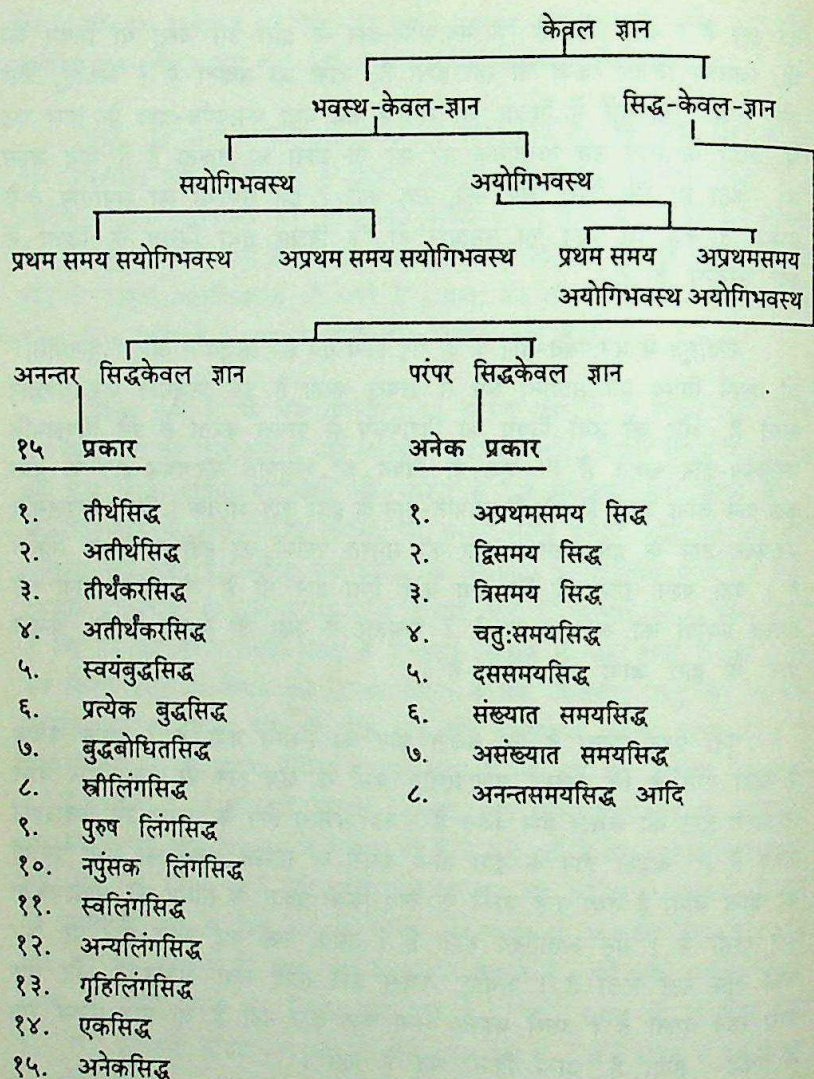
अन्त में पांच निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है जो ज्ञानमीसांसा तथा तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रकाश में लाते हैं । ये निष्कर्ष निम्नलिखित रूप से हैं :–

१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मतिज्ञान एक कोटि के ज्ञान नहीं हैं अर्थात्, वे दोनों एक प्रकार के ज्ञान नहीं हैं, जबकि अन्य जैन ग्रन्थों में उन्हें एक प्रकार का ज्ञान माना गया है । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा मतिज्ञान दो प्रकार के

ज्ञान इसलिए हैं, क्योंकि मतिज्ञान में श्रुतज्ञान निमित्त है, जबकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में श्रुतज्ञान की कोई भूमिका नहीं होती है। दूसरे, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा मात्र रूप आदि गुणों को जाना जाता है, जबकि मतिज्ञान से वस्तु को समग्र रूप से तथा निश्चयात्मक जाना जाता है।

२. विचार स्थान घेरते हैं, क्योंकि वे मन के पर्याय हैं, जिनकी मन से स्वतंत्र वस्तु-सत्ता नहीं है, तथा मन पुद्गल है और पुद्गल स्थान घेरता है। इस से फलित होता है कि विचार अर्थात् मन के पर्याय स्थान घेरते हैं

३. विचार रूपी होते हैं, क्योंकि वे पुद्गल मन की पर्याय हैं और पुद्गल रूपी द्रव्य है।

४. ज्ञान स्थान घेरता है, क्योंकि वह आत्मा का गुण है। और गुणों से भिन्न आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। अर्थात्, ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि गुणों के समूह का नाम ही आत्मा है और आत्मा आकाश प्रदेशों में रहती है। दूसरे, ऐसा माना गया है कि जगत् के सभी विषय या द्रव्य ज्ञान के अन्तर्गत हैं, ज्ञान के बाहर नहीं।

५. केवल ज्ञान ही एक मात्र वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि उसके द्वारा ही जगत् के सभी विषयों या तत्त्वों की सभी अवस्थाओं को अनेकान्त की दृष्टि से तथा प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है, अन्य ज्ञानों से नहीं।

अन्ततः उपर्युक्त चर्चा से कुछ प्रश्न उभरे हैं,यद्यपि उनमें से कुछ प्रश्नों के वैकल्पिक समाधान ऊपर दिये गये हैं, किन्तु फिर भी वे दार्शनिकों के लिए विचारणीय हैं। ये प्रश्न निम्नलिखित हैं :-

१. नन्दीसूत्र में वर्णित प्रत्यक्ष-ज्ञान का स्वरूप क्या है ?
२. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष-ज्ञान की कोटि में रखने का आधार क्या है?
३. क्या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा मतिज्ञान एक कोटि के ज्ञान हैं ? यदि हैं, तब कैसे; और नहीं, तब क्यों नहीं ?
४. श्रुतज्ञान तथा श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में क्या भेद है ? श्रुतज्ञान को एक स्वतन्त्र ज्ञान क्यों माना गया है ?
५. इन्द्रिय और मन ज्ञान के साधक हैं या बाधक ? आत्मा का इन्द्रिय एवं मन से क्या सम्बन्ध है ?
६. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया अर्थात् उत्पत्ति का क्रम क्या है ?

७. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय क्या है ?

८. किन पर्यायों को मन के पर्याय कहा जाये ? क्या पर्याय के पर्याय मानना युक्तिसंगत है ? अर्थात्, क्या पर्याय के पर्याय होते हैं ?

९. विचार रूपी हैं तथा स्थान घेरते हैं ऐसा मानना क्या युक्तिसंगत है ? क्या अभौतिक तत्त्व स्थान घेरता है ?

१०. ज्ञान का विचार, क्षेत्र, चारित्र और गति में क्या सम्बन्ध है ?

११. क्या केवल ज्ञान को बुद्धि से समझा जा सकता है ?

राजवीरसिंह शेखावत

१२, प्रतापनगर,
शास्त्री नगर,
जयपुर–३०२०१६
(राजस्थान)

## संदर्भ-सूची

१. *भगवतीसूत्र*, सूत्र २.१०.६४ एवं ८.२.१७, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, १९६७

*तत्वार्थ सूत्र* १.९

*श्रीनन्दीसूत्रम्*, सूत्र ।, पृ.६१, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६.

२. *श्रीनन्दीसूत्रम्*, सूत्र २, पृ. ६४. आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६

३. *श्री नन्दीसूत्रम्*, सूत्र २४ एवं ५, पृ. १५८ व ६८, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६

*तत्वार्थ सूत्र* १.११ एवं १.१२

४. *श्री नन्दीसूत्रम्*, सूत्र २, पृ.६४, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, १९६६

५. *नन्दीसूत्र - हिन्दि विवेचन*, पृ.२८, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२

६. *प्रमेयरत्नमाला*, पृ.१२, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६४

७. *न्यायबिन्दुटीका*, सूत्र २.१ की टीका, पृ.१७, साहित्य भण्डार, मेरठ-२, १९७५

८ *जिनवाणी*, पृ.३५, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, फरवरी १९९२

९. *सर्वार्थसिद्धि*, पृ.७३, भारतीय ज्ञानपिठ प्रकाशन, दिल्ली, १९८९

१०. *परीक्षामुख*, सूत्र २.३ *प्रमेयरत्नमाला*, पृ. ६३, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४

११. श्री नन्दीसूत्रम्, सूत्र, पृ. ६५,आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, १९६६
१२. भारतीय दर्शन, पृ.४९, पुस्तक भंडार, पटना
१३. श्री नन्दीसूत्रम्, सूत्र २७, पृ. २१८, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना,, १९६६
१४. वही, सूत्र ३ एवं २४, पृ. ६५व १५८ .
१५. वही, सूत्र २६, पृ. १६२
१६. वही, सूत्र २७, पृ. २१८
१७. वही, सूत्र ४, पृ. ६७
१८. वही, पृ. ६७
१९. वही, पृ. ६७
२०. वही, पृ. ६७
२१. नन्दीसूत्र-हिन्दी विवेचन, पृ.४४, अ.भा.श्वे.स्था.जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८
२२. नन्दीसूत्र, मूसूत्र, ५, पृ. ६८, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, १९६६
२३. वही, पृ. ६२
२४. वही, पृ.६२
२५. वही, पृ. ६२
२६. सर्वार्थसिद्धि, ५३५, पृ.२०६, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९८९
२७. श्रीनन्दीसूत्रम्, सूत्र ६, पृ.६८, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन, समिति लुधियाना, १९६६
२८. वही, पृ. ७०
२९. वही, सूत्र ७, पृ. ६९
३०. वही, सूत्र ८, पृ. ६९
३१. वही, पृ. ७०
३२. वही, सूत्र ९, पृ. ७१
३३. वही, पृ. ७१
३४. वही, सूत्र १२ पृ. ८२
३५. नन्दीसूत्र-हिन्दी विवेचन, पृ. ३४, श्री आगम प्रकाशन, समिति ब्यावर,१८८२
३६. श्री नन्दीसूत्रम्, सूत्र १५, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना १९६६
३७. वही, पृ. ११९
३८. वही, पृ. ६३

३९. वही, सूत्र १८ पृ. ११४

४०. वही, पृ. ११७

४१. जैन-दर्शन, पृ.२१२, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७४

४२. श्री नन्दीसूत्रम्, सूत्र १९, पृ. १२३ व १२५ आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६

४३. वही, पृ. १२६

४४. वही, पृ. १२६

४५. वही, सूत्र १९,२० एवं २१

# हिंसा से परे : कृष्णमूर्ति और गांधी

सनातन काल से मनुष्य हिंसा की समस्या का हल खोजता आया है किन्तु अभी तक उसे इसमें सफलता नहीं मिल सकी है। यद्यपि उसने अपने को संयमित करने का प्रयास किया है, किन्तु आज देश-विदेश के स्तर पर बढ़ती हुयी हिंसा देखकर मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या हिंसा का अंत सम्भव नहीं है ? क्या शांति और सौहार्द से जीने का कोई मार्ग नहीं है ? क्या मारना या मार दिये जाने के भय से त्रस्त रहना अनिवार्य मानवीय स्थिति है ? हमारे समय में, भारतीय परम्परा के दो महान् विचारकों, जे. कृष्णमूर्ति एवं महात्मा गांधी ने हिंसा की समस्या को हल करने का प्रयास किया है। दोनों ने समस्या को केवल वैचारिक स्तर पर ही समझने का प्रयास नहीं किया, बल्कि व्यावहारिक जीवन में हिंसा-मुक्त कैसे रहा जाय, इस ओर भी इंगित किया है। गांधी ने विशेषकर अपने जीवन में अहिंसा का सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में प्रयोग करके हिंसा-मुक्ति के प्रयासों में नये आयाम जोड़े हैं। इस निबंध में दोनों ही विचारकों के इस समस्या के निदान से सम्बन्धित विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करके कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है। इसके लिए पहले संक्षेप में दोनों के विचारों की पृष्ठभूमि जान लेना अनिवार्य है ।

भारतीय परंपरा विशेपकर बौद्ध, जैन धर्मों में हिंसा एक मूलभूत समस्या है। लेकिन *रामायण*, *महाभारत* ऐसे महाकाव्यों में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष में हिंसा को एक आवश्यक तत्त्व के रूप में दर्शाया गया है। हमारे समय में दो महायुद्धों और हिंसक क्रान्तियों के विनाशकारी परिणामों ने हिंसा के द्वारा हिंसा का हल खोजने पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। प्रतिरोधी हिंसा चाहे जितनी आवश्यक लगे, संघर्ष का निदान करने में असमर्थ रही है। फिर चाहे यह संघर्ष किसी स्तर में क्यों न हो। इसीलिये कृष्णमूर्ति और गांधी हिंसा से परे जाने की बात तो करते हैं, हिंसा के द्वारा हल खोजने की नहीं। यह कैसे

सम्भव है,यह जानने के लिए पहले समझना होगा कि दोनों विचारक हिंसा से क्या समझते हैं ?

हिंसा शब्द का प्रयोग दोनों विचारकों ने व्यापक अर्थों में किया है । उनके लिये हिंसा का अर्थ युद्ध में दूसरे को मार ड़ालना मात्र नहीं है, बल्कि किसी भी रूप में दूसरे को कष्ट पहुंचाना है ।[१] ईर्ष्या, द्वेष, कटुवचन, झूठ बोलना, चालाकी करना, धोखा देना, षड़यंत्र करना आदि इसके रूप हैं । गांधी के अनुसार शारीरिक कष्ट, जेल और फांसी देना भी हिंसक कृत्य हैं जो सरकारें करती हैं और आर्थिक शोषण, दवाब, अत्यधिक प्रतिस्पर्धा भी हिंसा की निशानी हैं । कृष्णमूर्ति कुछ इससे भी अधिक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्तर पर हिंसा को पहचानने पर जोर देते हुए कहते हैं कि ''ईर्ष्यामिश्रित प्रेम वास्तव में हिंसा है, विश्वास-विभेदीकरण का एक प्रकार है, अत: हिंसा है''। उनके अनुसार परम्परा, धर्म, सामाजिक-राजनैतिक-बौद्धिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य पर अपने विचारों का थोपा जाना भी हिंसा का ही एक प्रकार है।[२] वे तो यहां तक कहते हैं कि एक मनुष्य जिसका कि कोई उद्देश्य है, हिंसा को जन्म देता है । हम न केवल दूसरों से वरन् अपने से भी निरन्तर झगड़ते रहते हैं और दूसरों को अपने अननुकूल होने के लिए बाध्य करना चाहते हैं ।

गांधी के अनुसार हिंसा की जड़ें क्रोध, स्वार्थपरता, वासना आदि प्रवृत्तियों में हैं जो मनुष्यों के बीच विभाजक रेखा खींचकर हिंसा को बढ़ावा देती हैं । किन्तु वे हिंसा के कारणों पर व्यापक विचार नहीं करते । उनका ध्यान मुख्य रूप से हिंसा से मुक्ति की ओर है क्योंकि हिंसा के दोष उनके सामने स्पष्ट हैं । हिंसा से पाप, बुराई, अन्याय और अत्याचार ही नहीं फैलता अपितु उसका आक्रमण हिंसा करने वाले पर भी होता है । उनके लिये समस्त जीवधारियों की एकता के विरुद्ध अपराध है । कृष्णमूर्ति के लिए भी हिंसा के कारणों की खोज करना महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हिंसा के कारण जान लेने का मतलब हिंसा से मुक्त हो जाना नहीं है ।[३] ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि हम हिंसक हैं और क्या स्वयं के अन्दर छिपी हिंसा का अन्त सम्भव है ? उनके अनुसार बाहरी हिंसा भीतरी हिंसा की अभिव्यक्ति मात्र है । हम हिंसक हैं और हिंसक समाज के लिए उत्तरदायी हैं, क्योंकि यह समाज हमारा ही बनाया हुआ है । दोनों के बीच कार्य-कारण की एक श्रृंखला है, व्यक्ति की हिंसा सामाजिक हिंसा को और सामाजिक हिंसा व्यक्ति की हिंसा को बढ़ावा देती है । अत: हिंसा के विविध रूपों का अलग अलग अध्ययन करना अनावश्यक है । हमें हिंसा की सम्पूर्ण संरचना का अध्ययन करना चाहिये । ऐसा करने पर हम पाते हैं कि अहं ही हिंसा का स्रोत है जो अपने को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करता है । कभी यह

"मैं" और "न मैं", 'चेतन' और 'अवचेतन', 'जो है' और 'जो होना चाहता है', के बीच अपने को बांट लेता है, तो कहीं मेरा परिवार/तुम्हारा परिवार, मेरी पत्नी/तुम्हारी पत्नी, मेरी जाति/तुम्हारी जाति मेरा धर्म/तुम्हारा धर्म, मेरा देश/ तुम्हारा देश ऐसी विभाजक रेखायें खींचकर हिंसा को बढावा देता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार जब तक अहं किसी भी रूप में, स्थूल या सूक्ष्म, बचा रहता है, हिंसा अवश्यंभावी है।[४] "मैं"की "मैं"से मुक्ति का प्रयत्न अहं को ही पुष्ट करता है जो हिंसा को बनाये रखता है।[५] समस्या और जटिल है क्योंकि हममें से अधिकतर लोग हिंसा करने में, किसी व्यक्ति, जाति, वर्ग से घृणा करने में, उनके प्रति दुर्भावना रखने में सुख का अनुभव करते हैं।[६] भय-जनित सुरक्षा की चाह और सुख पाने की अभीत्सा मिलकर संसार में व्याप्त हिंसा के लिये उत्तरदायी हैं।

हिंसा से छुटकारा कैसे हो,इस विषय पर कृष्णमूर्ति और गांधी में मतभेद स्पष्ट हैं। जहां कृष्णमूर्ति, हिंसा मुक्ति के लिये सभी धर्मों, विचारधाराओं,अहिंसा के आदर्श, मनोविश्लेषण को नकार देते हैं, वहीं अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त पर गांधी का अगाध विश्वास है। कृष्णमूर्ति के अनुसार किसी प्रकार का विश्वास विभेद पैदा करता है, अतः वह हिंसा का ही एक रूप है[७]। जब तक विचार और कर्म के बीच दूरी है, अन्तर्विरोध अनिवार्य है[८]। इच्छाशक्ति के प्रयोग के द्वारा अहिंसक आचरण करके हिंसा को जीतने का प्रयास स्वयं में हिंसा ही है। यद्यपि सभी धर्म मनुष्य मात्र की एकता का उपदेश देते हैं किन्तु प्रत्येक धर्म अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है। वास्तव में ये हमारी बुद्धि को आच्छादित कर हिंसा की पूरी संरचना में बाधा खड़ी कर देते हैं, जिसे समझे बिना हिंसामुक्ति सम्भव नहीं है। इसके लिए बाहरी और भीतरी सत्ता से मुक्त बुद्धि की आवश्यकता है।[९]

जरा विस्तार से देखें कि दोनों महान् विचारक हिंसा की समस्या का निदान कैसे करते हैं। गांधी के अनुसार इसका हल अहिंसा में है। अहिंसा साधन है तो सत्य साध्य। हिंसा के द्वारा हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते, क्योंकि सत्य का अर्थ ही है सबके प्रति प्रेम, सेवा और सबके लिए कष्ट-सहन के द्वारा एकता की अनुभूति। सत्य देश काल से परे है, किन्तु साधन होने के नाते अहिंसा का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन के पारस्परिक व्यवहार से है। अतः अहिंसा की शिक्षा अनिवार्य रूप से देनी चाहिये, सत्य परिणाम स्वरूप स्वतः ही आवेगा[१०]। सत्य के समान ही अहिंसा भी एक सीमा से बाहर तर्क का विषय नहीं है। अहिंसा मन और बुद्धि का विषय नहीं, श्रद्धा और अनुभूति का विषय है, हृदय और आत्मा का गुण है। अहिंसा हमारे अन्दर, अखिल विश्व में व्याप्त, ईश्वरीय तत्त्व का ही प्रकाश है, सर्व व्यापक नियम है, संसार की सबसे क्रियाशील शक्ति

है, जिसका प्रयोग हर परिस्थिति में सम्भव है । जब हम यह स्वीकार कर लें तो अहिंसा हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त होनी चाहिये । इसी में इसकी पूर्ण सफलता निहित है ।

लेकिन अहिंसा है क्या ? गांधी के अनुसार "अहिंसा का अर्थ है पृथ्वी के किसी जीव को विचार, शब्द या कर्म द्वारा चोट पहुंचाने से बचना"[११] । अर्थात् क्रोध, स्वार्थ या दुर्भावना से किसी जीव को दुख न पहुँचाना, उसकी जान न लेना । अहिंसा शब्द से भले ही निषेधात्मक ध्वनि निकलती हो, गांधी के लिये अहिंसा निषेधात्मक अर्थों तक सीमित नहीं है । अपने विधायक अर्थ में अहिंसा का मतलब है प्रेम । ऐसा प्रेम जो समस्त सृष्टि के लिए है, जिसमें क्रियात्मक रूप से सब जीवों के प्रति सद्भावना है, जिसमें अपने को मिटा कर बदले में कुछ नहीं चाहने की भावना है, जो सच्चा और विशुद्ध है । ऐसा प्रेम उन लोगों से भी प्रेम करता है जो आप से घृणा करते हैं[१२] । सच्चा प्रेम असंख्य शरीरों में निवास करने वाले समस्त जीवन की एकता की आवश्यकता अनुभूति में है ।

हिंसा/बुराई करने वाले के प्रति प्रेम से गांधी का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उसका विरोध न किया जाय । हम बुराई को हिंसा से नहीं जीत सकते बल्कि ऐसा कर के हम स्वयं को बुराई करने वाले के स्तर तक गिरा देते हैं और पाप के भागीदार बन जाते हैं । इसके विपरीत अहिंसा का अर्थ है बुराई को अच्छाई से जीतने का प्रयास करना । एक अहिंसक व्यक्ति अन्यायी का विरोध इस विश्वास के साथ करता है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा है और उसमें सुधार की सम्भावना बाकी है । वह धैर्यपूर्वक समझाकर, स्वयं कष्ट सहकर, प्रेम के द्वारा अन्यायी का हृदयपरिवर्तन करने का प्रयत्न करता है जिससे वह उनसे अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध कर सके जिनके साथ वह बुराई कर रहा है ।

निरपेक्ष अहिंसा की दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की हिंसा त्याज्य है । लेकिन ऐसी अहिंसा केवल ईश्वर का गुण है, मनुष्य इसे पूरी तरह व्यवहार में नहीं ला सकता । कुछ हिंसा मनुष्य को अपने शारीरिक निर्वाह के लिए और कुछ सामाजिक प्राणी होने के नाते, समाज के अस्तित्व के कारण अनिवार्यतः करनी पड़ती है । अतः कोई भी मनुष्य पूरी तरह हिंसा से मुक्त नहीं हो सकता । सच्चे अहिंसावादी को गांधी की सलाह है कि वह अनिवार्य हिंसा तभी करें जब उससे बचने का कोई उपाय न हो, उसके पीछे दया, विवेक, आत्म-संयम और अनासक्ति हो ।

गांधी ने अहिंसा के तीन स्तर बताये हैं जिनका प्रयोग अपने नैतिक विकास के स्तर के अनुरूप मनुष्य कर सकता है । पहली है ज्ञानवान् या वीरों की अहिंसा

जो किसी तात्कालिक आवश्यकता से विवश होकर नहीं अपनायी जाती बल्कि इसलिये क्योंकि उसे स्वीकार करने वाले मनुष्य के लिए हिंसा असह्य है, अहिंसा ही एक जीवित नियम है। यह श्रेष्ठतम है। दूसरे प्रकार की व्यावहारिक अहिंसा में उसे एक नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है। कई बार समुदायों के द्वारा हिंसा का त्याग नैतिक विश्वास के कारण नहीं बल्कि दुर्बलता के कारण होता है जैसे भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये काँग्रेस का अहिंसक संघर्ष। देश के विभाजन के समय हुयी साम्प्रदायिक हिंसा ने गांधी का विश्वास दुर्बल की अहिंसा पर से उठा दिया क्योंकि यह लोगों की हिंसक प्रवृत्ति का अन्त नहीं कर सकी[१३]। उनके अनुसार नीति के रूप में अहिंसा तभी सफल हो सकती है जब लोग साहस के साथ इसका पालन करें और इसे वीर पुरुष की अहिंसा के रूप में विकसित करने का प्रयास करें। तीसरे प्रकार की अहिंसा कायर का निष्क्रिय प्रतिरोध है। गांधी की मान्यता है कि कायरता नपुंसकता है और हिंसा से भी बुरी है। अत: जब हिंसा और कायरता में से चुनाव करना हो तो हिंसा ही अभिष्ट है[१४]। हिंसक मनुष्य किसी दिन अहिंसक हो सकता है किन्तु कायर के लिए इस प्रकार की कोई आशा नहीं है। अहिंसा आत्म-शक्ति है जिसके लिए उच्च कोटि के साहस की जरूरत है जो निर्भयता के बिना असम्भव है।

हिंसा से मुक्ति के लिये कृष्णक्मूर्ति हिंसा में प्रयुक्त ऊर्जा के रूपान्तरण पर जोर देते हैं। यह हिंसा के समग्र अवलोकन और अवधान से ही सम्भव है। जब तक हम हिंसा को एक खतरनाक जानवर की तरह नहीं देखते और हृदय से उससे मुक्त होना नहीं चाहते, यह असम्भव है क्यों कि उनके अनुसार देखना ही क्रियाशील होना है[१५]। लेकिन अधिकांशत: पहले हम देखते हैं फिर विचार करके किसी निर्णय पर पहुंचते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं। इस तरह हमारे देखने और क्रियाशील होने के बीच एक अन्तराल आ जाता है। यह अवधानतापूर्ण अवलोकन नहीं है, क्योंकि इसमें एक विचार दूसरे विचार को देखता है। यह कभी आन्तरिक बदलाव नहीं ला सकता। इसके लिए हमें अवधानतापूर्वक अवलोकन सीखना होगा[१६]। इससे कृष्णमूर्ति का तात्पर्य स्मृति-मात्र विचार के हस्तक्षेप के बिना देखने से है। ऐसा तभी हो सकता है जब हम अपने को अनुगमन की सारी प्रक्रिया से मुक्त कर लें[१७]। लेकिन जब हम अपने अनुगमन को अनुगमित दृष्टि से देखते हैं तो उससे मुक्त नहीं होते, केवल अतीत में जीनें लगते हैं। अत: हिंसा की समस्या अपने अनुगमन का अवबोध होना है कि हम किसी जेल में बन्द हैं। हो सकता है कि हमें हिंसा में सुख प्राप्त होता हो और हम दूसरों के साथ शान्ति से न रहना चाहते हों। लेकिन यह हम तभी जान सकते हैं जब अपने भीतर झाँकें और अपने आन्तरिक स्वरूप को समझें। जब तक हम ऐसा नहीं करते, अपने अन्तर्विरोधों, जोकि संघर्ष के जनक हैं, से ग्रस्त रहेंगे और हिंसा के किसी न किसी रूप को प्रश्रय देते रहेंगे[१८]।

स्वयं को समझने के लिये हमें वस्तुओं, व्यक्तियों, विचारों सभी से अपने सम्बन्धों का पुनरीक्षण करना होगा। इसमें विचारों से सम्बन्ध को कृष्णमूर्ति विशेष महत्त्व देते हैं क्यों कि हम वस्तुओं और व्यक्तियों से सीधे सम्बन्ध नहीं स्थापित करते, वरन् उनकी प्रतिमाओं से करते हैं। सुख की चाह, रिक्तता, भय, आदत और सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया ही प्रतिमा निर्माण के पीछे हैं[१९]। विचार ही प्रतिमा निर्माण का उत्तरदायी है। लेकिन जब विचार इसका कारण जानने का प्रयत्न करता है तो पूर्वसंचित अनुभव से एक अन्य प्रतिभा का निर्माण कर रहा होता है क्यों कि विचार अपने सिवा किसी को खोज ही नहीं सकता। इस तरह हम एक दुष्चक्र में फंस जाते हैं[२०]। अतः स्वयं को समझने के लिए आवश्यक है कि हम विचार की संरचना को जानें कि किस प्रकार विचार संघर्ष को जन्म देते हैं और क्या मन की कोई ऐसी अवस्था है जिसमें कोई द्वन्द्व नहीं होता।

मानवीय सम्बन्धों में विचार सदा सुख की खोज करते हैं, यद्यपि वे इसको दया, सेवा, वफादारी ऐसे शब्दों के पीछे चतुराई से छिपा लेते हैं। साथ ही सुख खो जाने का भय पैदा होता है, जो बन्धन की सृष्टि करता है। विचार अवलोकन और अवलोक्य के बीच दीवार खड़ी करता है और जब तक यह विभेदी-करण कायम है, हिंसा-मुक्त नहीं हुआ जा सकता। प्राविधिक उन्नति के लिये विचारों की उपयोगिता से कृष्णमूर्ति इन्कार नहीं करते, किन्तु उनका कथन है कि मानवीय सम्बन्धों में उन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। क्योंकि घृणा, ईर्ष्या, लालच और वर्चस्व पाने की लालसा को प्रेम से जोड़ कर उसे नष्ट कर देती है, किन्तु क्या विचार के लिये हस्तक्षेप न करना सम्भव है ? हां, कृष्णमूर्ति का उत्तर है, ऐसा प्रेम जो सुख की इच्छा से भ्रष्ट न हुआ हो, भय से भी मुक्त होता है, उसे विचार छू भी नहीं सकता[२१]। अपने को समझ कर जब विचार शान्त हो जाते हैं तो मन की उस अवस्था में समस्त हिंसा का अंत हो जाता है और मन आनन्द से भर जाता है जो हिंसा से प्राप्त सुख से ज्यादा बड़ी चीज है। कृष्णमूर्ति इसे ही ध्यान कहते हैं। यह निष्क्रिय सतर्कता की स्थिति है जिसमें हम विचार के हस्तक्षेप के बिना अवलोकन करते हैं। यह स्थिति प्रयत्न से नहीं लाई जा सकती। इसके लिये मनुष्य के अभ्यन्तर में तत्काल क्रान्ति की आवश्यकता है, जो सामाजिक क्रान्ति से सम्भभव नहीं। केवल आत्म-ज्ञान ही हमारी अवरुद्ध सृजनात्मकता को मुक्त करके हमारा रूपान्तरण कर सकता है। ऐसा सृजनशील परिवर्तन ही हमें हिंसा से मुक्त कर सकता है। स्वयं हिंसा से मुक्त होकर ही हम जान सकते हैं कि दूसरों की हिंसा से कैसे निपटें, उससे पहले नहीं।

उपरोक्त विवेचन से गांधी और कृष्णमूर्ति की वैचारिक दृष्टियों में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। गांधी का मुख्य समस्या यह है कि दूसरे की हिंसा से कैसे निपटें,

जब कि कृष्णमूर्ति का सारा ध्यान स्वयं को हिंसा-मुक्त करनें में है । इसी लिये जहां गांधी हिंसा के सामाजिक, राजनैतिक पक्ष की गहरी छान-बीन करते हैं, वहीं मन की गहराई में कम ही झांकते हैं । जबकि कृष्णमूर्ति मनौवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मन की भीतरी परतों में दबी हिंसा से हमारा साक्षात्कार गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ कराते हैं । लेकिन दूसरे की हिंसा से निपटने के सवाल को लगभग अनुत्तरित ही छोड़ देते है । गांधी जहां व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति के बीच की लम्बी दूरी तय करते हैं और रास्ते की व्यावहारिक कठिनाइयों से अपने ढंग से जूझते हैं, वहीं कृष्णमूर्ति के लिये व्यक्ति और समाज में कोई विशेष दूरी नहीं है । हिंसा की समस्या को अलग अलग कोणों से देखने के कारण ही दोनों के हिंसा-मुक्ति सम्बन्धी विचारों में भी अन्तर दिखाई देता है । गांधी अहिंसक सत्याग्रह के द्वारा हिंसक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं, जबकि कृष्णमूर्ति स्वयं के रूपान्तरण द्वारा हिंसा से परे जाना चाहते हैं । गांधी शनैः शनैः सामाजिक स्तर पर अहिंसक क्रान्ति घटित करने की बात करते हैं, लेकिन कृष्णमूर्ति व्यक्ति स्तर पर तात्कालिक परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं । हिंसा-मुक्ति का गांधीजी का मार्ग विभिन्न धर्मों की उदारवादी का ही एक विकसित रूप है, जिसमें सतत प्रयत्न, आत्म-बलिदान, निर्भयता और निरपेक्ष अहिंसा पर अटूट विश्वास लक्ष्य-प्राप्ति के लिये महत्त्वपूर्ण है । इसके विपरीत कृष्णमूर्ति सभी संस्थागत धर्मों को हिंसा-मुक्ति में बाधा मानते हैं, और किसी आदर्श लक्ष्य-प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न को हिंसा का ही एक रूप बताते हैं । गांधी के अनुसार पूर्ण हिंसा-मुक्ति सम्भव नहीं है, अतः वे पुलिस, फौज आदि मसलों पर समझौते की सलाह देते हैं । किन्तु कृष्णमूर्ति व्यक्तिगत स्तर पर हिंसा से पूरी तरह छुटकारा पाने की सम्भावना प्रकट करते हैं और राज्य की हिंसा को व्यक्ति की भीतरी हिंसा का प्रतिफलन मानकर उस पर अलग से विचार नहीं करते ।

गांधी निश्चय ही हिंसा-मुक्ति के मानव प्रयास से अहिंसा की शक्ति के बारे में पूर्व धारणाओं को चुनौती देने में सफल हुये । सदियों से गुलाम भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध मुक्ति-संघर्ष के लिये संगठित करने में नीति के रूप में अहिंसा की शक्ति को कोई नकार नहीं सकता । लेकिन देश के विभाजन के बाद जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये तो गांधी को भी मानना पड़ा कि इस क्षेत्र में अहिंसा को पूरी सफलता नहीं मिल सकी है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी पूंजीपतियों और भूस्वामियों के आर्थिक शोषण को दूर करने में अहिंसा को आंशिक सफलता ही मिल पायी । गांधी राज्य और सामाजिक संस्थाओं में फैली हिंसा को व्यक्ति के अन्दर छिपी हिंसा का ही प्रतिफलन मानते हैं, किन्तु यह बताने में असफल रहते हैं कि यह किन प्रक्रियाओं द्वारा सम्भव होता है । कैसे एक

सीधा सा लगने वाला व्यक्ति समूह का सदस्य होते ही हिंसा पर उतारू हो जाता है ? समूह-हितों के टकराव से होने वाली हिंसा को आत्म-शुद्धि के जरिये नहीं रोका जा सकता, सामूहिक हृदय परिवर्तन करने में भी अहिंसा सफल नहीं हो पाती । लेकिन मानना होगा कि गांधी ने अहिंसा को व्यक्तिगत जीवन के संकीर्ण दायरे से निकाल कर, सामाजिक हिंसा से निपटने में प्रयोग करके एक आवश्यक एवं सराहनीय कदम उठाया, भले ही उनको पूरी सफलता न मिल सकी ।

कृष्णमूर्ति के सन्दर्भ में यह प्रश्न निश्चय ही विचारणीय है कि सालों साल लोग कृष्णमूर्ति के विचारों को सुनते रहे, लेकिन फिर भी क्या वे हिंसामुक्त हो सके ? वास्तव में कृष्णमूर्ति के साथ दिक्कत ही यही है कि हिंसा से छुटकारा पाने का जो तरीका वे सुझाते हैं वह तभी सफल हो सकता है जब हम प्रतीकात्मक भाषा, शब्द, प्रत्ययों के द्वारा अभिव्यक्त अधिकांश विकास को रद्द कर दें, अपनी मनोवैज्ञानिक स्मृति से मुक्ति पा लें और सम्पूर्ण बाहरी दबावों से छुटकारा पा लें । शायद ऐसा न तो सम्भव है और न ही उचित । इसी लिए अपने पैने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद कृष्णमूर्ति का हल फरिश्तों के तो काम आ सकता है, मनुष्य के बस की बात नहीं[२२] ।

कुछ बातें गांधी और कृष्णमूर्ति दोनों में ही खटकती हैं । हिंसा को बहुत व्यापक अर्थों में परिभाषित करने के कारण वे प्रतिरक्षात्मक हिंसा और आक्रमक हिंसा में भेद नहीं करते, जो कि मेरी दृष्टि में आवश्यक है[२३] । क्या जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित मनुष्य की हिंसा और आवश्यकता-पूर्ति के साधनों से वंचित करने वालों की हिंसा को एक ही तराजू पर तौलना ठीक होगा ? दोनों ही विचारक हिंसा की जड़ें जन्मजात स्वीकारते हैं । फिर पूर्ण हिंसा-मुक्ति कैसे सम्भव है ? जबकि शरीर-विज्ञान के अनुसार अभी आनुवंशिक विशेषताओं पर कुछ सीमा तक नियंत्रण तो किया जा सकता है, लेकिन उनका अन्त नहीं । कल यदि विज्ञान की प्रगति से सिद्धान्त रूप में यह सम्भव भी हो गया तो क्या हिंसा से पूरा छूटकारा उसकी सामाजिक जड़ों को उखाड़े बिना हो सकेगा? दोनों ही इस दिशा में कोई अन्वेषण नहीं करते।

यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्णमूर्ति का हिंसामुक्त व्यक्ति गांधी के अहिंसक व्यक्ति से ऊँचा है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से निश्चय ही गांधी का अहिंसक सत्याग्रह अधिक व्यवहारिक है । लेकिन हिंसा के वर्तमान दौर में जो मुख्यतया आतंकवाद और धार्मिक कट्टरता वाद का मिला जुला रूप है, इस प्रश्न से बचा नहीं जा सकता कि क्या स्वयं का अहिंसक होना हमें दूसरे की हिंसा से बचा सकता है ? नालंदा के खण्डहरों में घूमते हुये लेखक के मन में यह प्रश्न उठा कि कृष्णमूर्ति या गांधी की दृष्टि से क्या शिक्षा-संस्कृति की इस अनुपम धरोहर को बचाया जा सकता था ? या प्रतिरक्षा में अधिक शक्तिशाली हिंसा अपेक्षित थी?

समसामयिक हिंसा में दो तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहला है हिंसा की व्यापकता और दूसरा है हिंसा को नियंत्रित करने वाले परम्परागत साधनों (धर्म, नैतिकता, सामाजिक संस्थाओं आदि) की बढ़ती असफलता। आज की व्यापक हिंसा के लिये वह मूल्यबोध भी उत्तरदायी है जो व्यक्ति-जीवन का परम उद्देश्य भौतिक साधनों के माध्यम से सुख की खोज मानता है। फिर भौतिक साधनों का अधिक उत्पादन, संचय और स्वामित्व प्राप्त करना स्वाभाविक हो जाता है, और प्रकृति और समाज दोनों के साथ व्यक्ति का रिश्ता साधनवत् ही रह जाता है। परिणामस्वरूप वह प्रयोजनात्मक बुद्धि से प्रेरित होने लगता है, जिससे उसके व्यक्तिगत और सामाजिक सम्बन्धों में विषाक्तता बढती जाती है। औद्योगिक उत्पादन में निरंतर वृद्धि के बाद भी जब अभाव और असमानता की स्थिति बनी रहती है, तो भौतिक समृद्धि की प्राप्ति के लिये शक्ति-संचय आवश्यक हो जाता है। बढ़ती इच्छाओं के दवाव में भाषा, जाति, धर्म, क्षेत्र आदि सभी इसके माध्यम बना दिये जाते हैं, जिनसे व्यक्ति को आधुनिक अस्मिता-बोध का भ्रम पैदा होता है। लेकिन अधिकांश के हिस्से में शक्ति नहीं, असफलता ही आती है, जो कुंठा को जन्म देती है। फलस्वरूप सामाजिक नियमों को तोड़ कर आवेग स्वच्छन्द हो जाते हैं और हिंसा विभिन्न रूपों में प्रतिफलित होने लगती है।

आधुनिक परिप्रेक्ष में हिंसा पूर्वनियोजित ढँग से की जाती है। बाजार और जमीन पर कब्जा जमाना, राजनैतिक हथियार के रूप में हिंसा और बलात्कार के ड़र से भागती औरतों की वीड़ियो, फोटोग्राफी आदि हिंसा के नये आायाम हैं जो माध्यम-क्रान्ति और तेजी से पनपते उपभोक्तावाद से हिंसा के नये संबंधों को उजागर करते हैं। आधुनिक युग में साम्प्रदायिक और आतंकवादी हिंसा के दवाब में राज्य की हिंसा को निरंतर वैधता प्राप्त होती रही है। अतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान में हिंसा एक स्वीकृत जीवन-मूल्य से एक जीवन-पद्धति में बदलती जा रही है, जिसे हमारे विकास के माड़ल से वैधता प्राप्त होती है। जबतक हम इस पृष्ठभूमि में आधुनिकता और हिंसा के संबन्धों की जाँच नहीं करते, तब तक कृष्णमूर्ति और गांधी के सहारे हिंसा-मुक्ति की कल्पना भी अर्थहीन है।

हमारे विवेचन का तात्पर्य यह नहीं है कि हिंसा के प्रश्न पर गांधी और कृष्णमूर्ति का कोई सार्थक योगदान न हो। दोनों ही उस भारतीय परम्परा के वाहक हैं जो समाज को बदलने के लिए पहले व्यक्ति का बदलना आवश्यक मानती है[१४]। लेकिन अपने अपने ढ़ंग से दोनों ही विचारक परम्परागत मान्यताओं को चुनौती देने में भी सफल हुये और हिंसा से छुटकारा कैसे हो इस प्रश्न पर

गहरी अन्तर्दृष्टि से विचार कर सके । साम्प्रदायिक हिंसा के आज के माहौल में उनकी प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

५३, टण्डन निवास
अशराफ टोला
हरदोई – २४१००१
(उत्तर प्रदेश)

आलोक टण्डन

### सन्दर्भ ग्रंथों की सूची

१. *हिन्दी नवजीवन* दि. ७.५.३१
२. जे. कृष्णमूर्ति द वे आफ इण्टेलिजेन्स, कृष्णकूर्ति फाउंन्डेशन १९८५, पृ. ७९
३. जे. कृष्णमूर्ति; *बियॉण्ड वायलेन्स*, बी. आई. पब्लिकेशन, नई दिल्ली,१९७३,पृ. ७४
४. जे. कृष्णमूर्ति; *तत्रैव;* पृ. ७४
५. जे. कृष्णमूर्ति; *द अवेकनिंग ऑफ इण्टेलिजेन्स*, एवन बुक्स, १९७३, पृ. ४६८
६. जे. कृष्णमूर्ति; *टॉक्स एण्ड डायलाग्स*, एवन बुकसत, न्युयार्क,१९७०, पृ. १४९
७. जे. कृष्णमूर्ति; बियॉण्ड वायलेन्स, पृ. ८४
८. जे. कृष्णमूर्ति; टॉक्स एण्ड डायलॉग्स, पृ. १६८
९. जे. कृष्णमूर्ति; बियॉण्ड वायलेन्स, पृ. ८४
१० .मो. क. गांधी; *हरिजन*, २३.६.४६
११. मो. क. गांधी; *हरिजन*, ७.९.३५
१२. मो. क. गांधी; *हरिजन*, ३.३.४६
१३. मो. क. गांधी; *हरिजन* २७.७.४७
१४. मो. क. गांधी; *हरिजन* २१.१०.३९
१५. जे. कृष्णमूर्ति; टाक्स एण्ड डायलाग्स, पृ. १६१
१६. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ. १६२
१७. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ. १६३
१८. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ. १८६
१९. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ. २००
२०. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ २०८
२१. जे. कृष्णमूर्ति; *वहीं;* पृ. २१४
२२. जे. एल मर्सियर; "ए की टु कृष्णमूर्तिज थाट", इण्ट. *फिला. क्वा.* व्हाल्यूम ३८ अंक-२ जून, ८८, पृ. १८३
२३. एरिक फ्राम; द *अनाटमी ऑफ ह्यूमन डिस्ट्रक्टिवनेस*, पेन्यूइन बुक्स, १९७७, पृ ३४
२४. वाण्डूरौण्ड, जोन वी; *कॉन्क्वेस्ट ऑफ वायलेन्स*, आक्सफोर्ड यूनी. प्रेस, १९५९, पृ.३५

# नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२७)
## कारणता

पिछले लेख में कारणता का लक्षण बतलाते हुए यह कहा गया था कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणाववच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिर्यः कारणतावच्छ्देक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावः तत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्व ही कार्यनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकत्वरूप कारणता के लक्षण का घटक है।[१] कार्याव्यवहित पूर्वक्षण से नियमित (अवच्छिन्न) यह विशेषण लगाने की आवश्यकता को पूर्व-लेख में स्पष्ट किया गया है। परन्तु किसी एक वस्त्र के अव्यवहित पूर्व-क्षण में अन्य वस्त्र के आश्रय तन्तु में विजातीय तन्तु का अभाव (जो कि वस्त्र का कारण है) रह सकता है। उस अभाव की प्रतियोगिता ही उक्त विजातीय तन्तु-संयोग में होने से उक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग वस्त्र का कारण नहीं होगा। अतः उक्त अभाव को पूर्वक्षण से नियमित स्व अर्थात् विशेष कार्य के आश्रय में वृत्ति होना चाहिये। उपर्युक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग का अभाव विवक्षित वस्त्र के आश्रय तन्तु में नहीं है, अन्य वस्त्र के आश्रय तन्तु में है। अतः उक्त तन्तु-संयोग का अभाव वहाँ न होने से उक्त विशिष्ट तन्तु-संयोग उक्त आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी न होने से विवक्षित पट का कारण है ऐसा कहा जा सकता है।

यहाँ एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पूर्वक्षणावच्छेदेन' इस शब्दप्रयोग में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ 'अवच्छिन्नत्व' होता है। अतः 'पूर्वक्षणावच्छेदेन' का अर्थ होता है 'पूर्वक्षणावच्छिन्न', माने जो पूर्वक्षण से अवच्छिन्न हो। जो अभाव कार्य के पूर्वक्षण में रहता है उसमें रहने वाली वृत्तिता पूर्वक्षणावच्छिन्न होती है। ऐसा होने पर पूर्वक्षण उस वृत्तिता का अवच्छेदक होता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि व्याप्यवृत्तिता का तो कोई अवच्छेदक नहीं होता है। ऐसी स्थिति में घट-मात्र के लिये कोई एक विशिष्ट कपाल कारण

हो जाएगा। क्योंकि घट के आश्रय कपाल में उस विशिष्ट कपाल का व्याप्यवृत्ति होने वाला भेद तो होगा, लेकिन उस भेद का अवच्छेदक कार्य का पूर्वक्षण नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उस कपाल का अन्योन्याभाव वहाँ न होने से वहाँ रहने वाले अन्य के अभाव का अप्रतियोगी वह विशिष्ट कपाल होने से वह विशिष्ट कपाल घट-मात्र का कारण है ऐसा माना जाने लगेगा। इसके लिये 'पूर्वक्षणावच्छिन्नत्व' के स्थान में 'अवच्छिन्नत्व पूर्वक्षणानवच्छिन्नत्व' इन दोनों का अभाव या वृत्तिता में निवेश करना चाहिये ऐसा गदाधर का मत है[२]। उक्त कपाल के भेद की वृत्तिता में अवच्छिन्नत्व न होने से उपर्युक्त उभयाभाव विद्यमान है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

तथापि याग में स्वर्ग की कारणता का सम्पादन करने के लिये कारणता के लक्षण में 'नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक' का ही केवल निवेशन कर के नियतपूर्व-वृत्तितावच्छेदक तथा नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्न नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक अन्यतर का निवेश करना चाहिये[१]। अर्थात्, या तो जो नियतपूर्ववृत्ति (हमेशा काये के पूर्व में रहने वाला) हो वह या जो नियतपूर्ववृत्ति की नियतपूर्ववृत्ति हो वह कारण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि याग स्वर्ग का नियतपूर्ववृत्ति न होने पर भी नियतपूर्ववृत्ति जो अपूर्व है उसका नियतपूर्ववृत्ति होनें से स्वर्ग का कारण है। (कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग तो हमेशा होता ही है। वह याग से उत्पन्न नहीं होता। याग से अपूर्व उत्पन्न होता है और अपूर्व से याग करने वाले का स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।) इस प्रकार याग का स्वर्ग के कारण के रूप में अन्यतर में समावेश हो जाता है और याग की कारणता अबाधित रहती है।

घट के अव्यवहित पूर्व-क्षण में घट के आश्रय कपाल में उस कपाल के किसी एक अवयव में विजातीय कपाल-संयोग का अभाव रहता है। क्योंकि संयोग का अभाव अव्याप्यवृत्ति होता है। संयोग के रहने पर भी संयोग का अभाव उसी वस्तु में अन्य स्थान से नियमित हो कर रहता है। जैसे, वृक्ष की शाखा के साथ उस पर बैठे हुए वानर का संयोग होने पर भी वृक्ष के मूल से नियमित वानर का अभाव भी उसी वृक्ष में रहता है। उसी प्रकार कपाल-संयोग का अभाव भी कपाल में कपाल के किसी अवयव से नियमित हो कर रह सकता है। ऐसी स्थिति में मपाल में रहने वाला उक्त विशिष्ट कपाल-संयोग के अभाव का प्रतियोगित्व ही कपाल-संयोग में है, और अप्रतियोगित्व न होने से कारणता का लक्षण उसमें घटित नहीं होता है। कार्यसमानाधिकरण अभाव में प्रतियोगी वैयधिकरण का निवेश करने पर उक्त दोष का निवारण तो सम्भव है[४] कारण उक्त अभाव दैशिक अव्याप्यवृत्ति होने से प्रतियोगी के आश्रय में रहता है। अतः वह प्रतियोगी-व्यधिकरण नहीं

है। जो अभाव अपने प्रतियोगी के साथ उसी के आश्रय में नहीं रहता है उसे ही प्रतियोगी-व्यधिकरण कहते हैं। अतः कार्य के आश्रय में रहने वाला प्रतियोगी-व्यधिकरण-अभाव विशिष्ट कपाल-संयोग का अभाव नहीं है। अतः वहाँ पर रहने वाले अभाव का अप्रतियोगी कपाल-संयोग होने से अव्याप्ति नहीं है। परन्तु ऐसी स्थिति में घट के लिये घट और तन्तुसंयोग-अन्यतर कारण बन जायेगा। क्योंकि घट और तंन्तुसंयोग-अन्यतर का अभाव भी प्रतियोगिसमानाधिकरण होने से घट और तन्तुसंयोग-अन्यतर प्रतियोगी व्यधिकरण-अभाव का अप्रतियोगी है।

अतः उपर्युक्त समस्या का विचार करते हुए गदाधर ने सिद्धान्तरूप से "स्वाव्यवहित पूर्वक्षणावच्छिन्न स्वसमानाधिकरणवृत्तित्व सम्बन्धेन कार्यविशिष्ट योऽभाव तदीय सामानाधिकरण्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितानवच्छेदक" को नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में कार्य के आश्रय में रहने वाले अभाव की सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता का नियामक जो न हो वह नियतपूर्ववृत्तिता का नियामक होता है। यद्यपि घट-कार्य के अधिकरण कपाल में तत्कपालिकत्व से नियमित अव्याप्यवृत्ति होने वाला कपाल-संयोगाभाव रहता है, तथापि उसकी प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से नियमित होने से ही वह अव्याप्यवृत्ति है। परन्तु सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित होने पर वह कार्य के आश्रय में नहीं रहता है। इसलिये उक्त अभाव सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला नहीं है। अतः रहने वाला अभाव उक्त प्रतियोगिता का अप्रतियोगी होने से कार्यनियतपूर्ववृत्ति है।

नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक की उपर्युक्त व्याख्या के पश्चात् "अन्यथासिद्धयनिरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक धर्मवत्व" इस कारणता के लक्षण के अन्तर्गत आनेवाले अन्यथा-सिद्ध-निरूपकत्व का भी विचार करना आवश्यक है। क्योंकि 'अन्यथासिद्धि का अनिरूपक' इसका अर्थ है 'अन्यथासिद्धिरूपक धर्मभेदसमुदाय-विशिष्ट'[१]। अन्यथासिद्धि-निरूपक धर्मभेद-समुदाय के अन्तर्गत आने वाले धर्मों को पृथक् पृथक् रूप से सहस्र युग में भी ज्ञात करना सम्भव नहीं है। (क्योंकि वे अगणित हो सकते हैं और किसी भी अगणित की गिनती सीमित समय में करना असंभव है।) ऐसी स्थिति में कारणता की पहचान करना भी अशक्य है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि उक्त कारणता कार्यतावच्छेदक धर्म से घटित होने से कार्यतावच्छेदक धर्म के ज्ञान के बिना कारणता का ज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वेदवाक्य से याग में जो स्वर्ग की कारणता ज्ञात होती है वह नहीं होगी। क्योंकि याग की कार्यता का नियामक धर्म 'स्वर्ग' में

रहने वाला जातिविशेष है और वह (मृत्यु के) पूर्व में (अनुभवतः) ज्ञात (होने की संभावना) नहीं है। क्योंकि उक्त विधिवाक्य से स्वर्ग और याग के बीच में होने वाले कार्यकारण-भाव का ज्ञान होने पर ही उक्त प्रकार का ज्ञान होगा। परन्तु कार्यता हमेशा किसी (न किसी) धर्म से नियमित होती है। अतः याग की कार्यता भी किसी धर्म से नियमित होती चाहिये। अन्य धर्मों का यहाँ बाध होने से स्वर्गत्व-रूप जाति-विशेष से वह नियमित होनी चाहिये, इस प्रकार के अनुमान के आधार पर स्वर्गत्वादि जाति-विशेष का ज्ञान होता है। अतः कार्यतावच्छेदक धर्म के घटित स्वर्गकारणता का ज्ञान यागादि में सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार कारणता का पूर्वोक्त लक्षण करने पर प्रवृत्ति के लिये मीमांसक जो इष्टभेदाग्रह को कारण मानते हैं उनके मत में कारणतावच्छेदक धर्म गुरुभूत होने से विशिष्ट ज्ञान को कारण मानना उचित है। क्योंकि विशिष्टज्ञानत्व भेदाग्रहत्व की अपेक्षा लघुधर्म है ऐसा कह कर नैयायिक जो मीमांसक मत का खण्डन करते हैं वह भी समीचीन नहीं होगा। क्योंकि उक्त गुरुभूत धर्म में नियतपूर्ववृत्तिता दोनों को ही मान्य है, तथा अन्यथासिद्धि-भिन्नत्व भी उसमें है। अतः उक्त गुरुधर्म-युक्त को भी कारण मानने में कोई बाधा नहीं है। प्रवृत्ति की कारणता के लक्षण में उक्त गुरुभूत धर्म-भेद के निवेश का कोई प्रयोजन न होने से उसका भी निवेश नहीं कर सकते। अतः इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों को हृदयंगम करके कुछ नैयायिक स्वरूपसम्बन्ध विशेष को ही कारणता का स्वरूप मानते हैं[६]।

परन्तु अधिक विचार करने पर उपर्युक्त कथ्य के बारे में पूछा जा सकता है कि क्या इसे भी ठीक कहा जा सकता है? क्योंकि कारणता को कारण-स्वरूप मानने पर कारण और कारणता में जो आधार-आधेय-भाव-सम्बन्ध होता है वह सिद्ध नहीं होगा। उदाहरण के लिये, घट की जो दण्ड में कारणता है वह दण्ड-स्वरूप होने पर "दण्ड में घट की कारणता है" इस प्रकार का आधार-आधेय-मूलक प्रयोग सम्भव नहीं होगा। कारण और कारणता में अभेद मानने पर 'दण्ड घट-कारण का आश्रय है' ऐसा प्रयोग होने लगेगा। क्योंकि जब कारणता और कारण एक ही हैं तो 'दण्ड घट-कारणता का आश्रय है' इसका अर्थ होगा दण्ड घट-कारण का आश्रय है[७]।

यदि स्वरूप-सम्बन्ध-रूप कारणता को कारणतावच्छेदक दण्डत्वादि-रूप मानें तो कारणता सत्प्रतियोगिक नहीं होगी। कारणता यह कार्यता-प्रतियोगिक होती है। दण्डत्व यह जाति होने से दण्डत्व-रूप कारणता कार्यता-प्रतियोगिक नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि घट की दण्ड में रहने वाली कारणता को दण्डत्व-

रूप धर्म से अवच्छिन्न (नियमित) मानी जाती है । जब कारणता ही दण्डत्व-रूप है, तो 'स्व' का अवच्छेदक 'स्व' नहीं हो सकता । अभिन्न वस्तुओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक भाव नहीं होता । अभेद होने पर भी अवच्छेद्यावच्छेदक-भान स्वीकार करने पर 'दण्ड दण्डत्व-रूप से घट का कारण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे ही 'दण्डत्व दण्डत्व-रूप से घट का कारण है' यह व्यवहार भी सार्थक होना चाहिये । परन्तु दूसरे प्रकार का व्यवहार सार्थक है ऐसा नहीं स्वीकार किया जाता । अत: दण्ड में रहने वाली कारणता दण्ड-रूप है और न दण्डत्व-रूप । इसलिये कारणता यह पदार्थान्तर है ऐसा मानना ही उचित है और वह दण्डत्वादि-रूप अवच्छेदकों के भिन्न होने पर भिन्न-भिन्न होता है । कारणताओं का अनुगमक धर्म कारणातात्व भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। उसी प्रकार कार्यता और कार्यतात्व भी भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं[९] ।

कुछ नैयायिकों का मत है कि कारणता का नियामक दण्डत्व ही दण्ड में रहने वाली कारणता है[१०] । परन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दण्डत्व जाति होने से निष्प्रतियोगिक है तो वह घटादि-रूप कार्य का प्रतियोगिक कैसे होगा? इसके विषय में उन नैयायिकों का मन है कि कारणतात्व से नियमित जाति भी सप्रतियोगिक होती है । जाति स्वरूपत: निष्प्रतियोगिक होती है (क्योंकि वह नित्य होती है) । परन्तु वह किसी धर्म से नियमित होने पर (सन्दर्भ-वशात्) सप्रतियोगिक हो जाती है । दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि कारणता और दण्डत्व में अभेद है तो फिर उनमें अवच्छेद्यावच्छेदक-भाव कैसे हो सकता है ? दण्ड की कारणता दण्डत्व से अवच्छिन्न होती है यह सर्वानुभवसिद्ध है । इस विषयय में भी उन नैयायिकों का उत्तर यह है कि दण्डत्व में स्वरूपत: अवच्छेदकता है और उसी से कारणता-रूप से अवच्छेद्यता है । अभेद होने पर भी भिन्न-भिन्न रूप से अवच्छेद्या-वच्छेदकभाव होने में कोई आपत्ति नहीं है ।[११]

इस पर कारणता को पदार्थान्तर मानने वालों का कहना है कि सामान्य रूप से कारण के रूप में निश्चित वस्तु में यह किसका कारण है इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है । यदि कार्यता का कारणता के लक्षण के अन्तर्गत समावेश किया जाय तो उपरोक्त जिज्ञासा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये । अत: कारणता का उपर्युक्त अन्यथासिद्ध्यादि घटित लक्षण करने की अपेक्षा उसे पदार्थान्तर मानना ही उचित है ।[१२]

पदार्थान्तर-रूप कारणता कारणतावच्छेदक के भेद से जैसे भिन्न होती है वैसे ही कारणतावच्छेदक सम्बन्ध के भेद से भी भिन्न होती है । क्योंकि जिस प्रकार दण्ड चक्र (या चक्र के साथ असम्बन्धित के) रूप में घट का कारण है यह

प्रतीति अप्रमा है, उसी प्रकार दण्ड समवाय सम्बन्ध से घट का कारण है यह प्रतीति भी अप्रमा है ।[१३]

परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि कारणता अवच्छेदक तथा सम्बन्ध के भेद से भिन्न-भिन्न है तो समवायि, असमवायि और निमित्त कारण में अनुगत कारणता की प्रतीति नहीं हो सकेगी । इसके विषय में उन नैयायिकों का मत यह है कि घटवान् भिन्न-भिन्न होने पर भी घटत्व-रूप से उनका अनुगम तो होता है । उसी प्रकार कारणतायें भिन्न-भिन्न होने पर भी कारणतात्व-रूप अखण्ड-धर्म के एक होने से उनका भी उक्त धर्म के आधार पर अनुगम होता है ।[१४]

दूसरा प्रश्न यहाँ यह उपस्थित हो सकता है कि जैसे कारणातावच्छेदक के भेद से कारणता भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार क्या कार्यतावच्छेदक के भेद से भी भिन्न होती है ? क्योंकि कारणता कार्यता प्रतियोगिक होती है (इसका कारण यह है कि न्यायमतानुसार लक्षणतः कार्य अपने प्रागभाव का विरोधी याने प्रतियोगी होता है ।) इस विषय में नैयायिकों का उत्तर यह है कि कार्यतावच्छेदक का भेद कारणता के भेद का सर्वत्र नियामक नहीं है । भिन्न-भिन्न धर्मों से नियमित कार्यता-प्रतियोगिक एक धर्म तथा एक सम्बन्ध से नियमित कारणता को एक मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं है । सुख की आत्मा में रहने वाली कारणता और दुःख की आत्मा में रहने वाली कारणता को एक मानने में कोई बाधा नहीं है ।[१५]

यह भी एक प्रश्न है कि कारणता कार्यता-प्रतियोगिक होती है इसके विषय में क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि 'पट के लिये तन्तु कारण हैं, कार्य-मात्र के लिये नहीं' यह प्रत्यय ही इस विषय का प्रमाण है । परन्तु इस पर यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रतीति से पट-प्रतियोगिकत्व प्रतीत होता है, कार्य (मात्र)-प्रतियोगिकत्व नहीं ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि कार्यता का उल्लेख न होने पर भी समवाय सम्बन्ध से पट के लिये तादात्म्य सम्बन्ध से तन्तु कारण हैं ऐसा कहने से ही कार्यता-प्रतियोगिकत्व (तन्तु) कारण में सिद्ध होता है ।[१६]

कारणता को अतिरिक्त पदार्थ मानने पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दण्डत्व में घटनियतपूर्ववृत्तितानवच्छेदक का ज्ञान होने पर भी दण्डत्व रूप से दण्ड घट का कारण है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनी चाहिये । इसका उत्तर यह है कि दण्डत्व रूप से कारणता के ज्ञान के लिये उसमें नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकता का निश्चय कारण है । इस प्रकार की नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकता का निश्चय न रहने पर उक्त रूप से कारणता का भी निश्चय नहीं होता है ।[१७] परन्तु ऐसा भी कहा जा सकता

है कि घट-नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकता को ही कारणता नहीं मान सकते । क्योंकि घट-रूप कार्य के उपस्थित न होने पर भी 'दण्ड कारण है' या 'दण्ड कारण नहीं है' यह प्रत्यय होते हैं ऐसा अनुभव है ।[१८]

कारणता के समान कारणतावच्छेदकता भी अतिरिक्त पदार्थ है, या स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है । "सम्भवति लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्" इस सामान्य नियम के आधार पर प्रमेय दण्डत्व घट की कारणता का अवच्छेदक नहीं है। उसी प्रकार व्याप्य-धर्म यदि कारणतावच्छेदक हो सकता है तो व्यापकधर्म कारणतावच्छेदक नहीं होता । दण्डत्व को घट कारणता का अवच्छेदक मानने में कोई बाधा न हो तो द्रव्यत्व या पृथ्वीत्व कारणावच्छेदक नहीं हो सकते ।[१९]

फलानुपधायक (फल को उत्पन्न न करने वाले) में भी कारणता नहीं रहती है। क्योंकि फलानुपधायक को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है । फलानुपधायक को भी यदि कारण मानें तो 'अरण्यस्थ दण्ड घट को उत्पन्न नहीं करता है' यह प्रत्यय अप्रमा होने लगेगा । जननयोग्यत्व ही कारणत्व है । कारणता का ज्ञान प्रत्यक्ष स्थल में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है । घट की कारणता का दण्डविषयक ज्ञान होने के लिये दण्ड और घट में होनेवाले अन्वय-व्यतिरेक का ज्ञान अपेक्षित होता है । दण्ड रहने पर घट उत्पन्न होता है, और दण्ड न रहने पर घट उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार का अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान रहने पर ही दण्ड में घट की कारणता का ज्ञान उत्पन्न होता है ।[२०]

कारणता को पदार्थान्तर मानने में एक तर्क यह भी है कि यदि कारणता को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानेंगे तो 'स्वर्गकामो यजेत्' यह इष्ट-साधनता-बोधक विधिवाक्य अप्रमाण हो जायेगा । क्योंकि स्वर्गाव्यवहितपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक अन्यथासिद्धयनिरूपक धर्म अप्रसिद्ध है । विजातीय स्वर्गनियतपूर्ववृत्तिता का अवच्छेदक अश्वमेधत्वादि होने पर भी स्वर्ग में रहने वाला वैजात्य पूर्व में उपस्थित न होने से उसका ज्ञान भी सम्भव नहीं है । उसके बिना विजातीय स्वर्गत्वावच्छिन्न नियतपूर्ववृत्तिता का ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा । अतः उक्त विधिवाक्य अप्रमाण होगा ।[२१]

कारणता के समान कार्यता भी स्वतन्त्र पदार्थ है यह कार्यता के वर्णन के प्रसंग में बतलाया जा चुका है ।

इस प्रकार की कारणता नैयायिकों के मतानुसार समवायीकारणता, असमवायी कारणता और निमित्त कारणता भेद से तीन प्रकार की होती है । उनकी चर्चा

अग्रिम लेखों में की जायेगी ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११ ००७.

बलिराम शुक्ल

## टिप्पणियाँ

१. गदाधर, अथ कार्यव्यवहित पूर्वक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिर्यः कारणतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावः तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव तत् । -*गादाधरी*, कारणतावादविचिकित्सायाम्

२. स्वाव्यवहित पूर्वक्षणावच्छिन्नत्वस्थलेऽवच्छिन्नत्व तादृशक्षणानवच्छिन्नत्वोभयाभावस्यैव निवेशनीयत्वात्। *वहीं*

३. यागादेः स्वर्गादिकारणता निर्वाहाय च तन्नियत पूर्ववृत्तितावच्छेदकतान्नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकावच्छिन्न नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकान्यतरत्वमेव कारणतावच्छेदकधर्मे निवेशनीयमम् । *वहीं*

४. प्रतियोगिवैयधिकरणस्याभाव विशेषणत्वोपगमे .....*वहीं*

५. *वहीं*

६. तद्घटकान्यथासिद्धिनिरूपक धर्मकूटस्य प्रातिस्विकरूपेण युगसहस्रेणापि ज्ञातुमाशक्यतया कारणत्वस्य दुर्ज्ञेयापत्तिः । *वहीं*

७. सिद्धान्तविरुद्धप्रवादकाः साम्प्रदायिकाः कारणत्व स्वरूपसम्बन्ध विशेष एवेति । *वहीं*

८. अभेदेऽपि तदुपगमे दण्डो घटकारणवानित्यादि प्रतीत्यापतेः । *वहीं*

९. एवं कार्यत्वाकार्यतात्वे अपि.........। *वहीं*

१०. कारणतावच्छेदकदण्डत्वमेव कारणत्वम् । *वहीं*

११. अभेदेऽपि भिन्नरूपेणावच्छेद्यावच्छेदक भावोपगमे ज्ञप्तिविरहात् । *वहीं*

१२. जगदीश; सामान्यतः कारणत्वेन निश्चिते वस्तुनि कस्येदं कारणमित्यवान्तर जिज्ञासानुरोधात् कारणत्वं नोन्यरूपं स्वार्थविशेषगर्भं किन्तु पदार्थान्तरम् । *जागदीश्याम्*, कारणतावादे

१३. तच्चावच्छेदकीभूतस्य धर्मस्येव सम्बन्धस्यापि भेदाद् भिन्नमेव । *वहीं*

१४. कारणातात्वेन अखण्डधर्मान्तरेण वाऽनुगताकारत्वात् । *वहीं*

१५. सुखत्वावच्छिन्नं प्रति आत्मवेन समवायिकारणव्यक्तेरेव दुःखत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणत्वकल्पने बाधकाभावात् । *वहीं*

१६. तथापि समवायेन पटत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन तन्तुत्वेन हेतुत्वमित्यादि प्रतीत्यैव तत्सिद्धिः । *वहीं*

१७. तद्रूपेण कारणत्वग्रहं प्रति तद्रूपधार्मिक घटादिनियत पूर्ववर्तितावच्छेदकत्व निश्चयस्य हेतुत्वात् । *वहीं*

१८. जगदीश; घटादिकार्यस्यानुपस्थितावपि दण्डकारणं न वा दण्डः कारणमित्यादि प्रतीत्यनुरोधेनैवं पदार्थान्तस्य तस्योपेयत्वात् । *कारणतावादविचिकित्सायाम्* ।

१९. व्याप्यादिधर्मस्य तथात्वसम्भवे न व्यापकधर्मस्य तथात्वम् । *वहीं*

२०. घटत्वाववच्छिन्नं प्रति कारणत्वस्य ग्रहे दण्डघटयोरन्वयव्यतिरेक ज्ञानमपेक्षितम् । *वहीं*

२१. अन्यथासिद्ध्य निरूपकस्याश्वमेधत्वादेः सतोऽपि च स्वर्गगत वैजात्यानुपस्थितौ बोधायितुमशक्यत्वात् तादृशविधानामप्रामाण्यापत्तेः । *वहीं*

# INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
## PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

# प्रतिक्रियाएँ

## १

विद्वान् आलोचक डॉ. हरिहर प्रसाद गुप्त ने मेरे *परामर्श (हिन्दी)*, अंक–४, खण्ड १४, सितम्बर १९९३ में प्रकाशित कबीर संबंधी कतिपय निरूपणों पर आक्षेप उठाया है । सर्वप्रथम उन्होंने "साई" शब्द के प्रयोग पर आपत्ति उठाई है । यहाँ में इतना ही कहना चाहूँगा कि शब्द किसी भाषा के शब्दकोष का हो सकता है, परन्तु शब्द को उसी भाषा से जोड़कर देखना चाहिए जिस भाषा को बोलने वाले उसका नियमित प्रयोग करते हैं । उदाहरण के लिए अंग्रेजी का "सायफन" शब्द पूर्णिया के मैथिली भाषी लोग "सेफन" बोलते हैं - (देखें -फणीश्वर नाथ रेणु की *परती परिकथा*) इससे यह कहाँ सिद्ध हो जाता है कि "सेफन" शब्द मैथिली भाषा का है । अरबी में "सायफर" को "सेफर" कहते हैं । इससे यह सिद्ध कहाँ होता है कि यह शब्द ग्रीक भाषा का नहीं है । 'ठाकुर' शब्द उत्तर प्रदेश में राजपूत के लिये, बिहार में ब्राह्मण और नाई के लिये, तथा बंगाल में रसोइया के लिये प्रयुक्त होता है । उसी तरह 'फादर' शब्द पादरी के लिये भी प्रयुक्त होता है और पिता के लिये भी । परन्तु जो भाव पिता के लिये घर में उत्पन्न होता है, वही (जन्मदाता) का भाव चर्च में उत्पन्न नहीं होता । लगता है आगे की पंक्तियों पर आलोचक ने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, जहाँ मैंने जन-भाषा के संबंध में संदेह व्यक्त किया है । यदि उस दृष्टि से देखें और भाषिक विलक्षणता को ध्यान में रखें तो तथ्य स्पष्ट हो जाएगा । विटगेंस्टिन मानते हैं कि शब्द का अर्थ वक्ता, श्रोता और मुख्य रूप से संदर्भ की देन होती है । इस तथ्य का समर्थन बाद में पी. एच्. नॉवेलस्मिथ ने भी (*एथिक्स*, पृ. ६७-६८, पेंग्युन बुक्स) किया है । हमारे पास कबीर के शब्द हैं, हम पाठक हैं, परन्तु संदर्भ का नितान्त अभाव है । अत: प्रामाणिक ढंग से यह नहीं कहा जा सकता है कि कबीर "साई" शब्द के उन सभी प्रयोगों से भिज्ञ थे अथवा नहीं । यह एक निरूपण है और यदि आप इसे प्रामाणिक अर्थ में लेते हैं तो इसके लिए आप स्वतंत्र हैं । मैंने मात्र एक निरूपण दिया है, तार्किक प्रमाण

नहीं । शब्दार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण उसके माध्यम से वक्ता जो कहना चाहता है वह है । मैंने उसी ओर इंगित किया है । आप शब्दार्थ पर जोर दे रहे हैं, इसलिए आपको ये बातें झटपटी लगती हैं ।'साईं' शब्द सिन्धी में भाई के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस अर्थ में 'साईं' शब्द का प्रयोग आज भी सिन्धी लोग करते हैं, अन्य लोग नहीं ।

मैंने कहीं यह नहीं कहा है कि कबीर वाममार्गी थे । शाक्त का विरोधी शिव का भी विरोधी है इस निष्कर्ष में अनुमान संबंधी कई त्रुटियाँ हैं । किस आधार पर आप यह निष्कर्ष निकाल रहे हैं? निगमनात्मक अनुमान के निष्कर्ष की कुछ शर्तें हैं । आधार वाक्य पर यदि संदेह हो तो निष्कर्ष की उपादेयता संदिग्ध हो जाती है । यह आवश्यक नहीं कि शाक्त मतावलम्बी शिव मतावलम्बी का विरोधी हो । किसी पंथ के इष्ट से प्रभावित होना और उसका समर्थक होना दो अलग तथ्य हैं । रहस्यवाद की जो भी अनुभूति होती है - उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति कठिन है । शब्द सामर्थ्य खो देते हैं । एक उदाहरण देखिए - "पहिए की सभी तीलियाँ मध्य भाग में जुड़ती हैं, किन्तु पहिए की उपयोगिता धुरी के लिए छोड़ी गई शून्य पर निर्भर होती है । घड़ा मिट्टि से बनता है, उपयोगिता मिट्टि से घिरे शून्य पर निर्भर करती है ।" (ताओ ॥/।) भाषिक विश्लेषण के अभाव में यदि शब्दकोषीय अर्थ लिया जाय तो शून्य का अर्थ "कुछ नहीं" या "रिक्तता" है । वस्तुतः शून्य अवस्तु है, परन्तु दिन की दृष्टि से वह रिक्त नहीं है । रहस्यात्मक अनुभूति को जब शब्दार्थ तक सीमित करेंगे तो उसे वस्तुनिष्ठ भाषा से जोड़ना कठिन हो जाता है । (देखें, जॉन हॉस्पर्स कृत, एन इण्ट्रोडक्शन टु फिलॉसोफिकल अनालिसिस, एलायड पब्लिकेशन, पृ.-१५७-१६८) अतः तंत्र की प्रक्रिया में विश्वास करना और तंत्र-दर्शन के द्वारा स्थापित परम सत्ता को स्वीकारना ये दो अलग चीजें हैं अब यदि दर्शन में व्याप्त विज्ञान-विमर्श के शब्द-विश्लेषण पर ध्यान दें तो पता लगेगा कि तांत्रिक वही बातें कह रहे हैं, जो पंतजलि कहते हैं । श्वास का केन्द्र नाभि के नीचे है, परन्तु इस स्थान का स्पष्ट संकेत करने वाला शब्द संस्कृत-हिन्दी में नहीं मिलने पर यदि जापानी में तान्देन शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह कहाँ सिद्ध हो जाता है कि यह शब्द हिन्दी का हो गया और प्रयोगकर्ता जापानी बौद्ध तांत्रिक है ? अपने सार रूप में तंत्र भी उसी सत्ता का उपासक है जिसकी व्याख्या कुछ वेदान्ती करते हैं । सर्वोच्च सत्ता अथवा विषयानुभूति करने वाला पाप-पुण्य, आचार-आचरण सबसे परे हो जाता है । इसलिए इन्हें पारलौकिक कहा जाता है । पारलौकिक का अर्थ ही है लौकिकता से परे । लौकिकता नैतिकता है, आरोपण है, आवरण है - जो व्यभिचार और आचार का मापदण्ड है । स्वतंत्रता को मापदण्ड बनाया जाय, तो "समान करना"

अनुचित होगा; और यदि समानता को मापदण्ड बनाया जाय, तो स्वतंत्र होना अनुचित हो जाएगा। विषय के साथ निरत रहने वाला एक रहस्यवादी इससे परे होना है। यहाँ में जान-बूझकर *विषय* शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। इसे यदि आप आत्मा, पठन-पाठन का विषय या कर्ता लेंगे तो फिर विचित्र अर्थ उत्पन्न होगा। यह अंग्रेजी में सबजेक्ट है। विषयी होकर जीने वालों के लिए सांसारिक नियम कोई अर्थ नहीं रखता। ब्राडले ने कहा है - "निरपेक्ष सत्ता में वासना की अन्तिम लौ भी बिना बुझे अबाध जलती रहती है" (ब्राडले, *एपीयरेंस एण्ड रियालिटि*, पृ. - १७२) तो उनका आशय भी यही था।

संत सज्जन को शुभ मानता है,
दुर्जन को भी शुभ मानता है,
सद्गुण की यही शोभा है।
ईमानदार का भरोसा सभी करते हैं,
झूठे का भरोसा संत करते हैं।
सद्गुण की यही श्रद्धा है।– *ताओ सूत्र* -४९

लाओत्से और कनफ्यूसियस का विरोध यही था। लाओत्से श्री अरविन्द की तरह मानव की अन्तस्तात्विक चेतना को परिवर्तित कर दैवी रूपान्तरण करना चाहते थे, कनफ्यूसियस नैतिक आचरण थोंपना चाहते थे। जिसे आप *व्यभिचार* कह रहे हैं वह बहुत ही संकुचित अर्थवाला है। क्योंकि यह मानव को संसार में रोकता है। पारलौकिकता की चाहत उसका प्रक्षेपण जड़-जगत् से परे करता है। सामान्यत: लोग कबीर को भक्त और कवि की दृष्टि से देखते हैं, उनकी विलक्षण प्रतिभा की दृष्टि से नहीं। निर्गुण का उपासक होते हुए भी वे भक्त हैं, और भक्त होकर भी रहस्यवादी हैं, यह विलक्षणता नहीं और क्या है? अपने लेख में मैंने उसके दार्शनिक पहलू का विवेचन प्रस्तुत किया है। तथापि इसे घसीट कर साहित्य में ले जाने पर भ्रान्ति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। मैंने कबीर का अर्थ-निरूपण समसामयिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किया है - आप उसे विशुद्ध साहित्य में ले जायेंगे तो दार्शनिक सम्प्रत्यय निष्प्राण हो जायेंगे।

पश्चिम का भाषा आन्दोलन मुख्यरूप से दार्शनिकों की देन है, जहाँ उन्होंने सम्प्रत्यय- विश्लेषण के लिए इसका उपयोग किया है। यदि ठीक वही मान्यता आप साहित्य में ले आयेंगे तो अनर्थ होगा। "तारसप्तक" के कवि राजेन्द्र किशोर जी से इस बिन्दु पर मेरी लम्बी बातचीत हुई है और वे मेरी मान्यताओं और अर्थनिरूपण से पूर्णत: सहमत हैं। उनकी भी मान्यता है कि - "रहस्यवादी कवियों

के साथ कठिनाई यह है कि हम उन्हें वस्तुनिष्ठ भाषा से जोड़ नहीं सकते हैं। हम जितना भी अर्थ-निरूपण करें, वह संभाव्य ही होगा ।''

जहाँ तक कबीर के द्वारा किसी कार्य की प्रशंसा और किसी कार्य की निन्दा का प्रश्न है तो मैं इतना कहना चाहता हूँ कि कहने का अर्थ अनुमोदन करना तो हो सकता है, परन्तु उसमें हमारी सक्रियता या सहभागिता परिलक्षित नहीं होती है । उसी तरह किसी आचरण को अनुचित कहने का अर्थ उसे लाठी लेकर रोकना नहीं होता है । संत जब तंत्र को अनुचित कहते हैं तो उसका उद्देश्य साधकों को सामाजिक भर्त्सना से बचाना भी होता है कि क्यों यह सब करते हो, इष्ट की प्राप्ति योग और भक्ति से भी संभव है । किसी साधना-पद्धति की आलेचना का अर्थ उसे नकारना नहीं होता, बल्कि उसके कतिपय पहलू को नकारना होता है । स्वतः कबीर जिस समाज के अवैध समागम की उत्पत्ति थे उसी की प्रशंसा उन्होंने कैसे की होगी यह मेरी समझ से परे है । हाँ, यदि शब्दों के आयाम को शब्दकोष तक ही सीमित कर दिया जाय तो पहाड़ पर चढ़ना, कीमत का चढ़ना, बुखार का चढ़ना, सोपान पर सोपान चढ़ना जैसे प्रयोग में "चढ़ना" शब्द का अर्थ निर्धारित करना असंभव हो जाएगा ।

मेरी पंक्ति " रस गहन गुफा से अजर झड़े" और "मेरी बोली पूरबी" पर आलोचक महोदय ने ध्यान दिया ही नहीं । उस गुंफा के स्वरूप को निर्धारित करना कितना कठिन है, विशेषकर भाषिक दृष्टि से यह तो आप भी समझते होंगे । समन्वय का अर्थ ही है "आत्यन्तिकों के बीच सहमति स्थापित करना ।" कबीर तंत्र साधना की परम सत्ता के स्वरूप से सहमत थे, न कि उसकी प्रक्रिया से । उसी तरह योग के द्वारा प्रतिपादित सगुण ईश्वर को नकारकर वे उसकी प्रक्रिया को स्वीकारते हैं। यहाँ सगुण का फिर गलत अर्थ नहीं लें - योग दर्शन में ईश्वर को कृपानिधान भी कहा गया है और यह एक गुणारोपण है । स्पिनोजा और कुछ वेदान्ती, दोनों गुणारोपण को सीमितता मानते हैं । कबीर को स्पिनोजा, ब्राडले, वेदान्त गुरजेफ और लाओत्से की परम्परा से जोड़ कर देखें, न कि सूरदास, मीरा और तुलसी से जोड़ कर ।

लगता है आक्षेपक बातों को पूर्वाग्रही ढंग से ले रहे हैं । हिन्दी साहित्य में जिस दिन कबीर को एक सार्विक भक्त कवि कहा गया उसी दिन एकही साथ भ्रान्ति और पूर्वाग्रह का जन्म हुआ । उनका दुर्भाग्य था कि वे पहले या बाद में नहीं जन्मे । भक्तिकालीन कवि होना और भक्त कवि होना दोनों अलग तथ्य हैं । भक्तिकालीन कवि के अन्तर्गत रखकर आलोचकों ने वे सारे आरोपण इनके साथ भी कर दिये जो सूर, मीरा आदि के ऊपर कर दिये । परन्तु इनका भक्ति मार्ग विलक्षण था । नीत्शे ने *दस स्पोक जरथुष्ट* को संवाद में लिखा, परन्तु

उन्हें पश्चिम में किसी ने नाटककार नहीं कहा। कबीर को काव्य के साथ इसलिए जोड़ा गया, क्योंकि भारत में साहित्य और दर्शन की परम्परा ही कुछ ऐसी रही है। प्रायः भक्त कवि जो भी हुए वे सगुणोपासक थे (जायसी अपवाद है)। परन्तु कबीर प्रारम्भ से अन्त तक कि निर्गुण की माला जपते रहे। वे विशुद्ध रहस्यवादी कवि थे। उन्होनें तंत्र और योग दोनों की समान रूप से निन्दा की है।

मन ना रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा।
दाढी बढाय जोगी बन गये बकरा ॥

और आप के द्वारा उद्धृत पंक्तियों में वैष्णव को भी नहीं छोड़ा है -

कबीर संसारी साबत भला, कंवारी कै भाई।
दुराचारी वैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाई ॥

पुनः

कबीर जे को सुंदरी जाणि करे विमचार
ताहिं न सबहूँ आदरै परमपुरुष भरतार ॥

इन पंक्तियों में भी तंत्र की आलोचना नहीं है, बल्कि मिथ्या तांत्रिक के अभिप्राय की आलोचना है जो तंत्र-सिद्धि के बहाने सौदर्य का उपभोग करना चाहता है। वस्तुतः उन्होने प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त आडम्बरों एवं दिखावे की आलोचना की है।

वक्ता जब किसी गम्भीर रहस्यमय अनुभूति की व्याख्या कर रहे होते हैं तो उन्हें अभिव्यक्ति के क्रम में अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। कभी तो उपयुक्त शब्द नहीं मिलते और कभी प्रचलित शब्दों में अर्थ की इतनी भिन्नता हो जाने का भय रहहा है कि उसके माध्यम से नयी अनुभूति की अभिव्यक्ति असंभव हो जाती है। इससे बचने के लिए या तो वक्ता किसी और क्षेत्र से शब्द चुनते हैं या नये शब्द गढते हैं। जैसे मार्टिन हैडेगर द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द, श्री अरविंद द्वारा रचित Ovemind, illumined mind, Supermind, काण्ट द्वारा intellect के बदले understanding तथा experience के बदले Perception शब्द का प्रयोग ऐसे ही उदाहरण हैं। भरत मुनि के रस सिद्धान्त की व्याख्या में भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त ने अन्ततः दर्शन का सहारा लेकर भाव, अनुभाव, विभाव और संचारी भाव को स्पष्ट किया। यदि कबीर को साहित्य के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाय तो संदेह उत्पन्न होगा ही।

पुन: अभिव्यक्ति के क्रम में तांत्रिकों की आलोचना का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि, क्यों ऐसा आचरण करते हो, क्योंकि इष्ट प्राप्ति भक्ति और योग के द्वारा भी संभव है । इसलिए समाज के द्वारा निन्दनीय पथ को छोड़कर इस पथ पर आ जाओ । अभिव्यक्ति के ऐसे ही गम्भीर क्षणों में कबीर ने तंत्र-पथ के शब्दों का चयन किया है, जिससे कि आत्मा और परमात्मा का अद्वैत स्पष्ट हो सके । क्योंकि वे जो कहना चाहते थे, उसके लिए योग और भक्ति सम्प्रदाय में वे शब्द उपलब्ध नहीं थे । एक उदाहरण -

नैननि कोठरी करि, पुतलिन पलंग बिछाया ।
पलकन के चिक डार के, प्रिय को लियो सुभाय ॥

यहाँ जो बिम्ब उभर रहा है - वह क्या है ?

महान् वक्ता आलेचना में अधिक बोलते हैं और अपने सिद्धान्त को दो चार सूत्रों में कहते हैं । उनके वास्तविक विचार आलोचना में निहित नहीं होते, बल्कि उन्हीं दो चार सूत्रों में होते हैं । अत: आलोच्य पंक्तियों पर ध्यान देने से उलझन पैदा होती है, सिद्धान्त पर केन्द्रित करने से नहीं । यदि विवाह-संस्था के संबंध में समाज-शास्त्रीय और दार्शनिक पहलू को ध्यान में रखें तो स्त्री-पुरुष के बीच समागम को विवाह ही माना गया है - चाहे उसका स्वस्थ स्वरूप और भेद जो भी हो (राजवाड़े, वि. का. जी की पुस्तक भारतीय विवाह संस्था का इतिहास,पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस, १९८६ देखें) । यह हमारे निरूपण और अभ्युपगमों पर निर्भर करता है कि अग्नि के सात फेरे लेने वाले को ही पति परमेश्वर स्वीकार करें या सहवास करने वाले को । भर्तार-भरण पोषण करता हो या सहवास इससे मर्द के स्वरूप पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बहुत अन्तर मैं नहीं मानता हूँ । विवाह सहवास हेतु एक समझोता पहले है, धार्मिक कृत्य बाद में । यदि आप अन्य रूप में लेते हैं तो इसका स्वरूप भी आप-ही निर्धारित करें और स्वीकार भी । विवाह सामाजिक संस्था के साथ ही साथ वैयक्तिक संस्था भी है ।

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
राजेन्द्र कॉलेज,
जे. पी. विश्वविद्यालय, छपरा

महेश्वर प्रसाद चौरसिया

इस विषय की चर्चा इसके साथ समाप्त की जा रही है ।

सम्पादक

## २

साम्प्रदायिकता, धर्म और राजनीति को उछालकर भारतीय जन-मानस में उद्वेलन पैदा करने वाले लोग वास्तव में उन षड्यंत्रकारियों की तरह होते हैं, जो किसी भी देश की गतिशीलता के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करते हैं । स्वतंत्र भारत में इन तीनों को लेकर सरकारें बनी-बिगड़ी हैं । राष्ट्रीय अंत:संघर्ष के इस दौर में बौद्धिक वर्ग अपने आपको असंपृक्त नहीं रख सकता । परामर्श के सितम्बर - ९३ अंक में डॉ. बी. कामेश्वर राव ने "साम्प्रदायिकता: एक विश्लेषण" शीर्षक से राष्ट्र के व्यापक हित में जो सवाल उठाये हैं, उनके तारतम्य में हम यहाँ चर्चा करने जा रहे हैं । आरंभ में यह स्पष्ट कर दें कि एक राजनेता, सामान्य जनता और बौद्धिक-वर्ग की राष्ट्रीय चिन्ताओं में बुनियादी फर्क होता है । बौद्धिक वर्ग जिन निष्कर्षों पर पहुँचता है, उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि सामान्य जनता और शासक-वर्ग उससे सहमत हो । रूसो, वाल्तेयर जैसे लेखकों ने फ्रांस के समाज-परिवर्तन को अपने विचारों से प्रभावित किया होगा, किन्तु भारत जैसे देश के संदर्भ में हम बौद्धिक वर्ग के निष्कर्षों को एक नितांत तटस्थ दृष्टिकोण मानते हैं । इस तटस्थता का एक प्रधान कारण है– बौद्धिक वर्ग का प्राय: आदर्शवादी होना । भारतीय परिवेश में साँस लेने वाला बौद्धिक वर्ग यह सोचकर हैरान है कि धर्म, सम्प्रदाय, मत आदि को लेकर आखिर खून-खराबे की स्थितियाँ क्यों निर्मित हो रही हैं ? धर्म, सम्प्रदाय, मत आदि अंतत: मूल्यगत आदर्शों के प्रतीक हैं । तब टकराहट की स्थिति कहाँ आती है ? बौद्धिक वर्ग दबी जुबान में यह स्वीकार करता है कि धर्म, संप्रदाय, मत आदि का अपने प्रभुत्व के लिए राजनीतिज्ञ ही अधिक दुरुपयोग करते हैं । फिर भी शब्दों की अस्मिता अपनी जगह विद्यमान है ।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि शब्दों के अर्थ समकालीन संदर्भों में परिवर्तित होते रहते हैं । शब्द चाहे दार्शनिक ही क्यों न हों, यदि केवल रूढ-अर्थों को ध्वनित करते हैं और समकालीन संदर्भों से एकदम कटे हुए हैं तो हम उन शब्दों में निहित मूल्यों के प्रति बौद्धिक दृष्टि से जुड़ सकेंगे, व्यावहारिक दृष्टि से उन मूल्यों से हम लाभान्वित नहीं हो सकेंगे । आज कोई दृढता से चौराहे पर खड़े होकर यह नहीं कह सकता– "हाँ ! मैं 'साम्प्रदायिक' हूँ ।" ऐसे व्यक्ति को पुलिस तुरंत पकड़ कर जेल में ठूँस देगी । इसके बदले कोई यह कहे– हाँ !

में 'धार्मिक' हूँ ।'' तो वह न्याय के प्रति कुसूरवार सावित नहीं होगा । ऐसी स्थिति में भारतीय परिवेश में डॉ. बी. कामेश्वर राव की इस परिभाषा को हम केवल एक बौद्धिक निष्कर्ष ही मानेंगे कि– ''साम्प्रदायिकता की वह सामाजिक अभिवृत्ति है, जिसके कारण वह अपनी आस्था के विषय को सार्वजनिक करते हुए अन्य लोगों से उसी विषय के आधार पर आत्मीय संबंध स्थापित करता है ।''[३] लेखक की दृष्टी में मत, पंथ, मजहब या रिलिजन साम्प्रदायिकता के पर्यायवाची हैं, जबकि ऐसा है नहीं । आश्चर्य है कि लेखक ने हिन्दी या संस्कृत में प्रयुक्त ''धर्म'' शब्द को प्रयोग क्यों नही किया ? शायद लेखक ने ''धर्म'' शब्द के ध्वन्यार्थ को अंग्रेजी के ''रिलिजन'' शब्द पर आरोपित कर लिया है ।

शब्द सामाजिक जीवन में व्यक्तित्व को अभिव्यक्त ही नहीं करते, न उसकी विशेषताओं (या बुराईयों) को भी रूपायित करते हैं । वैदिक युग में एक ''धर्म-विद्या'' थी, तब इसका आशय मात्र यज्ञ कर्मों का ज्ञान था । फिर ''धर्म'' शब्द में ऐसा अर्थ रूढ हो गया कि उससे ''यज्ञ'' का ही अर्थ ग्रहण किया जाने लगा । यहाँ उस काल में सम्प्रदाय वनने की प्रक्रिया शुरू हुई । यज्ञ-कर्म कुछ विशेष लोगों का ही कर्म था, किन्तु इसके साथ ही ''धर्म'' के स्वरूप में व्यापकता आती गई । वास्तव में अकेले 'धर्म' शब्द के अर्थ के विकास में भारतीय मनीषा के चिन्तन-प्रक्रिया के विकास का इतिहास प्रच्छन्न है । आज धर्म के परिवेश में हम विश्व-मानवता के उत्कर्ष का स्वप्न देखते हैं ।

आधुनिक युग में, खासकर भारतीय संदर्भों में, ''धर्म'' और ''अहं ब्रंह्मास्मि'' भिन्नार्थ हो गए हैं । कम-से-कम हमारे राजनीतिज्ञ तो ऐसा मानते हैं और वे राजनीतिज्ञ देश के प्रबुद्ध वर्ग से कम बुद्धिमान् नहीं हैं । अभी हाल में ही इंका के वरिष्ठ नेता श्री माखनलाल फोतेदार ने कहा था– ''धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता । ......राजनीति से ''साम्प्रदायिकता'' को अलग करने की आवश्यकता है और इसके लिए विधेयक लाने पर ही जनता का समर्थन प्राप्त होगा ।''[४] राजनीतिज्ञ के विचार जनता के विचार हो भी सकते हैं और नहीं भी । एक रानीतिज्ञ अपने मन से बहुत सारी बातें कह सकता हैं, जो जनता के विचारों से मेल न खाती हों, किन्तु कानूनन उसके कथन का महत्त्व तो होता है । अन्यथा एक सांसद यह क्यों कहता– ''हम अमुक क्षेत्र की जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं ।'' जनता-प्रतिनिधित्व कानून की दृष्टि से राजनेताओं के कथनों का सामाजिक महत्त्व होता है और मूल्य भी !

भारत के समकालीन संदर्भों में साम्प्रदायिकता एक प्रकार की ऐसी कट्टर पंथिता के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है, जिसमें काफी हद तक ''हिंसा'' का समावेश है । हिंसा -दोनों ही स्तर पर, मानसिक और भौतिक । याने आधुनिक

संदर्भ में साम्प्रदायिक वृत्ति अपने विचारों को बल-पूर्वक आरोपित कर हमारी वैचारिक हिंसा तो करती है, वक्त पड़ने पर हमें शारीरिक क्षति भी पहुंचा सकती है। यदि यह सत्य नहीं होता, तो एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में किसी स्थान-विशेष में मंदिर या मस्जिद के होने पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होती।

अब यहाँ हम एक समाजसेवी महात्मा तथा एक राजनीतिक के द्वारा प्रस्तुत धर्म संबंधी विचारों के विश्लेषण से "साम्प्रदायिकता" का अर्थ खोजने की चेष्टा करेंगे। स्वामी सत्यरूपानंद कहते हैं– "धर्म का मूल तत्त्व स्वयं को जानना है और दूसरे के साथ सेवा तथा प्रेम से जोड़ना है। धर्म ही मनुष्य में निहित पशुता पर नियंत्रण रखता है। धर्म के मूल तत्त्व को न समझने के कारण ही समाज में वैमनस्य होता है।" यहाँ औपनिषदिक दर्शन का प्रभाव है। दूसरी ओर प्रखर राजनीतिज्ञ केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री श्री अर्जुनसिंह का कथन है– "धार्मिक कट्टरवाद से धार्मिक सहिष्णुता ही वह विचार है, जो मानवता को राह दिखाता है। धर्म का मतलब लोगों को एक साथ बांधे रखना है। धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में संतोष, शुद्धता, शुद्ध विचार और सहनशीलता शामिल हैं।"[५]

ऊपर प्रस्तुत दोनों ही उदाहरण सममकालीन संदर्भों से जुड़े लोगों के हैं। जानबूझकर यहाँ इन दोनों उदाहरणों को इसलिए विश्लेषण के लिए चुना गया है कि प्रस्तुत आलेख में यह चर्चा "क्लासिकल" अधिक न हो जाये, याने हम अपना विश्लेषण यथार्थवादी रखना चाहते हैं। आज देश का प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी इसलिए उद्वेलित है कि "धर्म, साम्प्रदायिकता, और राजनीति" जैसे शब्दों ने बम विस्फोटों से अधिक भारतीय अस्मिता को आहत किया है।

ऊपर प्रस्तुत वक्तव्यों में स्वामी सत्यरूपानंद "अंह ब्रह्मास्मि" या "तत्त्वमसि" या फिर "नो दाई सेल्फ" (अरस्तू) की विचारधारा लेकर चलते हैं। संभवत: वैदिक युग या अरस्तू के युग में यह दार्शनिक समस्या इतनी ज्वलंत नहीं रही होगी, जितनी आज है, और विशेषकर भारतवर्ष में मनुष्यों के अपने आपको ठीक तरह से जानने की जरूरत है। अाात्मा के रूप में नहीं, अपने भारतीय रूप में। वैदिक काल से हमारे देश में जो "सर्वभूतहितेरत:" का आदर्श रहा है, उसे स्वामी सत्य रूपानंद ने "सेवा और प्रेम" जैसे शब्दों में समाहित करने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में यह कहना कतई तर्क-संगत नहीं है कि आज भारत वर्ष में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सर्वप्रथम भारतीय समझता है। व्यावहारिक समाज में तो यही पहले दिखलायी देता है कि वह बंगाली, पंजाबी, सिक्ख-हिन्दू या फिर मुसलमान पहले है, फिर हिन्दुस्थानी है। इस प्रकार का राष्ट्रीय चरित्र कैसे अचानक पैदा हो गया यह एक भिन्न प्रश्न है। भाषा, भूगोल जाति वर्ण आदि की समस्या तो इस

देश में प्राचीन काल से रही है । धर्म (सम्प्रदाय) के नाम पर "कतले आम" के तो इतिहास में कई साक्ष्य हैं । फिर भी भारतवर्ष में स्वातंत्र्यपूर्व काल तक राष्ट्रीय चरित्र बरकरार रहा है ।आज की समस्या स्वातंत्र्योत्तर काल में विकसित भारतीय मनोवृत्तियों का परिणाम है । स्वामी सत्य रूपानंद एक आध्यात्मिक पुरुष है । अत: स्वाभाविक है वे देवत्व की कल्पना करेंगे । मनुष्य के भीतर की पाशविक वृत्तियाँ जब अनुशासित हो जाती हैं, तो देवत्व का अभ्युदय होता है । आधुनिक समाज में वैषम्य का एक कारण यह है कि मनुष्य पर पाशविक वृत्तियाँ हावी होती जा रही हैं । धर्म का मूल तत्त्व देवत्व है जो धारणां के योग्य है । किन्तु मानव इससे वंचित है । स्वामी जी का यह विचार एक विश्वव्यापी दार्शनिक समस्या की ओर संकेत देता है, जिसमें भारतीय समस्या भी शामिल है ।

केन्द्रीय मानव संसाधन विकास-मंत्री के विचारों में "धार्मिक कट्टरवाद" "साम्प्रदायिकता" का पर्यायवाची है । "धार्मिक सहिष्णुता" का प्रयोग करते हुए मंत्री महोदय ने अपने गांधीवादी दर्शन के प्रति विश्वास व्यक्त किया है । "सहिष्णुता" शब्द अपने आप में एक अत्यंत ही उदार और विनम्र शब्द है । केवल "सहनशीलता" को हम उसके पर्यायवाची के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते । "सहिष्णुता" की भाव-व्यंजना के लिए "सहनशीलता" पर्याप्त नहीं है । "सहिष्णुता" में पूरा गांधीवाद दर्शन का मूल्य सत्याग्रह समाया हुआ है । धर्म का मूल-तत्त्व होने के कारण यह सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए उपयोगी है । धर्म की विशेषताओं के अंतर्गत श्री अर्जुन सिंह ने संतोष, शुद्धता, शुद्ध विचार और सहनशीलता जैसे जिन तत्त्वों को शामिल किया है, वे सब गांधीवादी जीवन-मूल्यों के ही वाचक हैं ।

शब्द-कोशों में धर्म को "रिलिजन का पर्यायवाची ही माना गया है । किन्तु, "रिलिजन" के अर्थ में अनेक शब्द-कोशों में केवल "फेथ" लिखा है, जो "विश्वास" का पर्यायवाची है । विश्वास किसके प्रति ? यदि कोई शैतान के प्रति विश्वास करे तो ? अंग्रेजी के "रिलिजन के अनुसार तो वह भी धर्म हो जायेगा । किन्तु हिन्दी या संस्कृत में हम केवल पर्यायवाची शब्दों को ही नहीं लेते, जो व्यवहार में प्रचलित होते हैं । हिन्दी या संस्कृत में हम उन अर्थों को पहले ग्रहण करते हैं, जिनका संबंध उस शब्द की धातु से होता है । धर्म में "धृ" धातु है, जिसका अर्थ धारण करना या धारणा होता है । वैदिक काल में "यज्ञ" को ही धारण या धारण के योग्य समझा गया । आज वह अर्थ दूषित हो गया है । आज धर्म से आशय व्यापक परमात्म-चिन्तन, आत्म-ज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, नैतिक मूल्य, मानवतावादी दृष्टि आदि है या फिर *गीता* में जिसे "दैवी सम्पत्ति"[८] की संज्ञा दी गई है, वह सब धारण या धारण के योग्य है । ऐसी स्थिति में आज धर्म का विश्व-मानव-कल्याणकारी स्वरूप स्पष्ट होता है । "सम्प्रदाय"

प्रकार या प्रभेद का वाचक हो गया है। कुछ विशेष विचारों या कर्मकांड या अन्य-निष्ठा को सम्प्रदाय के अन्तर्गत परिगणित किया जाने लगा है। इसी तथ्य की ओर ऊपर श्री अर्जुन सिंह ने "धार्मिक कट्टरवाद" कह कर हमारे ध्यान को आकृष्ट किया है।

वैचारिक कट्टरता का भाव "सम्प्रदाय" में कैसे आ गया यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में "सम्प्रदाय" का अर्थ है, क्रम की स्वीकृति, भक्ति विशेष से विशिष्ट विवेक। जब हम परमार्थ के विषय में एक क्रम को स्वीकार कर लेते हैं, तब वहाँ सम्प्रदाय आ जाता है। सम्प्रदाय अच्छे अर्थ में है, बुरे अर्थ में नहीं। यह राजनीतिज्ञों का सम्प्रदाय नहीं है। जो हमारा सम्यक् प्रकृष्ट महापुरुषों से प्राप्त ज्ञान का दान है, उसको सम्प्रदाय कहते हैं। आज हमारे देश में जो भयानक परिस्थितियाँ निर्मित हो रही हैं, उनसे उभरने के लिए यह आवश्यक है कि देश का प्रबुद्ध वर्ग सामने आये, और "साम्प्रदायिकता" की सही व्याख्या करे, ताकि देश की जनता दिग्भ्रांत होने से बच सके। आज का वैचारिक संघर्ष सिर्फ देश के प्रबुद्ध वर्ग का संघर्ष नहीं है। इस संघर्ष से भारतीय समाज का हर वर्ग पीड़ित है। देश का सर्व हारा वर्ग यह सोचकर पीड़ित है कि साम्प्रदायिकता, धर्म और राजनीति की संकीर्ण विचारधाराओं को लेकर यदि हिंसा का दौर चलता रहा तो सबसे अधिक हानि उन्हीं लोगों को है। आभिजात्य वर्ग या पूंजीवादी समाज तो सदैव सत्ताधारियों के अभिषेक में संलग्न रहा है। आज के शिक्षित, मध्यमश्रेणी प्रबुद्ध वर्ग का वैचारिक संघर्ष बहुत कुछ भारतीय नवजागरण काल के वैचारिक संघर्ष जैसा है। न तो पूर्णतः पुरातन पंथ को मान्यता दी जा सकती है, और न नूतनता के समस्त प्रतिमानों को स्वीकार किया जा सकता है। प्रो. गणेशदत्त ने लिखा है– "भारतीय परंपरा और संस्कृति "राजधर्म" का स्वीकार करती है। इसीलिए "राज" के साथ "नीति" जुड़ी है। धर्म-भाव इसी नीति को निर्देशित करता है। वह मनुष्य को सदाचारी, परदुःखकातर, सहिष्णु, उदार और निष्ठावान् बनाता है, तथा सामाजिक न्याय की प्रेरणा देता है। भारतीयों के अवचेतन में धर्म-अधर्म का भाव बैठा है जो उनके जीवन के संचालन में अहम् भूमिका निभाता है।"[१] ऐसी स्थिति में देश और प्रबुद्ध वर्ग ही "साम्प्रदायिकता" में निहित विषांकुरों को नष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

विजय कुमार शर्मा

द्वारा डॉ. रामदास शर्मा
पुरानी बस्ती, कायस्थ पारा,
रायपुर–४९२००१
(मध्य प्रदेश)

## सन्दर्भ - सूची


१. बी. कामेश्वर राव, "साम्प्रदायिकता : एक विश्लेषण," *परामर्श*, सितम्बर,९३

२. *वहीं*, पृष्ठ २६७

३. डॉ. राधाकृष्णन *भारतीय दर्शन*, पृ. ११३ (अनुवादक -नन्द किशोर गोमिल, विद्यालंकार)

४. श्री माखन लाल फोतेदार, वार्ता *नवभारत*, १२-९-९३ पृष्ठ-७.

५. स्वामी सत्यरूपानंद, *धार्मिक संगोष्ठी*, रामकृष्ण मिशन, रायपुर ११-९-९३, *नवभारत* -१२९-९३ पृष्ठ-७.

६. श्री अर्जुनसिंह, नई दिल्ली, नेताजी इंडोर स्टेडियम, विश्व धर्म -संसद का उदघाटन सममारोह, *नवभारत* १२-९-९३ पृष्ठ-४.

७. देखिए– *नालंदा डिक्शनरी*, पृष्ठ-५०४.

८. द्रष्टव्य– *गीता*, अध्याय–१६.

९. स्वामी अखंडानंद सरस्वती, *भागवत–दर्शन*, पृष्ठ-६ (प्रथम स्कंध, प्रवचन)

१०. धर्म को राजनीति से अलग करने का मजबूत इरादा चाहिए, प्रोफेसर गणेशदत्त, *नवभारत*, १३-९-९३, पृष्ठ-४.

# पॉपर का उपकरणवाद : एक समीक्षात्मक दृष्टि

कई शताब्दियों पहले से ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बारे में बहुत से लोगों का यह मत रहा है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त वास्तव में संसार में जो वस्तुस्थिति है उसका वर्णन नहीं करते, बल्कि वे निरीक्षणीय (ऑब्जर्वेबल) तथ्यों की गणना करने के साधन या उपकरण मात्र हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो के समय अधिकांश ईसाई पादरी यह मानते थे कि सूर्यकेन्द्रिक विश्व की अवधारणा के आधार पर निरीक्षणीय तथ्यों की गणना बहुत आसानी से की जा सकती है, और यह अवधारणा पृथ्वी केन्द्रिक विश्व की अवधारणा से अधिक सरल भी है; परन्तु फिर भी पृथ्वीकेन्द्रिक विश्व ही सत्य है। वैज्ञानिक गैलिलियो उस समय सूर्यकेन्द्रिक विश्व को केवल गणना के लिए उपयुक्त उपकरण न मान कर उसे सत्य भी मानते थे। कालान्तर में गैलिलियो के दृष्टिकोण की ही विजय हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में परमाणु सिद्धान्त के विरोध में एक बार फिर से कई प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, जैसे माख[1], [illegible] और त्वांकारे[3] आदि, ने उपकरणवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। बीसवीं शताब्दी में छोट–छोटे कणों के व्यवहार के सम्बन्ध में क्वांटम् भौतिकी की खोज के साथ फिर से उपकरणवादी दृष्टिकोण को बहुत ही व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है। क्वांटम् मैकेनिक्स के स्वयंसिद्धों (एक्सिअम्स) की कोई संगत व्याख्या संभव न हो पाने के कारण क्वांटम् मैकेनिक्स के आविष्कर्ताओं, नील्स बोर[4], हाइजेनबर्ग[5] आदि ने क्वांटम् मैकेनिक्स के बारे में उपकरणवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। पॉपर के अनुसार यह उपकारणवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है। क्वांटम् मैकेनिक्स में उत्पन्न हुई कुछ विशेष कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिये उपकरणवाद का सहारा लेना एक गलत नीति है। यह नीति विज्ञान के विकास में भी बाधक है। वैज्ञानिक समस्याओं का वास्तविक हल ढूँढने के बजाय, यदि हम उनके तदर्थ हल ढूँढें तो इससे समस्याओं का सही हल तो नहीं प्राप्त होगा, बल्कि उन समस्याओं के बारे में लोग सोचना भी बन्द कर देंगे। पॉपर के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्तों के द्वारा हम अनिरीक्षणीय सत्ता (अन-ऑब्जर्वेबल रिएलिटी) का वर्णन करने की कोशिश करते हैं। वे गणनाओं के उपकरण मात्र नहीं हैं।

गणना के नियम और वैज्ञानिक सिद्धान्त इन दोनों अवधारणाओं के बीच में बहुत से अन्तर हैं,[६] और इन अन्तरों के कारण वैज्ञानिक सिद्धान्तों को सही अर्थ में गणना के नियम या उपकरण नहीं समझा जा सकता। वैज्ञानिक लोग वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कठिन से कठिन परीक्षा करते हैं। वे वैज्ञानिक सिद्धान्तों से निगमित उन निष्कर्षों को, जिनके सत्य होने की संभावना बहुत ही कम होती है, परीक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण प्रयोगों की रचना करते हैं और उन प्रयोगों के निष्कर्षों के आधार पर वे इन सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वे इन सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं, तो वे उन्हें त्याग देते हैं और उनके स्थान पर दूसरे नये सिद्धान्तों को मान्यता देते हैं। और फिर से इन नये सिद्धान्तों की अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के आधार पर कठिन से कठिन परीक्षा करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों की कठिन से कठिन परीक्षा करना और उन्हें असत्य सिद्ध करने की कोशिश करना वैज्ञानिक पद्धति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, परन्तु गणना के नियमों के सन्दर्भ में यह बात सत्य नहीं है। इञ्जीनियरिंग इत्यादि प्रायोगिक विज्ञानों में विभिन्न प्रकार के गणना के नियम बनाए जाते हैं, अनेक बार इन गणना के नियमों से शत प्रतिशत शुद्ध गणनाएँ नहीं की जा सकतीं, बल्कि इनके द्वारा की गई गणनाएँ एक सीमा तक ही शुद्ध होती हैं। परन्तु फिर भी प्रायोगिक विज्ञानों में इन गणना के नियमों को महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यहाँ पर इनका उपयोग निश्चित रूप से एक उपकरण के रूप में किया जाता है। उपकरण कम अच्छे या अधिक अच्छे हो सकते हैं, और आवश्यकतानुसार कम अच्छे उपकरण का भी उपयोग किया जा सकता है। परन्तु शुद्ध विज्ञान में उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का, जो कि असत्य सिद्ध किये जा चुके हैं, और प्रायोगिक विज्ञानों में आवश्यकतानुसार जिनका उपयोग अभी भी उचित माना जा रहा है, कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। गणना या उपकरण की दृष्टि से न्यूटन की यान्त्रिकी का अभी भी बहुत से स्थानों पर प्रयोग होता है। लेकिन शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से आइन्स्टाइन का सापेक्षता सिद्धान्त ही बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम किसी उपकरण की क्षमताओं के बारे में जान सकते हैं और इस तरह जब हम किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त को उपकरण के रूप में देख रहे हैं तो उसके उपयोग किये जाने की सीमाओं के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। उन सीमाओं के अन्तर्गत उस सिद्धान्त का उपकरण प्रयोग में लाया जा सकता है। जब हम किसी सिद्धान्त में उपकरण की दृष्टि से रुचि लेते हैं तो उसके प्रयोग की सीमाओं को जानने का प्रयास करते हैं, परन्तु उसे असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते; ऐसा प्रयत्न तो केवल हम तभी करते हैं जब हम यह मानते हैं कि यह सिद्धान्त निरीक्षणीय अथवा अनिरीक्षणीय सत्ता के वर्णन का प्रयत्न है। इस प्रकार पॉपर के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्त और गणना के नियम या

उपकरण इन दोनों धाराओं के बीच बहुत ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है और इसीलिए वैज्ञानिक सिद्धान्तों को गणना के उपकरण मात्र नहीं समझा जा सकता। यदि हम वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उपकरण मान लें तब तो हर वैज्ञानिक सिद्धान्त किन्हीं विशेष सीमाओं के अन्तर्गत एक उपकरण का कार्य कर सकता है और इस आधार पर किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त को छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु यह शुद्ध विज्ञान के मूल प्रकृति के पूर्णतः विपरीत है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उपकरण मान लेने से विज्ञान की प्रगति में भी बाधा ही उत्पन्न होगी, क्योंकि तब सभी लोग इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग की सीमायें जानने में ही रुचि रखेंगे, उन्हें असत्य सिद्ध करने और फिर उनके स्थान पर नये सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में नहीं।

पॉपर के अनुसार उपकरणवाद वैज्ञानिक सिद्धान्तों के द्वारा कभी-कभी नये पूर्वानुमान (प्रेडिक्शनूस) किये जाने की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता[९]। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के द्वारा किये जाने वाले पूर्वानुमान दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के पूर्वानुमान वे हैं जिनके आधार पर तथा जिनकी व्याख्या के लिये ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रचना की जाती है; और दूसरे प्रकार के पूर्वानुमान वे हैं जो नये क्षेत्रों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर किये जाते हैं। यदि इस प्रकार के पूर्वानुमान सत्य सिद्ध होते हैं तो यह माना जाता है कि उनके द्वारा इन वैज्ञानिक सिद्धान्तों को बहुत बड़ा समर्थन प्राप्त हुआ है।

पॉपर के अनुसार यदि वैज्ञानिक सिद्धान्त उपकरण मात्र हों तो उन्हें केवल उन कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिन कार्यों के उपयोग के लिए उनका निर्माण किया गया था। इस प्रकार उपकरणवाद के आधार पर प्रथम प्रकार के पूर्वानुमानों को समझा जा सकता है, परन्तु द्वितीय प्रकार के पूर्वानुमानों को नहीं। द्वितीय प्रकार के पूर्वानुमान तो वे हैं जिनके लिए उन सिद्धान्तों का निर्माण किया ही नहीं गया था। द्वितीय प्रकार के पूर्वानुमानों को केवल वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है। यदि वैज्ञानिक सिद्धान्त किसी हद तक संसार की वस्तु-स्थिति का वर्णन करते हैं, तो यदि उनके द्वारा नये क्षेत्रों में किये गए अनुमान सत्य सिद्ध होते हैं, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो कि सत्य के काफी निकट है, उससे इस प्रकार के नये अनुमानों की ही आशा की जा सकती है।

पॉपर उपकरणवाद की आलोचना एक तीसरे आधार पर भी करते हैं[६]। वे मानते हैं कि उपकरणवादी दृष्टिकोण निरीक्षणीय पदों (ऑब्जर्वेबल टर्म्ज़) और सैद्धान्तिक पदों (थियरेटिकल टर्म्ज़) के विभाजन पर आधारित है। निरीक्षणीय पद उन वस्तुओं या गुणों को सूचित करते हैं जिनका ज्ञान हमें प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है और

इस तरह उनके बारे में हमें जो ज्ञान होता है वह सभी प्रकार के सन्देह से परे होता है। परन्तु सैद्धान्तिक पद जिन वस्तुओं या गुणों को सूचित करते हैं उनका ज्ञान प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं होता है। उन्हें केवल अनुमान के आधार पर जाना जाता है और इसलिए उनके बारे में हमारा ज्ञान असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। पॉपर इन दोनों प्रकार के शब्दों के बीच किये जाने वाले विभाजन को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक सार्वभौम (युनिवर्सल) शब्द एक (डिस्पोजिशनल) पद है, और इसलिये किसी भी वस्तु अथवा गुण, चाहे उसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सके अथवा न किया जा सके, का ज्ञान असंदिग्ध नहीं हो सकता। सामान्यतया हम मानते हैं कि 'यहाँ पर एक पानी का गिलास है' यह निरीक्षणात्मक (ऑब्जर्वेशनल) वाक्य है और इसकी सत्यता या असत्यता के बारे में हमें जो भी ज्ञान है वह असंदिग्ध है। परन्तु इस वाक्य में हुए सार्वभौम शब्द जैसे 'पानी' व 'गिलास' प्रवृत्त्यात्मक पद हैं। कोई भी वस्तु पानी है या गिलास है इस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उनके प्रभावों का निरीक्षण या परीक्षण करते हैं, जो कि ये वस्तुयें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न करती हैं। इनके अनेक प्रभावों का निरीक्षण कर लेने के उपरान्त भी हम पूरी तरह से आश्वस्त नहीं हो सकते कि वह वस्तु जिसके बारे में हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वह 'पानी' अथवा 'गिलास' ही है। कोई भी वस्तु पानी है इस बात का शत प्रतिशत सत्यापन असंभव है। अतः सन्दिग्धता और असन्दिग्धता के आधार पर किया जाने वाला निरीक्षणात्मक पदों और सैद्धान्तिक पदों का भेद उचित नहीं है। यदि पानी और गिलास जैसी वस्तुओं, जिनके बारे में हमें असन्दिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, के बारे में वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है तो यह दृष्टिकोण उन वस्तुओं और गुणों के बारे में भी अपनाया जा सकता है जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख पाते।

पॉपर ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों के बारे में उपकरणवादी सिद्धान्त की आलोचना करते समय मुख्यतया इस बात पर जोर देने की कोशिश की है कि वैज्ञानिक सदैव अपने सिद्धान्तों को असत्य सिद्ध करने प्रयत्न में लगे रहते हैं परन्तु यह बात एक अर्धसत्य से भी कम है। थॉमस कून[1] ने पॉपर के इन विचारों की बहुत ही कटु आलोचना की है। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह दिखाया है कि अधिकांशतया वैज्ञानिक अपने सिद्धान्तों को अध्ययन के अधिक से अधिक क्षेत्रों में प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें असत्य सिद्ध करने का नहीं। उनके ये सिद्धान्त यदि कहीं-कहीं कुछ क्षेत्रों में असफल भी होते हैं तो भी वैज्ञानिक उन्हें उस समय तक नहीं छोड़ते जब तक कि उनसे बेहतर सिद्धान्तों का आविष्कार या निर्माण नहीं कर लिया जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान की पद्धति के बारे में पॉपर का दृष्टिकोण उचित नहीं

हैं और इसलिये पॉपर ने उपकरणवाद और वस्तुवाद के बीच वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर जो अन्तर करने का प्रयत्न किया है वह भी उपयुक्त नहीं है । दूसरी तरफ हम यदि उपकरणवाद का उद्देश्य केवल गणना के नियमों का निर्माण करना मान लें तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक उपकरणवादी मानसिकता का वैज्ञानिक अपने सिद्धान्तों या उपकरणों को बेहतर बनाने में रुचि नहीं रखेगा अथवा दूसरे बेहतर उपकरणों या सिद्धान्तों का निर्माण हो जाने के पश्चात् अपने पुराने उपकरणों को कम महत्त्व नहीं देगा और उन्हें केवल उन कार्यों के लिए ही नहीं प्रयुक्त करेगा जो कि उसके द्वारा सुविधाजनक ढंग से किए जा सकते हैं । यदि वैज्ञानिक पद्धति के बारे में थॉमस कून का दृष्टिकोण उचित है तो वैज्ञानिकों का अपने सिद्धान्तों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त करने का प्रयत्न करना उपकरणवादी दृष्टिकोण के आधार पर बहुत ही सहजता के आधार पर समझा जा सकता है। एक वैज्ञानिक अपने उपकरणों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त की जा सकने की क्षमताओं का निरीक्षण-परीक्षण करें यह तो पूरी तरह से उचित ही है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पॉपर की उपकरणवादी दृष्टिकोण की आलोचना पूर्णतया असफल रही है ।

इसी प्रकार पॉपर का यह कहना भी उचित नहीं है कि उपकरणवादी दृष्टिकोण के आधार पर नवीन प्रकार के पूर्वानुमानों को नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यदि वैज्ञानिक सिद्धान्त उपकरण हैं तो वे केवल उन कार्यों के लिये ही प्रयोग किये जा सकते हैं जिनके उपयोग के लिए उनका निर्माण किया गया था । हम ऐसा बहुत देखते हैं कि कोई उपकरण जिन कार्यो के उपयोग के लिए निर्मित किया गया था उन कार्यों को तो वह करता ही है, इसके अतिरिक्त, समय के साथ-साथ हम कोई बार यह भी देखते हैं कि उसके द्वारा कुछ अन्य कार्य भी किये जा सकते हैं । यह बिलकुल संभव है कि हथौड़े का उपयोग प्रारम्भ में किसी एक काम जैसे कील ठोकने के लिए किया गया हो, परन्तु हम देखते हैं कि बाद में हथौड़े का उपयोग अन्य अनेक कार्यों जैसे गरम चीजों को पीटकर उनका आकार बदलना, कभी-कभी पेपर दबाना, कभी ताला तोड़ना आदि के लिए भी होने लगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों द्वारा किये जाने पूर्वानुमानों को उपकरणवादी दृष्टिकोण के आधार पर भी समझा जा सकता है ।

अपने उपकरणवाद की आलोचना में पॉपर ने निरीक्षणात्मक पदों और सैद्धान्तिक पदों के बीच में जो अन्तर है, उसके महत्त्व को कम करने का प्रयत्न किया है । उन्होंने 'पानी' और 'गिलास' जैसी वस्तुओं को उसी वर्ग में रखने की कोशिश की है जिसमें इलेक्ट्रॉन, गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें आदि रखे जाते

हैं । यदि कोई सन्देह करने के लिए ही सन्देह करना चाहें तो सैद्धान्तिक बारीकियों के आधार पर वह यह कह सकता है कि 'पानी' और 'गिलास' जैसी वस्तुओं के अस्तित्व के बारे में भी हम पूरी तरह से आश्वस्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनके प्रभावों का परीक्षण करने के बाद भी तार्किक रूप से यह संभव है कि वे वस्तुयें क्रमशः 'पानी' और 'गिलास' न हों, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर हमें कभी भी इस तरह की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता । कभी-कभी यह तो संभव है कि मात्र एक-दो प्रभावों के आधार पर किए गये निर्णय असत्य सिद्ध हो जायें, परन्तु एक उचित संख्या में वस्तुओं के प्रभावों का परीक्षण कर लेने के बाद व्यावहारिक स्तर पर इस बात की संभावना कि, हमारे उन वस्तुओं के बारे में किए गए निर्णय असत्य सिद्ध हों, नगण्य ही हो जाती है । इसके विपरीत दूसरी प्रकार की वस्तुएँ जैसे इलेक्ट्रॉन आदि के अस्तित्व के बारे में कभी भी आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता । इस प्रकार निरीक्षणत्मक पदों और सैद्धान्तिक पदों के बीच एक भूलभूत अन्तर है और इस अन्तर के महत्त्व को कम करने का प्रयत्न उचित नहीं होगा ।

दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–११०००७

अमरेन्द्र प्रताप सिंह

सन्दर्भ

१. अेन्स्र्ट माख; द एनालिसिस ऑफ सेन्सेशन्स; डॉवर पब्लिकेशन्स; न्यूयार्क, १९५९.

२. पियरे ड्यूहेम; द एम एण्ड स्ट्रक्चर ऑफ फिजिकल थियरी; अनु. पी. वीनर; प्रिन्सटन् युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन्, न्यूजर्सी; १९५४.

३. हेनूरी प्वांकारे; साइंस एण्ड हाइपोथिसिस् : डॉवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क, १९५२

४. नील्स बोर; एटामिक थियरी एण्ड डिस्क्रिप्शन ऑफ नेचर; कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस; कैम्ब्रिज, १९३४.

५. वार्नर हाइजेनबेर्ग; फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी, एलेन एण्ड अनविन; लण्दन, १९५९.

६. कार्ल पॉपर; कञ्जेक्चर्स एण्ड रिफ्यूटेशन्स : थ्री व्यूज कन्सर्निंग ह्यूमन नॉलेज, (पृ. १११-१४; बेसिक बुक्स, आई.एन्.सी. पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९६५.

७. वहीं, पृ. ११७.

८. वहीं पृ. ११८-१९.

९. थॉमस एस. कून; स्ट्रक्चर ऑफ साइण्टिफिक रिवोल्यूशन्स; चिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, १९६२

# डॉ. राधाकृष्णन् का मानवतावादी तत्त्वदर्शन

डॉ. राधाकृष्णन् का तत्त्वदर्शन आध्यात्म की चैतना से अनुप्राणित मूलतः एक मानवतावादी दर्शन है । लेकिन मानवतावाद के समकालीन प्रचलित अर्थ में तत्त्वदर्शन के साथ इसकी संगति विचार के लिए एक समस्या को जन्म देती है। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी में ऑगस्त कोन्त के आगमन के पश्चात् मानवतावाद ने जिस रूप और अर्थ को प्राप्त किया है वह मूलतः आधिदैविकता-विरोधी है । इसका संदर्भ मूलतः मानव है । प्रो. एड्वर्ड पी. चेने ने इसकी संपुष्टि में कहा है– यह एक ऐसा दर्शन है जिसका केन्द्र तथा प्रमाण दोनों मानव हैं[1] । इसके आधिदैविकता-विरोधी स्वरूप को सामने लाने के क्रम में इसकी परिभाषा देते हुए *'डिक्शनरी ऑफ़ फिलॉसफी एण्ड साइकोलाजी'* ने कहा है– "यह विचार, विश्वास अथवा कर्म सम्बन्धी वह पद्धति है जो ईश्वर या इस प्रभृति किसी आधिदैवी सत्ता का परित्याग करके मनुष्य तथा पार्थिव संसार पर ही केन्द्रित रहती है[2] ।" *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ब्रिटेनिका* ने भी कहा है कि– मानवतावाद विचार अथवा क्रिया की वह सामान्य पद्धति है जो अलौकिक अथवा गुणात्मक दर्शन की अपेक्षा मानव हित में अभिरुचि रखती है[3] ।

स्पष्ट है कि मानवतावाद के प्रचलित अर्थ में जो केन्द्रभूत रूप से प्रभावी है, वह है तत्त्वदर्शन का प्रतिवाद । मानवतावादियों की दृष्टि में तत्त्व का परिकल्पनात्मक चिन्तन बहिष्करणीय है, क्योंकि यह वास्तविकता से सर्वथा असंपृक्त है । यह वस्तुतः एक अमूर्त भाव-चिन्तन है जहाँ हमारा मस्तिष्क गुदगुदी तो अनुभव करता है लेकिन जिससे हमारी आकांक्षाओं की वास्तविक तृप्ति नहीं हो पाती तथा हमारी जो वास्तविक समस्याएँ हैं उनका समाधान हम नहीं कर पाते । यह सारा चिन्तन मनुष्य की समस्याओं के विषय में कुछ नहीं सोचता, कुछ भी नहीं दिखलाता लेकिन तर्क के आधार पर अपनी बुद्धि से संसार के विषय में चिन्तन कर ऐसे वाक्यालोक में ले जाता है जहाँ मानव तुच्छ [illegible] जाता है तथा ऐसी चीजों महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं जिनके मात्र जानने से हमारी स्थि[illegible]यों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है । इस प्रकार के अमूर्त भाव-चिन्तन के द्वारा सत्य, विशेषकर मानवीय

सत्य, तक पहुँचा नहीं जा सकता । अतः आधुनिक मानवतावादियों का मानना है कि यदि हमें इस सत्य को पकड़ना है, तो इसके लिए हमें सत्य को आत्मसात् करना होगा, क्योंकि विचार के द्वारा खींचा हुआ चित्र सत्य का बनावटी चित्र बनकर रह जाएगा। यही भाव-प्रधान विचार तत्त्वदर्शन करता रहा है । अतः अस्वीकरणीय है ।

डॉ. राधाकृष्णन् की दार्शनिक स्थापनाएँ इस प्रचलित मान्यता के विरूद्ध एक प्रतिवाद है। इनकी तत्त्वदार्शनिक स्थापनाओं में न केवल भारतीय परम्परा के आध्यात्मवाद की संरक्षा है, वरन् इनकी अन्तःचेतना में प्रभावी मानवतावाद का बल भी है। यह तत्त्वदर्शन एक अनूठा तत्त्वदर्शन है, जिसके प्रतिपादन में भारतीय अध्यात्म और मानवता की सांस्कृतिक विरासत को आत्मसात् किया गया है । सत्य यह है कि मानवता की आध्यात्मिक दिशाओं की अभिव्यक्ति इस सजीव एवं सशक्त तत्त्वदर्शन में हुई है । इस अभिव्यक्ति का प्रकाशन ही इस निबंध का अभीष्ट है ।

### राधाकृष्णन् का तत्त्वदर्शन

राधाकृष्णन् का आविर्भाव भारत-भूमि पर हुआ है और स्वयं राधाकृष्णन् ने यह स्वीकार किया है कि इस भूमि पर विकसित तत्त्वदर्शन मूलतः आध्यात्मिक है, जो इतिहास के सारे उथल-पुथल को झेलने के लिए वल प्रदान करता है[1]। निश्चयतः परम्परा के आग्रही इस दार्शनिक की तत्त्वमीमांसा अथवा उनका तत्त्वदर्शन भी मूलतः अध्यात्म के रंग से ही अभिरंजित है । 'सत्य की खोज' इस तत्त्वदर्शन का मूल लक्ष्य है, लेकिन यहाँ ध्यातव्य है कि यह सत्य कोई अयथार्थ, अमूर्त परिकल्पना नहीं है, वरन् यह सत्य मानव-सत्य है– वह सत्य जो जीवन को एक दिशा प्रदान करता है, वह सत्य जो मानव को एक अर्थ और मूल्य प्रदान करता है । अतः सत्य की खोज मानवीय आकांक्षाओं की तुष्टि के हेतु एक आध्यात्मिक आवश्यकता है[2] । प्रत्येक मानव जगत् के अन्तर्निहित हेतु को जानने की मांग करता है, साथ ही वह उस आदर्श अथवा मूल्य को जानने की भी इच्छा रखता है जो उसके जीवन का पथ-निर्धारण कर सके । तत्त्वदर्शन के द्वारा इस मांग की पूर्ति होती है । अतः राधाकृष्णन् यहाँ आधुनिक युग में प्रभावी उस तत्त्वदर्शन-विरोधी प्रवृति के विरुद्ध हैं, जो आधुनिक वैज्ञानिक मानवतावाद के माध्यम से मानवतावादी दर्शन को प्रभावित किए हुए है । जैसाकि हम ऊपर कह आए हैं कि दर्शन को मानव-केन्द्रित करने के प्रयास में एवं साथ ही यह मानकर कि तत्त्वदर्शन अनुभवातीत सत्त्वों की मीमांसा है, आधुनिक वैज्ञानिक मानवतावाद तत्त्वदर्शन की अनुपयोगिता को प्रतिपादित कर अपने को तत्त्व-दर्शन-विरोधी के रूप में प्रस्तुत

करता है । यहाँ हमें ध्यान रखना होगा कि तत्त्वदर्शन अनुभवातीत सत्त्वों की अमूर्त परिकल्पना मात्र नहीं है, बल्कि इसकी परिकल्पना में अनुभूति एवं अनुभूत यथार्थता का समावेश रहता है और इस समावेशन के लिए यह अनानुभविक जगत् तक अपने क्षेत्र का विस्तार करता है । अतः राधाकृष्णन् की दृष्टि में तत्त्वदर्शन की अपरिहार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– "सवाल यह नहीं है कि एक तत्त्वदर्शन की जरूरत है अथवा नहीं, क्योंकि हम सबके पास एक न एक तत्त्वदर्शन तो है ही । प्रश्न तो यह है कि इसको एक अपरीक्षित एवं कुछ-कुछ अनजाने ही आ जाने वाला तत्त्वदर्शन होना है या एक व्यवस्थित विचार-सरणि जिसको जान-बूझ कर पाने की कोशिश की जाती है[६] ।"

राधाकृष्णन् का तत्त्वदर्शन सत्य को जानने का एक सचेतन प्रयास है । सत्य, जो सत् अथवा यथार्थ के अर्थ में प्रयुक्त है, वही समस्त वास्तविक एवं अस्तित्ववान् तत्त्व का मूल आधार है । इस सत् के सम्बन्ध में अपनी दार्शनिक दृष्टि को अर्जित करने में राधाकृष्णन् मूलतः दो प्रवृत्तियों से संचालित रहे हैं– एक तो अपने समय में प्रभावी प्रकृतिवाद का विरोध तथा दूसरी अध्यात्म की प्रतिष्ठा । इस प्रतिष्ठा के पीछे मुख्य रूप से इनका मानवतावादी झुकाव प्रभावी रहा है । इसे निम्न विवेचन से स्पष्ट किया जा सकता है :

### प्रकृतिवाद का विरोध

प्रकृतिवाद एक विश्व-दृष्टि है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल सत् प्रकृति है । प्रकृति निरंतर परिवर्तनशील है एवं समस्त पुद्गल और शक्ति इसी प्रकृति के विभिन्न अंग हैं । यह प्रकृति कोई दैवी शक्ति नहीं, अपितु समस्त निर्जीव वस्तुओं एवं सजीव प्राणियों की महान् समष्टि है । विश्व की व्याख्या में किसी अतिप्राकृतिक तत्त्व की कल्पना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विश्व की व्याख्या तो प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर हो जाती है ।

तत्त्वदर्शन का विरोध करने के बावजूद, अनीश्वरवाद के पोषण में, वैज्ञानिक मानवतावाद की विश्व-दृष्टि का सर्जन इन्हीं प्रकृतिवादी मान्यताओं के आधार पर हुआ है । इसी के आधार पर यह इस तथ्य के प्रतिपादन में सफल हुआ कि मानव जगत् की समस्त नैसर्गिक प्रक्रियाओं में ईश्वर अथवा किसी अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति की बात करना निरर्थक है । मनुष्य प्रकृति कें अन्दर है, अतः इसकी उत्पति और विकास की व्याख्या प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर ही होती है ।

राधाकृष्णन् ने प्रकृतिवाद का विरोध किया है, क्योंकि इनके विचार में, प्राकृतिक

व्याख्याएँ काल की वास्तविकता के पूर्वाग्रह पर आधृत होती हैं। यह व्याख्या कालस्थित तत्त्वों तक ही सीमित हो जाती है। इस व्याख्या से यह दृष्टिगत नहीं होता कि 'काल' से परे जाया भी जा सकता है। सत्य यह है कि यह व्याख्या जगत् को एक स्वचलित मशीन बना देती है जो यन्त्रवत् बिना दिशा या ज्ञान के चलता रहे। यह कालिक जगत् का आधार अचेतन तत्त्वों को बना देता है तथा चेतना को भी उन्हीं तत्त्वों का उपोत्पाद या उपफल मान लेता है। इस कारण यह मान लेता है कि जगत्-मशीन की जानकारी इसके विभिन्न अंगों एवं भागों की जानकारी पर आधृत है"। राधाकृष्णन् के विचार में इस प्रकार से दी गयी व्याख्या न तो व्याख्या हो सकती है और न ही यह सत् का विचार ही स्थापित कर पाती है। इनके अनुसार व्याख्या अन्धी नहीं हो सकती। अतः जहाँ विश्व-प्रक्रिया का कोई दिशा-निर्देश ही नहीं हो वहाँ व्याख्या देने की बात नहीं की जा सकती। अतः प्रकृतिवाद को स्वीकार नहीं किया जात सकता।

प्रकृतिवादी व्याख्याओं की स्पष्ट अयथेष्टता के अपने बोध के द्वारा ही राधाकृष्णन् ने व्याख्या की सूक्ष्मता में प्रवेश किया एवं सत् के विचार तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की है। इनके अनुसार सत् वही हो सकता है जो विश्व की समर्थ व्याख्या कर सके तथा अपने में स्वतः स्पष्ट हो। इनके विचार में भौतिक जगत् में ऐसा कुछ नहीं है जो दूसरी शर्त को पूरा कर पाए, कुछ ऐसा नहीं है जो अपनी व्याख्या आप ही कर दे। भौतिक जगत् में तो एक भौतिक तत्त्व की व्याख्या दूसरे भौतिक तत्त्व से होती है, किन्तु सम्पूर्ण भौतिक जगत् की व्याख्या का कोई साधन भौतिक जगत् में उपलब्ध नहीं है। इस कारण सत् के विचार के लिए भौतिक जगत् से परे जाना आवश्यक हो जाता है और साथ ही साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि सत् के स्वरूप को भौतिक तत्त्वों के स्वरूप से भिन्न समझा जाए। इसीलिए राधाकृष्णन् ने निश्चितता के साथ यह अभिकथन किया है कि सत् के विचार के लिए हमें अध्यात्म में प्रवेश करना होगा।

### आध्यात्म की प्रतिष्ठा

आध्यात्म की प्रतिष्ठा राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन का भावात्मक पक्ष है। प्रकृतिवाद के विरोध में राधाकृष्णन् ने यह स्पष्ट किया कि जगत् एक यन्त्रवत् चलने वाली अन्धी मशीन नहीं है, बल्कि यह एक लक्ष्य की ओर प्रेरित है। दूसरे शब्दों में, जगत्-प्रक्रिया कोई अबौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि इसमें एक आदर्श-प्राप्ति की उन्मुखता है। यही आदर्श अध्यात्म की स्वीकृति है, और इसी अध्यात्म की प्रतिष्ठा के द्वारा अपनी मानवतावादी आकांक्षाओं की पूर्ति राधाकृष्णन् का लक्ष्य है।

एक बात स्पष्ट हो चुकी है कि राधाकृष्णन्‌के इस तत्त्व-दर्शन का लक्ष्य सत्य (जो यहाँ सत् के भाव में प्रयुक्त हुआ है) की खोज है । उनका सम्पूर्ण अध्यात्म दर्शन इसी सत्य अर्थात् सत् की व्याख्या से अनुप्राणित है । अतः यहाँ उनके सत् की अवधारणा एवं इसमें निहित मानवतावादी तत्त्वों को स्पष्ट करना होगा ।

सत् की अवधारणा : ब्रह्म एवं ईश्वर

राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन में सत् की प्रस्तुति जगत् के तार्किक आधार अथवा तार्किक मान्यता के रूप में हुई है । अस्तित्व की समस्त विधाओं, व्यवस्था, प्रयोजन एवं विकास के ढंग की व्याख्या के लिए, इनके अनुसार कोई मूल आधार का होना अनिवार्य है, अन्यथा इसकी व्यापकता की कोई सार्वभौम व्याख्या संभव नहीं हो सकती । यही मूलाधार सत्य है । इनके ही शब्दों में–

"यह अस्तित्व है क्यों? किसी भी वस्तु की सत्ता ही क्यों है? यदि सब वस्तुयें विलुप्त हो जाएँ तब पूर्ण शून्यता रह जायगी । यदि वह शून्यता व्यवस्थित न करती या उसमें स्वयं अस्तित्व की सम्भावना न होती तो किसी भी वस्तु की अपनी सत्ता न होती । संसार का अस्तित्व अपूर्ण एवं अस्थिर है और जो कुछ भी अपूर्ण है, वह स्वयं अपने आप या अपने सहारे नहीं रह सकता, क्योंकि जिस सीमा तक वह अपूर्ण है उस सीमा तक वह अस्तित्वरहित है । उपनिषदें हमे संसार के इस अपूर्ण अस्तित्व से सर्वोच्च एवं परिपूर्ण अस्तित्व की ओर ले जाती हैं.... संसार के अस्तित्व का अर्थ है– सत् की प्राथमिकता[८] ।"

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में सत् की व्याख्या में दो सत्ताओं की चर्चा हुई है– एक ब्रह्म तथा दूसरा ईश्वर । राधाकृष्णन् ने भी भारत की इस परम्परा को अपने दर्शन में अंगीकार करते हुए ब्रह्म तथा ईश्वर को सत् रूप में प्रतिष्ठित किया है । लेकिन क्या इस प्रतिष्ठा से इनका दर्शन तार्किक असंगति का शिकार नहीं बन जाता? क्या इनकी प्रतिष्ठा से मानवतावादी लक्ष्यों पर आघात नहीं पहुँचता, क्योंकि मानवतावाद मनुष्य को सर्वोच्च सत् के रूप में प्रतिष्ठित कर किसी भी अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति अविश्वास प्रकट करता है । हमारे वर्तमान विवेचन में ये दोनों ही प्रश्न महत्त्व के हैं, और इन्हीं प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ हम राधाकृष्णन् की संगति अथवा असंगति को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे ।

सर्वप्रथम, शांकर अद्वैत वेदान्त के प्रभाव में राधाकृष्णन् ने सत् के लिए 'ब्रह्म' के सम्बोधन का प्रयोग किया है, लेकिन साथ ही अपने ऊपर पड़े हेगेल के प्रभाव के कारण इन्होंने सत्ता के लिए 'निरपेक्ष' शब्द का भी प्रयोग किया

है। इनके तत्त्वदर्शन का लक्ष्य था भारतीय परम्परा में प्रभावी एकवाद का संपोषण, और इसी लक्ष्य से संचालित होकर इन्होंने माना कि ब्रह्म विश्व का मूल सत् है,जो निरपेक्षत: एक है तथा सम्पूर्ण संसार इसी एक सत् की अभिव्यक्ति है। यह मूलत: आध्यात्मिक सत्ता है। यंह एक सर्वव्यापी सत्ता है। यह अव्यक्त है। इसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती।

प्रश्न उठता है कि क्या ब्रह्म की यह स्वीकृति मानवतावादी आदर्शों को खंडित नहीं करती? निश्चयत: जो सत् मानव-पकड़ से परे है उसकी मानव-जीवन में कोई उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। संभवत: राधाकृष्णन् को इस कठिनाई का अहसास था, और यही कारण है कि एक तरफ तो इन्होंने ब्रह्म के लिए उन्हीं सम्बोधनों को संभव माना जिनसे उनकी मानवतावादी आकांक्षाओं की तुष्टि हो एवं साथ ही दूसरी तरफ को आधार बना कर मनुष्य को ब्रह्म के स्तर तक आरोहित कर मानवतावाद के आदर्शों को संरक्षित रखने का प्रयास किया है। इनके अनुसार यह ठीक है कि ब्रह्म अवर्णनीय है, फिर भी इन्होंने इसके लिए कुछ भावात्मक एवं निषेधात्मक लक्षणों को स्वीकार किया है। इनमें से कुछ भावात्मक लक्षण हैं– ब्रह्म समस्त पूर्णताओं की समग्रता है, यह आत्मा है, यह निरपेक्षत: स्वपर्याप्त है, यह असीम एवं अनन्त है। इसके निषेधात्मक लक्षण हैं– यह प्रत्येक निर्धारण से मुक्त है, यह अविश्लेष्य और अखंडित है। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रस्तुत उपर्युक्त अभिव्यक्तियों में से अधिकांश मानव के संदर्भ में भी सत्य होते हैं– केवल 'असीम' और 'अनन्त' को छोड़ कर। मनुष्य भी जैवकीय समायोजित पूर्णता है जिसमें अपने हितों को देखने की अद्भुत क्षमता है, तथा इन सभी के ऊपर एक पूर्णता के रूप में वह भी आन्तरिक अविच्छेद्य है क्योंकि इसके जैवकीय अंश एकस्वरता में काम करते हैं। अत: राधाकृष्णन् का ब्रह्म मानव-पकड़ से बाहर कोई अमूर्त परिकल्पना नहीं है, वरन् यह वह सत् है जिससे मानवतावादी भावनाओं की तुष्टि होती है। पुनः राधाकृष्णन् के द्वारा मानवतावादी भावनाओं की तुष्टि में जिस सत्य को बलवान् रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, वह है जीवात्मा और ब्रह्म का एकत्व। उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' जैसे सूत्रवाक्यों से मार्ग निर्देश प्राप्त कर इन्होंने यह स्पष्ट किया कि ब्रह्म और जीवात्मा एक ही चैतन्य है[१०]। इस एकत्व के आदर्श में ही मानव शाश्वत का अपने जीवन में, अनन्त का अपने प्रेम में साक्षात् अनुभव करता है। राधाकृष्णन् की दृष्टि में एक एकत्व व्यक्तिनिष्ठ कल्पना या स्वप्न मात्र नहीं है, वरन् एक स्फूर्तिदायक सत्य है[११]। यही शाश्वत की चेतना जीवन को अर्थ प्रदान करती है, क्योंकि यदि यह चेतना नहीं है तो जीवन का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता।

राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन की विवादास्पद विशेषता है ब्रह्म के साथ ही साथ

ईश्वर की स्वीकृति। विवादास्पद इसलिए कि समीक्षकों की राय में ईश्वर की यह स्वीकृति न केवल शुद्ध तत्त्वमीमांसीय भाव से असंगत है, वरन् मानवतावादी दृष्टिकोण से भी इसकी संगति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मानवतावाद मानव-केन्द्रित दर्शन है जिसके लिए सर्वोच्च सत्ता स्वयं मनुष्य ही है। अब ऐसी स्थिति में ईश्वर के रूप में किसी अति-प्राकृतिक सत्ता की स्वीकृति निश्चयत: इस दर्शन की मूल भावना पर चोट पहुँचाएगी। यही कारण है कि अपनी मानवतावादी-भावनाओं की संरक्षा में आधुनिक (वैज्ञानिक) मानवतावाद अपने को निरीश्वरवादी रूप में प्रस्तुत करता है। क्या राधाकृष्णन् ने ईश्वर को स्वीकृति प्रदान कर अपने को असंगत बना ड़ाला है? विवेचन के क्रम में सबसे पहले पहली आपत्ति को लें कि ब्रह्म की स्वीकृति के साथ ईश्वर की स्वीकृति व्याघात को जन्म देती है? इसे स्पष्ट करने के पूर्व हमें कुछ तथ्यों को प्रकाश में लाना होगा।

धार्मिक मनोवृत्ति से संचालित होकर राधाकृष्णन् ने ईश्वर को स्वीकृति प्रदान करते हुए इसे ब्रह्म की क्रियात्मक एवं सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इनके अनुसार सृष्टि के पीछे एक सृजनात्मक शक्ति है। यही सृजनात्मक शक्ति विश्व का स्रष्टा है, और यह स्रष्टा ईश्वर है। अत: राधाकृष्णन् के अनुसार ईश्वर ब्रह्म से पृथक् भिन्न अथवा ऊपर की सत्ता नहीं है, वरन् यह तो ब्रह्म का ही एक पक्ष– सृजनात्मक पक्ष है। मूल सत् ब्रह्म है, लेकिन सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड के संदर्भ में यही ईश्वर रूप में प्रस्तुत होता है–

"सर्वोच्च सत्ता को जब हम ब्रह्माण्ड से पृथक् करके देखते हैं, तो उसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं, और जब उसे ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध रूप में देखते हैं तो उसे ईश्वर कहते हैं। पूर्ण ब्रह्म ईश्वर की ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पहले की प्रकृति है, और ईश्वर ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण से पहले पूर्ण ब्रह्म का रूप है"।

लेकिन क्या शुद्ध तत्त्वदार्शनिक भाव में बिना किसी व्याघात के ब्रह्म और ईश्वर दोनों को सत् रूप में स्वीकृति दी जा सकती है? यदि राधाकृष्णन् के साथ सृष्टि-कार्य के उद्देश्य से ईश्वर को ब्रह्म का एक पक्ष मान लिया जाता है, तो वैसी स्थिति ब्रह्म में स्वगत भेद की उत्पत्ति होगी, और इस उत्पत्ति से निश्चयत: परम सत् के अद्वैतवादी स्वरूप पर गहरा आघात लगेगा। शुद्ध एकतत्त्ववाद के प्रबल प्रतिपादक शंकर को निश्चयत: इसकी अभिज्ञा थी, और यही कारण है कि अपने अद्वैतवादी दर्शन में इन्होंने दृष्टिभेद-पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि के भेद-का प्रतिपादन किया, जिसके बल पर इन्हें ईश्वर को केवल व्यवहारिक सत् के रूप में प्रतिष्ठित करने का मार्ग प्राप्त हुआ एवं साथ ही अपने शुद्ध एकत्ववाद की संरक्षा में इस तथ्य को भी प्रतिपादित करने का मार्ग प्राप्त हुआ कि पारमार्थिक दृष्टि में ईश्वर भी नहीं है।

राधाकृष्णन् शंकर के इस विचार से सहमत नहीं हैं। लेकिन क्या इनकी यह असहमति इनके जैसे नव्य-वेदान्ती को असंगत नहीं बनाती? निश्चय ही राधाकृष्णन् नव्य-वेदान्ती हैं। वे शंकर मत के पोषक और व्याख्याकार भी हैं, किन्तु उसके अन्ध-उपासक या कट्टरपन्थी पुजारी नहीं हैं। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद के केंन्द्रीय सत्य को सर्वोच्च और स्वत:सिद्ध मानते हुए उसकी व्याख्या इस तरह से की कि वह वैज्ञानिक मनस् के लिए सुगन्ध हो गयी है। वस्तुत: इनके दर्शन का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है और वह है, वर्तमान आवश्यकतानुसार दर्शन को संवारना। सत् की अवधारणा को स्पष्ट करने एवं उसे वैज्ञानिक चेतना से युक्त करने का इनके द्वारा श्लाघनीय प्रयास हुआ है। एकवाद इनका दायधन था जबकि इनका पालन-पोषण वैज्ञानिक परिवेश में हुआ। व्यापक अध्ययन, गहन चिन्तन, मनन और अन्तर्दृष्टि ने इनकी समन्वयात्मक प्रबुद्ध दार्शनिक चेतना को परिपक्व बना दिया था। इन्होंने ब्रह्मवाद का सफल और अभिनव अनुज्ञान दिया। ब्रह्म और ईश्वर के बीच जो पारदर्शिता इन्होंने देखी, वह उनकी अपनी देन थी। ब्रह्म और ईश्वर मूलत: भिन्न नहीं हैं। उनकी भिन्नता जातिगत नहीं, श्रेणिगत है। दोनों में विरोध देखना, एक को सत्य दूसरे को मिथ्या कहना असंगत है। सत्य यह है कि राधाकृष्णन् के दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर का स्वरूप वह सारतत्त्व है जिसमें तात्त्विक सत्य से लेकर व्यावहारिक सत्य तक का समावेश हो जाता है।

राधाकृष्णन् के अनुसार आज की वैज्ञानिक चेतना उस सत्य को ग्रहण कर सकने में असमर्थ है, जो विशुद्ध तात्त्विक है अथवा जो जीवन की विविधांगी व्याख्या एवं जगत् की गत्यात्मकता पर प्रकाश डालती है। वैज्ञानिकों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने विश्व-परिवर्तन और विकास को सिद्ध कर विकासवाद की प्रमाणिकता स्थापित की। तबसे जीवन से सम्बन्धित कोई भी सिद्धान्त जीवन के विकासात्मक पक्ष की अवहेलना नहीं कर पाया है। राधाकृष्णन् स्वीकार करते हैं कि जीवन एक विकास क्रम है। प्रारम्भ और आदि अज्ञात है, हम केवल मध्य जानते हैं जो परिवर्तन की स्थिति में है। राधाकृष्णन् का कहना है कि जगत् का परिवर्तनशील स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट है। किन्तु क्या विज्ञान उसके आंतरिक प्रयोजन पर प्रकाश डाल सकता है? उनका कहना है कि जगत् के अन्तर्निहित हेतु और धार्मिक चेतना की मांग को वैज्ञानिक नहीं समझा सकता है। यह ठीक है कि विकास के सिद्धान्त ने सभी को समान भाव से आकर्षित किया है। दर्शन के लिए भी यह एक महत्त्वपूर्ण आकर्षण है। जगत् के आदि एवं उद्गम पर दार्शनिक ने मनन किया है, तथा सभी ने मनन किया है कि जगत् की उत्पत्ति का क्या कारण है? यदि जगत् का कारण अपरिवर्तनशील ब्रह्म है, तो जगत् में परिवर्तन कैसे है? कार्य और कारण भिन्नधर्मी कैसे हो सकते हैं? यदि ब्रह्म स्थैतिक

है तो जगत् को भी स्थैतिक होना चाहिए। जगत् के विकास-क्रम को तभी समझ सकते हैं जब उसका आधार सत्य गत्यात्मक हो। राधाकृष्णन् के अनुसार गतिहीन और गति का भेद कालातीत और काल का भेद है। यदि कालातीत सत्य है तो काल असत्य और यदि काल सत्य है तो कालातीत असत्य है। कालातीत और काल का भेद मनुष्य-स्वभाव के अभिन्न किन्तु बाध्यतः विरोधी तत्त्वों की उपज है। बुद्धि और हृदय एवं चिन्तन और भावना ने ही कालातीत और काल की धारणा को अपनाया है। इन विरोधी धारणाओं एवं मानव-स्वभावजन्य अधिकारों की पूर्ति के लिए ही राधाकृष्णन् ने ब्रह्म तथा ईश्वर दोनों को ही मानव-जीवन में प्रतिष्ठित किया है।

राधाकृष्णन् के द्वारा ईश्वर की प्रतिष्ठा के पीछे एक मानवतावादी कारण भी है। राधाकृष्णन् को इसका ज्ञान था कि मनुष्य की कुछ मौलिक आकांक्षाओं की पूर्ति होना अभी बाकी है, और यह पूर्ति अमूर्त ब्रह्म की अवधारणा से नहीं हो सकती। इनको इसकी भी अभिज्ञा थी कि कोई भी तत्त्वमीमांसीय व्यवस्था, चाहे वह कितनी ही सुगठित क्यों न हो, इन मानवीय आकांक्षाओं की अवहेलना कर अन्ततः किसी भी मूल्य की नहीं रह जाती। ईश्वर मानव की उच्च आकांक्षा को यथार्थ करने वाले रूप का प्रतीक है। अतः इसकी अवहेलना कर दार्शनिक दृष्टि की सार्थकता को प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

लेकिन तब ऐसी स्थिति में उस निरीश्वरवादी मनोवृत्ति के विषय में क्या कहा जाएगा जो आधुनिक (वैज्ञानिक) मानवतावादी विचारकों के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है? सर्वप्रथम हमें इस मनोवृत्ति को स्पष्ट करना होगा। सर्वेक्षण के क्रम में हम पाते हैं कि इन मानवतावादी दार्शनिकों के बीच कुछेक के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह प्रकट किया गया है, तो कुछेक ने यह माना है कि ईश्वर के ज्ञान का हमें कोई वैध साधन उपलब्ध नहीं है। लेकिन अधिकांश विचारक केवल यह सोच कर कि उनकी केन्द्रीय समस्या मनुष्य है, अपने को जान-बूझकर ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न को लेकर किसी तार्किक विवाद में उलझाना नहीं चाहते। इन विचारकों का दार्शनिक बल मनुष्य के उत्थान के विचार पर संकेन्द्रित है, तथा इस क्रम में इस तथ्य को प्रतिष्ठित करने पर संकेन्द्रित है कि मनुष्य अपना उत्थान एवं साथ ही अपनी भवितव्यता का निर्धारण स्वयं ही कर सकता है। स्वाभाविक रूप से तब इनके लिए ईश्वर की चर्चा कोई अर्थ नहीं रखती और यही कारण है कि ये ईश्वर की चर्चा में सहभागी होना पसन्द भी नहीं करते। अब इस मनोवृत्ति को क्या कहा जाएगा? यह न तो तर्क-बौद्धिक निरीश्वरवाद है, न समीक्षात्मक निरीश्वरवाद और न ही रूढिवादी निरीश्वरवाद। इसका विश्वास न तो ईश्वर की सत्ता को खंडित करने में हैं (और इसलिए यह समीक्षात्मक

निरीश्वरवाद नहीं हैं) और न ही यह अयुक्तिपूर्ण ढंग से यह सिद्ध करता है कि 'ईश्वर नहीं है' (और इस प्रकार रूढिवादी नहीं है)। वास्तव में यह तो ईश्वर से वियुक्त है । इसे ईश्वर की कोई जरूरत महसूस नहीं होती । यह मानव को केवल मानव रहने के लिए कहता है । इसकी अनुशंसा है कि व्यवहारिक जीवन ईश्वर के विना ही पूर्णत: पर्याप्त है । इस रूप में यह मनोवृत्ति सिद्धान्तत: निरीश्वरवादी नहीं वरन् व्यावहारिकत: निरीश्वरवादी है ।

राधाकृष्णन् इस व्यावहारिक निरीश्वरवाद से कतई सहमत नही हैं । इनका विश्वास है कि मनुष्य से भी बढ़कर एक आत्मिक सत्ता है । मनुष्य का लक्ष्य है कि इस सर्वव्यापक सत्ता के साथ अपनी एकात्मता स्थापित करना'[13] । इसी एकात्मकता की दृष्टि में इन्होंने कहा है कि हम एक सर्वव्यापी आत्मा के अंग हैं, वह हममें दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होती है'[14] । इनके अनुसार वह अन्य कुछ हो अथवा न हो, लेकिन इतना अवश्य है कि वह मानव में स्थित आत्मा है । यही हमारे सत् का मूल सार है । *धर्म और समाज* में इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– "ध्यान का लक्ष्य सर्वोच्च ईश्वरत्व है, जो बिल्कुल सही अर्थ में वर्णनातीत है । वह सब रूपों से परे है, कोई उसे आँखों से नहीं देख सकता । उसकी किसी मी सुनिर्दिष्ट या अनुभवगम्य वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती । हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह आत्मा ही सबका शासक है, सबका स्वामी है'[15] ।

ईश्वर परम आध्यात्मिक सत् है, लेकिन साथ ही यह आध्यात्मिक सत् किसी न किसी रूप में मानव-आत्मा है जो इस स्तर तक ऊर्ध्वगमित होता है । राधाकृष्णन् के अनुसार यही जीवन का मौलिक सत्य है, और यदि इस मौलिक सत्य से अनभिज्ञ होकर कोई मनुष्य किसी दूसरे देव की पूजा-उपासना करता है, यह सोचते हुए कि वह एक है और उपास्य देव दूसरा, तब वास्तविकता यह है कि वह सत्य को जानता ही नहीं'[16] । प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यह अमर तत्त्व विद्यमान है, और यदि उसे अपने अन्दर विद्यमान इस अमरतत्त्व का ज्ञान नहीं है, तो वैसी स्थिति में वह कर्म के ड़ौर में बंधा एक ऐसी कठपुतली है जो अदृश्य शक्तियों के धक्कों से इधर-उधर झटके खा रहा है । यदि वह अपने अन्दर स्थित इस सार्वभौम आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसके कार्य भी स्वतंत्रता की एक नये पृष्ठभूमि में क्रियान्वित होने लगते हैं'[17] । राधाकृष्णन् के अनुसार 'दीन से दीन व्यक्ति में भी आत्मा की यह चिनगारी विद्यमान रहती है, जिसे शक्तिशाली से शक्तिशाली साम्राज्य भी कुचल नहीं सकते हैं । हम सबका मूल एक ही जीवन है, और हम सब एक ही सत् के अंश हैं, अमरता के पुत्र, 'अमृतस्य पुत्राः' । इन आनन्दहीन दिनों में हमें अपने मनों को सब युगों के श्रेष्ठ पुरुषों

के महान् वचनों और वीरत्वपूर्ण कार्यों द्वारा सबल बनाना चाहिये । संभव है कि ऐसा प्रतीत हो कि हम इस समय पराजय के काल में हैं, परन्तु यह पराजय भी गौरव और इच्छा की तीव्रता से शून्य नहीं है । मनुष्य की भावना के चिरस्थायी ईश्वरतत्त्व में विश्वास ही वह प्रकाश है, जिसके सहारे हम मृत्यु की छाया की घाटी तक में बिना लड़खड़ाए चलते रह सकते हैं।[१८] ।

राधाकृष्णन् की यह उद्भावना इस तथ्य का स्पष्ट परिचायक है कि मानवतावादी भावनाओं की तुष्टि में इन्होंने न केवल ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार किया है, वरन् इसकी अपरिहार्यता को माना है । यह ईश्वर मानव से युक्त कोई अलग सत्ता नहीं है, बल्कि इसकी सत्ता तो उसके साथ एकत्व में ही निहित है ।

वस्तुतः राधाकृष्णन् अपनी मानवतावादी प्रवृत्ति से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने यह भी मान लिया है कि मनुष्य ईश्वर से भिन्न सत् नहीं है, क्योंकि स्वयं मनुष्य में ही वह असीमता छिपी हुई हैं, जो ईश्वर में विद्यमान है । वस्तुतः यह मानवीय लक्षण ही है, जो ईश्वर में व्यक्त होता है । इस अवधारणा से राधाकृष्णन् के दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है– एक तो इसके बल पर वे मनुष्य एवं ईश्वर की तादात्म्यता को स्थापित करने में सफल हुए हैं तथा दूसरी तरफ इस तथ्य को प्रदर्शित करने में सफल हुए हैं कि दोनों भिन्न भी हैं– इस अर्थ में कि एक में यह असीमता अभी गुप्त है, जबकि दूसरे में यह व्यक्त हो चुकी है । वर्षों पुरानी बीज तथा वृक्ष की उपमा इस तथ्य को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त कर सकती है । बीज तथा वृक्ष दोनों ही मूलतः एक हैं, क्योंकि वह शक्ति जो वृक्ष में व्यक्त हुई है, वही मूलतः बीज में निहित थी । लेकिन वे दोनों भिन्न हैं इस अर्थ में कि बीज में विद्यमान शक्ति साक्ष्य रूप में है, जबकि वृक्ष में पूर्णतः व्यक्त । ठीक इसी प्रकार मनुष्य की असीमता छिपी हुई है लेकिन यही असीमता ईश्वर में व्यक्त है । अतः राधाकृष्णन् के अनुसार ईश्वरत्व मनुष्य में ही विद्यमान है । इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– हमारे अन्दर शाश्वत् का जो विचार विद्यमान है, उसका कारण वास्तव में वह शाश्वत ही है, जो हमारे अन्दर विद्यमान है, यही हमें, हम जो अभी हैं, से अधिक आदर्शवान् एवं परिष्कृत बनने के लिए प्रयास करने को प्रेरित करता है[१९] । इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की गुप्त शक्यताएं हैं, तथा प्रत्येक व्यक्ति ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि शाश्वत् जीवन प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है[२०] । इन्होंने बल देकर कहा है कि मनुष्य केवल वही नहीं है, जो वह दिखलाई देता है[२१] । मनुष्य तो वह है जिससे परमात्मा के समान बनाया गया है, उसकी अपनी प्रतिभा के रूप में। विशाल ब्रह्माण्डीय भावना मनुष्य के अन्दर साकार हुई है[२२] । इनके अनुसार तो मानव एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है, जो जगत् के सम्पूर्ण स्तरों–खनिज, उद्भिज, प्राणिज,

मानवी एवं आध्यात्मिक का सम्मिलन है । शक्तियाँ प्रच्छन्न रूप से उसमें विद्यमान हैं, तथा जगत् अपना सर्जनात्मक उपक्रम उसके द्वारा जारी रखे हुए है । अब उसे अपने जगत् को और अपने को सर्जनात्मक रूप देना है[२३] ।''

सारांशत: कहा जा सकता है कि इस तत्त्वदर्शन का उद्देश्य है सत् की खोज। सत् की इस खोज में निरपेक्ष ब्रह्म और ईश्वर की अवधारणा के बल पर यह तत्त्वदर्शन अमूर्त एकत्ववाद और ईश्वरवादी विश्वासों के बीच एक संतुलन बनाए रखने का प्रयास प्राप्त होता है, लेकिन इस प्रयास में भी जो मूल भावना प्रभावी है, वह है राधाकृष्णन् की मानवतावादी भावना । इसी भावना की संतुष्टि में इन्होंने माना है कि जिसे उन्होंने ब्रह्म तथा ईश्वर कहा है वह वास्तव में उस मूल चैतन्य से अपृथक् अथवा अभिन्न नहीं है, जो मानवात्मा में स्थित है । अत: मानव ईश्वर का ही एक अंश है, उससे पृथक् अथवा भिन्न नहीं । यह मानव की उदात्त गरिमा को प्रतिष्ठित करने के राधाकृष्णन् के मानवतावादी लक्ष्य का स्पष्ट परिचायक है । यह ठीक है कि आध्यात्मिक मान्यताओं की संरक्षा में राधाकृष्णन् ने माना है कि मानव का ईश्वर के साध एकात्म होना है, लेकिन साथ ही मानवतावादी भावना की संरक्षा में इन्होंने यह भी माना है कि इस एकात्मता के पहले मनुष्य को मनुष्य के साथ एकात्म होना है । यह एकात्मता मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है, क्योंकि सभी मानव एक ही सर्वव्यापी आत्मा के अंश हैं, और वही हम सबमें ईश्वरीय स्फुलिंग के रूप में विद्यमान है । स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् का यह तत्त्वदर्शन अपनी मानवतावादी भावनाओं के आधार पर मानव-मानव के बीच विभेद की गहरी खाई उत्पन्न करने वाली अमानवीय प्रवृत्ति के विरुद्ध एक सशक्त मानवतावादी उद्घोष के रूप में सामने आया है ।

राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन की उपलब्धियाँ

मानवतावादी दृष्टिकोण से इस तत्त्वदर्शन की अपनी कुछ विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं । सर्वप्रथम आज के युग में प्रचलित यह उस मानवतावादी भावना को एक करारा उत्तर देता है, जो तत्त्वदर्शन और मानवतावाद दोनों को दो छोर का विषय मानकर तत्त्वदर्शन के पूर्ण बहिष्कार की मांग करता है । राधाकृष्णन् के लिए सार्थक मानवतावादी भावनाओं की संरक्षा के लिए तत्त्वदर्शन न केवल आवश्यक है वरन् अपरिहार्य भी, शर्त केवल इतनी है कि इस तत्त्वदर्शन को मानवतावादी आकांक्षाओं की बुनियाद पर अवस्थित होना चाहिए । अपने तत्त्वदर्शन की प्रस्तुती में राधाकृष्णन् ने सफलतापूर्वक इस शर्त की पूर्ति की है, क्योंकि हमने देखा कि उनका यह तत्त्वदर्शन वास्तव में मानव की बुनियादी एकता की भावना की नींव पर अवस्थित है ।

पुनः, राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन की दूसरी उपलब्धि जगत् की स्थिति के प्रति इसका सकारात्मक दृष्टिकोण है। प्राचीन आध्यात्मिक मान्यताओं के विपरीत, मानवतावादी आकांक्षाओं की पूर्ति में, राधाकृष्णन् ने न केवल जगत् की यथार्थता को स्वीकार किया है, वरन् साथ ही इसे मानव-उत्थान के आदर्श कर्म-क्षेत्र के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है। इन्होंने स्पष्टतः माना है कि जगत् एक कार्य-स्थल है तथा शरीर ईश्वरीय मन्दिर। अतः किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। यह जगत् वास्तव में अस्तित्व का स्रोत तथा संभवन् (बिकमिंग) का क्षेत्र है। यह वह स्थान है जहाँ मानव को अपने जीवन का अर्थ समझने का अवसर प्राप्त होता है। यहीं मानव अपने कर्म के द्वारा अपनी नियति का निर्धारण करता है।

राधाकृष्णन् के तत्त्वदर्शन की जो तीसरी उपलब्धि सामने आती है, वह है विज्ञान के साथ इसका सामंजस्य। आध्यात्म के रंग से अभिरंजित होने के बावजूद, आज की मांग के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए यह तत्त्वदर्शन मानवतावादी भावनाओं की तुष्टि में विज्ञान के मूल्य और मान्यताओं को स्वीकृति प्रदान करता है। इसे इस सत्य से इन्कार नहीं है कि विज्ञान के आविष्कार एवं इसकी उपलब्धियों ने जगत् को बारीकी से समझने में योगदान दिया है, लेकिन साथ ही इसका यह भी मानना है कि विज्ञान-प्रदत्त सत्य पूर्ण सत्य नहीं है, और यदि हमारा लक्ष्य पूर्ण सत्य को प्राप्त करना है तो हमें विज्ञान को सम्मान देने के बावजूद विज्ञान के क्षेत्र से ऊपर उठकर अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा।

द्वारा, श्री लाल नारायण सिंह **अभयानन्द**
क्वार्टर नं. २०२,
अनुग्रहपुरी कालनी,
गया–८२३००१ (बिहार)

## सन्दर्भ सूची

१. द्रष्टव्य : चैने, एडवर्ड पी. *एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज*, खण्ड ७, द मैकमिलन कं., न्यार्क, पृ. ५४१।
२. द्रष्टव्य : *डिक्शनरी ऑफ फिलासफी एण्ड साइकोलाजी*, पृ. ३२०।
३. द्रष्टव्य : *एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका*, खण्ड २, अदम एण्ड चार्ल्स ब्लैक, एडिनबरा १९५५, पृ. ८७६।
४. द्रष्टव्य : *इण्डियन फिलासफी*, खण्ड १, राधाकृष्णन् एस., लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनूवीन, १९२३, पृ. २४।

५. द्रष्टव्य : *सत्य की खोज*, हिन्दी अनुवाद, *माई सर्च फॉर ट्रुथ*, राधाकृष्णन् एस्., दिल्ली, सरस्वती विहार, १९५०, पृ. ७।

६. "आध्यात्मिक खोज" (संक.) *हमारी संस्कृति*, हिन्दी अनुवाद, *रिलिजन एण्ड कल्चर*, राधाकृष्णन् एस्., अनुवादक, उमापति राय चन्देल, दिल्ली, हिन्दी पाकेट बुक्स, १८८६, पृ. ७७-७८।

७. *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ*, पृ. ३१४, राधाकृष्णन् एस्.।

८. सत्य की ओर, हिन्दी अनुवाद *रिकवरी ऑफ ट्रुथ* , अनु. श्री रामनाथ सुमन, राधाकृष्णन् एस्., दिल्ली, हिन्द पाकेट बुक्स, १९९०, पृ. ८२-८३।

९. द्रष्टव्य : *द रेन ऑफ रिलिजन इन कंटेम्पोररी फिलासफी*, राधाकृष्णन् एस्. लन्दन, मैकमिलन एण्ड कं., १९२०, पृ. १४३।

१०. द्रष्टव्य : *सत्य की खोज*, राधाकृष्णन् एस्. पृ. ९।

११. वहीं, पृ. ९।

१२. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, हिन्दी अनुवाद, *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ*, अनु. कृष्णचन्द्र, राधाकृष्णन्.एस्., दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, १९६७, पृ. ४३६।

१३. 'आध्यात्मिक खोज', (संक.), *हमारी संस्कृति*, पृ. ८४।

१४. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, पृ. ५।

१५. *धर्म एवं समाज*, हिन्दी अनुवाद, *रिलिजन एण्ड सोसायटी*. अनुवाद क विराग, राधाकृष्णन् एस्., दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज, १९७५, पृ. १२३।

१६. *सत्य की ओर*, पृ. १०७।

१७. *वहीं*, पृ. १०३।

१८. *धर्म और समाज*, राधाकृष्णन् एस्., पृ. ६६।

१९. राधाकृष्णन्, एस्., 'प्रोग्रेस एण्ड स्पिरिच्युअल वॅल्यूज़', *द जर्नल ऑफ ब्रिटिश इन्स्टिट्यूट*. १९३७, पृ. २६५।

२० *वहीं*, पृ. २६४।

२१. *वहीं*, पृ. २८९।

२२. *धर्म : तुलनात्मक दृष्टि में*, हिन्दी अनु. *ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलिजन*, अनुवादक विराज, राधाकृष्णन् एस्., दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, १०६९, पृ. ६८।

२३. *सत्य की ओर*, राधाकृष्णन् एस्., पृ. १४१।

# सांख्य दर्शन की पुरुष सम्बन्धी अवधारणा

सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों के भाष्य एवं सांख्य विद्वानों की विवेचनात्मक कृतियों को पढ कर सर्वप्रथम जिस तरह की धारणा सांख्य दर्शन के वारे में बनती है, वह यह है कि सांख्य दर्शन अद्वैत वेदान्त का एक उच्छिप्त रूप है, क्योंकि सांख्य दर्शन की प्रचलित व्याख्याओं में 'पुरुष' वेदान्त की ''आत्मा'' के समान ही नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध हैं । पलत: दोनों दर्शनों में बंधन मिथ्या माना जाता है । दोनों में भेद मात्र सांख्य दर्शन की ''प्रकृति'' एवं अद्वैत वेदान्त की ''माया'' का है। यदि ''माया'' के समान ही व्यावहारिक स्तर पर ''प्रकृति'' को सत्य स्वीकार कर लिया जाए, तब दोनों दर्शन सैद्धान्तिक स्तर पर समान जान पड़ते हैं । इसके अलावा सांख्य दर्शन में प्रचलित, परस्पर विरोधी, भिन्न और कहीं-कहीं असंगत विवेचनाओं को देख कर, इस सर्वोत्कृष्ट प्राचीन दर्शन के गहन शोध में उपेक्षा का कारण जाना जा सकता है ।

ईश्वर कृष्ण रचित *सांख्यकारिका* के बासठवीं कारिका की व्याख्या वाचस्पति मिश्र करते हैं कि ''वस्तुत: कोई भी ''पुरुष'' न बंधता है और न कोई पुरुष संसरण करता है एवं न कोई पुरुष मुक्त होता है । पुरुष तो चैतन्य मात्र है, कूटस्थ है, नित्य मुक्त है और सांसारिक दु:खानुभव-रूप भोग परिणामिनी बुद्धि का धर्म है ।'' अतएव पुरुष व्यक्त, अव्यक्त, त्रिगुणत्वादि धर्मों से रहित साक्षी, केवल, द्रष्टा, अकर्ता, मध्यस्थ है । (उन्नीसवीं कारिका)[१]

दार्शनिकप्रवर नारायणतीर्थ के अनुसार– ''जबकि आत्मा को स्वाभाविक सुख-दु:खादिक नहीं हैं तब वस्तुत: वह ने बंधता है, न छुटता है, न किसी पुरुष को संसार होता है किन्तु अनेक पुरुषों के सहारे से रहने वाली प्रकृति ही बुद्ध्यादि के द्वारा बन्धनादि को प्राप्त होती है । अर्थात्, प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप बुद्धि में ही बन्धनादिक वस्तुत: रहते हुभे भी उसके सम्बन्ध से आत्मा में आरोप किए जाते हैं, इसलिए भ्रम से आत्मा में बंधन एवं मुक्ति का व्यवहार होता है ।'' (वासठवीं कारिका)[२]

प्राचीनतम भाष्य *सांख्यसप्ततिवृत्ति* में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि "कहा जाता है पुरुष बंधता है, मुक्त होता है, पुरुष प्रवृत्त होता है। वस्तुतः पुरुष नहीं बंधता है, क्योंकि वह सर्वव्याप्त, अकर्ता, अचल है, तथा वह सर्वव्यापी होने के कारण प्रवृत्त भी नहीं होता है। प्रकृति ही बंधती है, बढ़ती है और मुक्त हो जाती है।"[३]

बासठवीं एवं उन्नीसवीं कारिकाओं की यह व्याख्या पुरुष को स्वरूपतः नित्य-मुक्त, जन्ममरणादि बन्धन से परे, असंग, अकर्ता, सर्वव्याप्त एवं केवल सिद्ध करती है। इससे पुरुष अद्वैत-वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म (स्वरूप) के समान ही हो जाता है। यदि इसे ही पुरुष का सत्य स्वरूप मान जाए, तब कुछ अन्य कारिकाओं से, जिसमें पुरुष स्वरूपतः इससे भिन्न है, इसकी संगति किस प्रकार हो सकती है ?

पचपनवीं कारिका में वाचस्पति मिश्र ही बतलाते हैं कि "पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः" लिङ्गे च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बधी भवतीत्यर्थः। अर्थात्, सुख-दुःख भोगादि का अनुभव लिङ्ग शरीर में स्थित पुरुष को होता है।"

"जन्म मरण और इन्द्रियां ये प्रत्येक शरीर की नियत होने से वह (पुरुष) अनेक हैं।" (अठारहवीं कारिका) "प्रत्येक पुरुष की मुक्ति कराने के लिए प्रकृति परार्थ साधन के लिए प्रवृत्त होती है।" (छप्पनवीं कारिका, अर्थात् बंधन में पुरुष है) "तात्पर्य यह है प्रकृति स्वयं भोग्य बनने के लिए पुरुष को चाहती है" (इक्कीसवीं कारिका, अर्थात् पुरुष भोक्ता है)[४]

इसी प्रकार *सांख्यचन्द्रिका* में नारायणतीर्थ बतलाते हैं कि "आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है क्योंकि आत्मा में नए-नए शरीर के सम्बन्ध रूप जन्म तथा उसका त्यागरूप मरण और चक्षु-क्षोत्र आदि करणों की व्यवस्था देखने में आती है।"[५] प्राचीन *सांख्य–सप्ततिवृत्ति* के अनुसार– "जन्म से मरण तक के अनुभवों के हेतु यह "पुरुष" आधार है, चूंकि प्राकृतिक कारण एवं उसके कार्य जड़ हैं एवं पुरुष चेतन है। अतएव सुख-दुःख के अनुभवों का बोध पुरुष के लिए है।" (पचपनवीं कारिका)[६]

उपर्युक्त कारिकाओं की विवेचना से स्पष्ट है कि पुरुष स्वरूपतः अनेक हैं तथा सुख, दुःख, भोग आदि का अनुभवकर्ता है, एवं इस अनेकत्व एवं भोग हेतु प्रकृति का सहयोग भाव अनिवार्य (आधार) है, जो कि पुरुष के जन्म-मरण (आविर्भाव-तिरोभाव) एवं प्रवृत्तियादि का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अब प्रश्न उठता है कि पुरुष का स्वरूप, प्रस्तुत दोनों व्याख्याओं के आधार पर, सत्य कौन सा है?

यदि बासठवीं एवं उन्नीसवीं कारिका का भाव एवं व्याख्या सही हो, तो अन्य कारिकाओं (अठराहवीं, इक्कीसवीं, पचपनवीं आदि कारकाएँ) की क्या सार्थकता है? पुरुष को नित्य मुक्त, निर्गुणादि माना जाए? या सुख दुःखादि का भोक्ता, कर्ता आदि माना जाए? यह सहज है कि "वह तो निर्गुण होने से असंग, उदासीन और अकर्ता तथा नित्य होने से जन्म-मरण विमुक्त है। वस्तुतः कभी भी जन्म-मरण प्राप्त न करने वाला पुरुष जन्म-मरण एवं करण (इन्द्रियों) आदि की पृथक्ता एवं भेद के आधार पर वस्तुतः भिन्न-भिन्न या अनेक कैसे कहा जा सकता है?"[७]

इन्हीं कारिकाओं के समान सांख्य सूत्रों की व्याख्या पर भी ध्यान दिया जाए तो पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में कठिनाई आती है। कुछ सूत्रों से पुरुष नित्य-मुक्त, निर्गुण, अकर्तादि सिद्ध किया जाता है, तो कुछ सूत्र उसके बंधन, अपवर्ग, कर्तृत्व को वास्तविक बतलाते हैं।

प्राचीनतम सांख्य सूत्र टीका *वृत्ति* में अनिरुद्ध ने कुछ ऐसे वाक्य लिखे हैं, जिनसे भोग बुद्धि को होता है, ऐसा स्पष्ट होता है। पुरुष को केवल इसका अभिमान होता है।

"वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, नत्वामा जीवः, आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्तृत्वमात्मनो अपरिणामित्वात्" (सूत्र-१/९७)

......तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः।

तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः (सूत्र-१/९८)

......अन्तःकरणस्य बुद्धोपुरुषच्छायापत्त्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनात्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम्....... (सूत्र-१/९९)

जबकि भाष्यकार विज्ञानभिक्षु इसका विरोध करते हैं। उनका मानना है कि "यदि बुद्धि को ही ज्ञाता मान लिया जाए तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा। क्योंकि उसमें चेतन आत्मा के ही भोग की बात कही गई है, बुद्धि के भोग की नहीं। इसके अतिरिक्त इसको मानने में एक और भी दोष है और वह यह है कि तब फिर पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण ही नहीं मिलेगा, क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार पुरुष के अनुमान में लिङ्ग बनने वाले भोग को तो बुद्धि में ही स्वीकार कर लिया गया है।"[८]

इस प्रकार जहाँ अनिरुद्ध "भोग" को बुद्धि में स्वीकार करते हैं वहीं विज्ञानभिक्षु "भोग" को पुरुष में स्वीकार करते हैं। अब कुछ उस प्रकार के सांख्य सूत्रों की व्याख्या जिनसे पुरुष में भोग, सुख, दुःख, कर्तृत्वादि का अभिप्राय लक्षित होता है।

(१) चिदवसानो भोगः (सूत्र १/१०४)

आचार्य विज्ञानभिक्षु की व्याख्या है कि– "सुख, दुःख आदि का अनुभवरूप भोग "चेतन आत्मा" के समीप पहुँच कर समाप्त होता है। क्योंकि सम्पूर्ण जड़ जगत् की सिद्धि चेतन जीवात्मा के भोगार्थ ही हुई है।"[९] प्रश्न उठता है इस भोग के कारण आत्मा विकार-ग्रस्तता दोष से ग्रसित नहीं हो जाएगी? समाधान है कि "सुख दुख" आदि की अनुभूति आत्मा को होने पर भी उसमें किसी प्रकार के विकार अथवा परिणाम की आशंका करना व्यर्थ है। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप चेतन है। चेतन को किसी प्रकार का अनुभव होना उसको अपने वास्तविक स्वरूप से च्युत नहीं करता, प्रत्युत यह तो चेतन के स्वरूप का अपनी वास्तविक स्थिति में रहना प्रमाणित करता है। कोई भी अनुभव चेतन के अस्तित्व का प्रमाण ही कहा जा सकता है।"[१०]

(२) पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् (सूत्र २/३६)

*सांख्यसूत्रवृत्ति* में अनिरुद्ध व्याख्या करते हैं कि "करणों की प्रवृत्ति (क्षमता) का आधार पुरुष का अदृष्ट है।" स्पष्ट है इसका लक्ष्य पुरुषार्थ (भोग एवं अपवर्ग) में सहायक होना है। आचार्य विज्ञानभिक्षु स्पष्ट करते हैं कि "प्रधान (प्रकृति) के समान पुरुषार्थ (भोग एवं अपवर्ग रूप) के लिए ही करणों की प्रवृत्ति भी पुरुष के अदृष्ट की अभिव्यक्ति से होती है।[११]

इस सूत्र का समर्थन करते हुये अन्य दो सूत्र हैं–

(३) पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां तूपकारवद्राज्ञः। (३/१६)

(४) नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् (३/६८)

"जिस प्रकार पाचक का कार्य किसी दूसरे के हेतु है, उसी प्रकार एक देह से दूसरी देह में लिङ्ग-शरीर के गमन का कारण आत्मा है।" (अनिरुद्ध टीका) क्योंकि "अनादिकाल से चला आ रहा यह गमन आत्मा के भोगापवर्गरूपी प्रयोजन के सम्पादनार्थ हुआ करता है।" (विज्ञानभिक्षु टीका) *वृत्ति* के अनुसार–

"प्रकृति अचेतन (जड़) है, उसका कोई स्वार्थ नहीं है । उसके समस्त कार्य-व्यापार अपने नहीं हैं ।" तब इनका कारण विज्ञानभिक्षु बतलाते हैं कि "जगत्रूप में परिणत होकर सभी पुरुषों के लिए भोग साम्रगी को उपस्थित करता है ।"[१२] यदि आत्मा इंद्रियादि प्राकृतिक साधनों से प्रभावित न होता हो तो उसका अस्तित्व ही अनावश्यक है– "यदि अन्तः–करणों से सुख-दुःख के लिए उसका अस्तित्व अपेक्षित है, तो वह केवल उसके लिए साधन मात्र बनकर रह जाता है, जो आत्मा को उसके वास्तविक स्थान से गिरा देता है और ऐसा मानने पर सांख्य का यह सिद्धान्त भी नष्ट हो जाता है कि बुद्धि आदि प्राकृतिक समस्त पदार्थ "परार्थ" अर्थात् आत्मा के लिए हैं ।"[१३]

(५) अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता (६/५)

"जीवात्मा के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही सार्थक है, क्योंकि इससे बंधन या दुःख के पुनरावृत्ति की संभावना समाप्त हो जाती है ।" (अनिरुद्ध टीका) इसे विज्ञानभिक्षु स्पष्ट करते हैं कि– आध्यात्मिक– आधिदैविक-आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होने पर ही यह जीवात्मा कृत-कृत्य हो जाता है । शरीर-धारणात्मक भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए ही इस जीवात्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होता है ।"[१४]

दरअसल– "प्रकृति के गुण की अन्तःक्रिया की दिशा स्वभावतः ऐसी है कि प्रकृतिकृत पदार्थ पुरुष के भोग्य बनते हैं और उसे बन्धन का अनुभव कराते हैं जिससे वह अपवर्ग की ओर उन्मुख होता है ।"[१५]

उपर्युक्त सूत्रों की टीका एवं विचारकों की मान्यता से स्पष्ट होता है कि पुरुष में भोक्तृत्व, बन्ध, अपवर्गादि वास्तविक हैं तथा यह समस्त रचना (सृष्टि) पुरुष के प्रयोजन (भोग एवं कैवल्य) को पूरा करने के लिए हैं ।

किन्तु कुछ अन्य सूत्र भी हैं जिनमें पुरुष स्वरूपतः नित्यमुक्त एवं निर्गुणादि ग्रहणीय है तथा उसके इसी रूप को (जो अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान नित्य मुक्त एवं निर्गुण है) सांख्य विवेचनीय ग्रन्थों में अधिमान प्राप्त है । तब प्रश्न उठता है कि बन्धन किसको होता है? उत्तर है– बन्धन प्रकृति को होता है । डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं कि "सांख्य दर्शन में मोक्ष केवल प्रतीति मात्र है क्योंकि बन्धन का सम्बन्ध पुरुष के साथ है ही नहीं प्रकृति पुरुष को बन्धन में नहीं ड़ालती, किन्तु नानाविध रूपों में स्वयं अपने को बंधन में ड़ालती है ।"[१६] "तात्पर्य यह है कि असंग, अकर्ता पुरुष में बन्ध, मोक्ष का जो व्यवहार किया जाता है

वह प्रकृति के ही बन्ध मोक्ष का व्यवहार भ्रमवश उसमें किया जाता है। एवं "भोग एवं अपवर्ग तो प्रकृति के धर्म हैं।"[१७]

निम्नलिखित सूत्रों की टीका महत्त्वपूर्ण है।

(१) न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते । (१/१९)

"चेतना बंधन में नहीं पड़ती, वरन् इसका (बन्धन) सम्बन्ध अनादि प्रकृति से है। पुरुष स्वरूपतः नित्य मुक्त शुद्ध, बुद्ध हैं।" (अनिरुद्ध टीका) "जैसे स्वाभाविक निर्मल (शुद्ध), स्फटिक मणि में राग (लालिमा) रूप जपापुष्प के सम्बन्ध के बिना नहीं हो पाता, वैसे ही नित्य, शुद्ध बुद्धस्वभाव वाले "पुरुष" में उपाधि का सम्बन्ध हुये बिना दुःख सम्बन्ध नहीं हो पाता है, क्योंकि वे दुःखादि (पुरुष में) स्वाभाविक (नैसर्गिक) नहीं हैं, यह सूत्रार्थ है।" (विज्ञानभिक्षु टीका)[१८]

(२) प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् (३/७२)

"जिस प्रकार पशु रस्सी से बंधता है, उसी प्रकार सिर्फ प्रकृति ही बंधन में बंध जाती है।" (अनिरुद्ध टीका) वस्तुतः बन्ध मोक्ष "प्रकृति" को ही होते है क्योंकि वह "ससङ्ग" है, अर्थात् दुःख के साधनभूत धर्माधर्म से वही लिप्त रहती है। (विज्ञानभिक्षु टीका)[१९] "प्रकृति सांख्यमतानुसार अपने सब क्रियाकलाप को चलाने के लिए स्वतन्त्र है।"[२०] प्रकृति ही अनेक प्रकारों को अपनाती हुई संसरण करती है, अभिव्यक्त वासना विशिष्ट क्लेश कर्माशयों से युक्त हो जाती है और वासना सहित क्लेश कर्माशयों के तिरोभाव से मुक्त भी हो जाती है।"[२१]

(३) रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण । (३/७३)

"प्रकृति पूर्व निर्मित सात रूपों से स्वयं को बांध लेती है, एवं पूर्व निर्मित एकरूप ज्ञान से मुक्त भी हो जाती है।" (अनिरुद्ध टीका) विज्ञान भिक्षु इन रूपों को नामांकित करते हुये बतलाते हैं कि– "धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैवश्वर्य इन सात रूपों से अर्थात् दुःख के हेतुभूत अपने धर्मों के द्वारा ही "प्रकृति" स्वयं अपने को कोशकार के समान दुःख से बांध लेती है जैसे-कोशकार कृमि स्वनिर्मित अपने आवास से ही अपने को बांध लेता है उसी तरह वह भी अपने को बांध लेती है, और वही प्रकृति "ज्ञान" रूप अर्थात् विवेक ज्ञानात्मक एक रूप के द्वारा अपने को दुःख से छुड़ा लेती है।[२२]

इस प्रकार उपर्युक्त सूत्रों की टीका एवं विचारकों की मान्यता के आधार पर "पुरुष" का स्वरूप बतलाया जाता है कि– "प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक्

रहने वाला पुरुष अपनी अत्रिगुणात्मकता के कारण समस्त त्रिगुणात्मक जगत् का साक्षी (द्रष्टा) कहा जाता है । उसी प्रकार सुख-दु:ख मोहात्मक, गुणत्रय से रहित होने के कारण ही उसे ''केवल'' कहते हैं । इसे ''अकर्ता'' और ''मध्यस्थ'' भी बतलाया जाता है । वह पुरुष तो उदासीन है । वास्तव में गुण ही कर्ता-धर्ता होते हैं, तथापि वह उदासीन पुरुष ही कर्ता सा भासित होता है ।[२३] किन्तु सवाल उठता है यह भ्रान्ति क्यों होती है? तो उत्तर देते हैं ''भ्रान्तिबीजतत्संयोग:''[२४]। अर्थात्, भ्रम होने का कारण चेतन के साथ प्रधान का संयोग हैं । जैसे– जय-पराजय वस्तुत: सैनिकों की है, लेकिन स्वामी-सेवकभाव के सम्बन्ध के कारण स्वामी पर जय-पराजय का आरोप किया जाता है । अर्थात्, जय-पराजय का फल धन, लाभ, सुखादि और शोक, अज्ञान के कारण राजा को प्राप्त होते हैं । उसी तरह भोगापवर्ग वस्तुत: प्रकृति का है, तथापि प्रकृति पुरुष का भेद-ज्ञान न होने से ''पुरुष'' के साथ इसका सम्बन्ध कल्पित किया जाता है । अत: यह मान्यता पुरूष को नित्यमुक्त चैतन्य मानती है एवं इन विचारकों के अनुसार प्रकृति ही बंधन में पड़ती, संसरण करती हुई, भोग करती हुई अन्तत: मुक्त हो जाती है।

इन भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के आधार पर सांख्य सिद्धान्त परस्पर विरोधी हो जाते हैं, तथा इस त्रुटि के चलते सांख्य दर्शन की आधुनिक विवेचनाओं में एक ही स्थान पर अलग-अलग व्याख्याएं दिखलाई पड़ती हैं ।

डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी अपने शोधग्रन्थ *सांख्य दर्शन और विज्ञान भिक्षु* में एक स्थान पर लिखती हैं कि ''पुरुष का बन्धन तो वाङ्मात्र या कल्पनामात्र ही है। बन्धन तो वस्तुत: प्रकृति का होता है । अर्थात् बन्धन प्रकृति की प्रसूति बुद्धि अर्थात् चित्त का होता है और मोक्ष भी उसी का होता है ।'' तथा अन्य एक स्थान पर उनकी विवेचना है कि ''सांख्य दर्शन में पुरुष का ही बन्धन स्वीकार किया गया है और उसके इस प्रकार के बन्धन से मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है । अनादि अविद्या के कारण पुरुष प्रकृति के सभी धर्मों को अपने में उपचरित मानकर बन्धनग्रस्त हो जाता है ।[२५]

अब सवाल उठता है पुरुष बंधनग्रस्त है? अथवा प्रकृति बंधन में पड़ती है? तथा पुरुष ''प्रकृतिकृत धर्मों'' को स्वयं में ''मान लेता है'', का क्या औचित्य है? सोचने, मानने आदि जैसे जागतिक ज्ञान को तो बुद्धि में ही मान लिया जाता है? तब पुरुष को भ्रान्ति होती है, कैसे स्वीकार किया जाए?

इस पक्रार आधुनिक व्याख्याकार डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी *सांख्यकारिका* में लिखते हैं कि– ''वस्तुस्थिति तो यह है कि भोग भी पुरुष में न होकर प्रकृति में ही

होता है । प्रकृति ही स्वयं ऐसे दो प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करती है जिनमें से एक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के रूप में भोग के विषय हो जाते हैं तो दूसरे बाह्याभ्यन्तर "करण विषयी" तथा "भोग" भी एक प्रकार की प्रक्रिया है । अत: वह पुरुष में कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि कोइ भी क्रिया रजोगुण का धर्म है जिसका पुरुष में सर्वथा अभाव है । इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार ही पुरुष में भोक्तृत्व संभव नहीं ।" जबकि अन्य एक स्थान पर पूर्व में उन्होंने परिणाम निकालते हुये कहा है कि– "प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोग पुरुष को कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करना है, जो इस प्रकार का प्रमाण है कि संयोग बद्ध-पुरुष और प्रकृति में ही हैं ।[२६] अर्थात्, वे पुरुष के बन्धन, अपवर्ग और भोगादि को भी स्पष्ट करते हैं । इससे प्रश्न उठता है कि प्रकृति भोक्ता एवं भोग्य दोनों है? या प्रकृति ही बन्धन का कारण है एवं प्रकृति ही बंधन में पड़ती है? अथवा प्रकृति की प्रवृत्ति को पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए (परार्थ प्रयोजनीय) माना जाए? एवं बन्धन, भोग एवं अपवर्गादि को पुरुष में स्वीकार किया जाए?

उपर्युक्त उद्धरणों एवं परस्पर भिन्न मान्यताओं के आधार पर यह सिद्ध करना आवश्यक है कि पुरुष का कौन सा स्वरूप सांख्य सिद्धान्तों से संगति रखता है तथा सत्य है । ऊपर दी हुई पूरी विवेचना पर ध्यान देने से एक मुख्य त्रुटि स्पष्ट हो जाती है कि इनकी व्याख्या में पुरुष एवं प्रकृति को अलग-अलग कर विवेचित किया जाता रहा है । इनके संयोग-रूप को ज्यादा महत्त्व न दिए जाने के कारण सिद्धान्तों में विसंगति पैदा हो गई है । यदि पुरुष को प्रकृति से अलग कर के नित्यमुक्त, अकर्ता, अभोक्ता, असंग, केवलादि माना जाए तब निस्संदेह संयोगरूप (प्रकृति से) में सभी क्रियाएँ– यथा बन्ध, मोक्ष, भोगादि को–उसमें (पुरुष में) मानना अयुक्तिसंगत हो जाएगा । इसलिए इन सब क्रियाओं को स्वाभाविक रूप से प्रकृति में मान लिया जाता है और बतलाया जाता है कि– "इन प्रक्रियाओं के घटित होने के लिए प्रकृति को पुरुष चेतना की किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं होती । प्रकृति अपनी क्रिया-प्रक्रियाओं के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र है ।"[२७] किन्तु प्रकृति तो अचेतन है । तब अचतेन को समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं का आधार किस प्रकार बनाया जा सकता है? "यदि चेतन क्रियाएँ ही न होतीं तो क्या स्थूल पदार्थ, व्यक्त जड़तत्त्व किसी चेतन के अनुमान में आधार बन सकते हैं? जीवात्मा के भोगार्थ क्रियाएँ ही उसे यह बोध करातीं हैं कि यह जड़ पदार्थों का भोक्ता होने से स्वयं जड़ नहीं, अन्य कुछ है, उसे ही हम "चेतन" शब्द से व्यक्त करते हैं ।"[२८] एवं सम्पूर्ण सांख्यदर्शन पुरुष एवं प्रकृति की सहचारिता के रूप में एक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण दर्शन है । दोनों के (प्रकृति+पुरुष) अलग-अलग पृथक् रूप की कोई उपयोगिता ही नहीं है ।

सांख्य दर्शन में पुरुष अथवा जीव के स्वरूप की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि "विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ।"[२९] अर्थात् सूक्ष्म-शरीर अथवा अहंकार-विशिष्ट आत्मा जीव या पुरुष कहलाती है । किन्तु पुरुष की उपर्युक्त परिभाषा को सत्रहवीं कारिका पूर्ण करती है, जिसके अनुसार पुरुष जड़ शरीर एवं चेतन आत्मा का वह संग्रथित रूप है जिसका स्वभाव भोक्तृत्व एवं प्रवृत्ति कैवल्यार्थ रहती है । इससे स्पष्ट है कि पुरुष भोग करता है तथा दुःखों से छुटकारा पाने का उद्देश्य रखता है । आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार– "संसार में सुख-दुःख आदि का अनुभवरूप भोग जीवात्मा तक पहुंचकर समाप्त होता है, इसके पहले वह और कहीं रुक नहीं जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण संसार जीवात्मा का भोग है, इसलिए संसार का सृजन हुआ है ।"[३०]

अतएव स्पष्ट है कि पुरुष एवं प्रकृति के संग्रथितरूप में ही विवेचन सांख्य-दर्शन को स्थापित करता है एवं इस संग्रथित रूप में पुरुष कर्ता, भोक्ता एवं जन्म-मरणादि बंधन में पड़ने वाला एवं उनसे मुक्त होने वाला सिद्ध होता है । प्रकृति तो अचेतन है एवं उसका सम्पूर्ण कार्य-व्यापार पुरुष के लिए है । "अपने सात रूपों में प्रकृति स्वयं ही पुरुष को बांधती है और एक रूप से मुक्त करती है। वन्धन में तो पुरुष ही पड़ता है, प्रकृति तो बांधती है ।"[३१]

१०, रायपुर नाका
दुर्ग–४९१००१
(म.प्र.)

हरनाम सिंह अलरेजा

### टिप्पणियाँ

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी सम्पा. डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर (वासठवीं कारिका एवं उन्नीसवीं कारिका)

२. सांख्यकारिका *(सांख्यचन्द्रिका)* अनु. प. दुण्ढिराज शास्त्री (बासठवीं कारिका)

३. एनसाइक्लोपीडिया *ऑफ इंडियन पिलॉसफी*, वाल्यूम चार, अनु. लार्सन एंड भट्टाचार्य (सांख्यसप्तति वृत्ति- बासठवीं कारिका)

४. सांख्यतत्त्वकौमुदी, सम्पाद. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर (पचपनवीं कारिका, अठारहवीं कारिका, छप्पनवीं तथा इक्कीसवीं कारिका).

५. सांख्यचन्द्रिका अनु. पं. दुण्डिराज शास्त्री (अठारहवीं कारिका)

६ एनसाइक्लोपीडिया *ऑफ इंडियन फिलॉसफी– सांख्यसप्तति वृत्ति* (पचपनवीं कारिका)

७. सांख्य दर्शन *की ऐतिहासिक परंपरा*, ले. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, पृष्ठ २१३

८. *वही.*, पृष्ठ ३२४.

९. *श्री विज्ञान भिक्षु विरचित सांख्य प्रवचन भाष्य*– हिन्दी व्याख्याकार डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, पृष्ठ २२६.

१०. *सांख्य दर्शनम् (विद्योदय भाष्य)* आचार्य उदयवीर शास्त्री– पृष्ठ ५३.

११. *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन फिलॉसफी* (अनिरुद्ध चेप्टर) तथा *श्री. विज्ञानभिक्षु विरचित सांख्य प्रवचन भाष्य*, सम्पादक–पं. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर से अनुवाद प्राप्त ।

१२. दोनों अनुवाद प्राप्त– *वहीं.*

१३. *सांख्य दर्शनम् (विद्योदय भाष्य)* आचार्य उदयवीर शास्त्री– पृष्ठ ८१.

१४. वहीं से अनुवाद प्राप्त– *वहीं.*

१५. *सांख्य प्रज्ञा*– डॉ. बी. कामेश्वर राव, पृ. ११४ सत्तावनवीं का. की व्याख्या.

१६. भारतीय दर्शन, २ डॉ. राधाकृष्णन्, पृ. २६८, बासठवीं कारिका.

१७. *सांख्यतत्त्वकौमुदी (भूमिका)* डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, पृष्ठ ८३. एवं *श्री. विज्ञानभिक्षु विरचित सांख्य प्रवचन भाष्य* (व्याख्या) पृष्ठ ४९७.

१८. वहीं से अनुवाद प्राप्त– *वहीं.*

१९. *वहीं.*

२०. *उन्मीलन*, जन. ९१ ''भारतीय आध्यात्मिक जड़वाद'' लेखक- श्री. नारायण शास्त्री द्राविड़, पृष्ठ १३.

२१. *श्री विज्ञानभिक्षु विरचित सांख्य प्रवचन भाष्य*, हिंदी व्याख्याकार– डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर पृ. ४९७.

२२. वहीं से दोनों अनुवाद प्राप्त.

२३. *सांख्यतत्त्वकौमुदी* (भूमिका) डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर पृ. ८३

२४. *वहीं*, बीसवीं कारिका की व्याख्या

२५. *सांख्य दर्शन और विज्ञानभिक्षु*, डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी, पृष्ठ २०४, व २१४.

२६. *सांख्यकारिका*, लेखक डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी, पृष्ठ ७०, ७० व ६७.

२७. *उन्मीलन*, जन. ९१ श्री नारायणशास्त्री द्राविड़, पृष्ठ १३.

२८. *परामर्श (हिन्दी)*, सितम्बर १९८८, लेखक डॉ. बी. कामेश्वर राव, पृष्ठ ३६१.

२९. *सांख्यसूत्र* (६/६३)

३०. *सांख्यसिद्धान्त*, ले. आचार्य उदयवीरशास्त्री, पृष्ठ ७५.

३१. *सांख्य प्रज्ञा*, ले. डॉ. बी. कामेश्वर राव, पृष्ठ ३५.

# दर्शन और इसकी प्रासङ्गिकता

## दर्शन : प्रकृति और प्रवृत्ति

पुस्तकीय परिभाषाओं से परे हट कर देखें तो दर्शन जीवन और जगत् के सम्पूर्ण यथार्थ को आलोकित करने वाला महासूर्य है, उदात्त चिन्तन का हिमालय है, मानव-जिज्ञासा की गंगोत्री है और विभिन्न चिन्तनधाराओं को आत्मसात् करने वाला महासमुद्र है । यह जीवन का केवल सत्य ही नहीं है, बल्कि उसे शिव और सुन्दर बनाने की कला भी है । यह विश्व-मानव के अनुभवों की गीता और उसके भविष्य का प्रकाशस्तम्भ है । यह एक ओर समस्याओं की जननी तथा दूसरी ओर समाधानों का पिता है ।

ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाएँ दार्शनिक चिन्तन से सामंजस्य स्थापित किये बिना एकाङ्गी और अपूर्ण हैं । इनका एकाङ्गी विकास मानव के पूर्ण और स्थाई कल्याण में समर्थ नहीं है । अत: भिन्न-भिन्न दिशाओं में सीमित लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होने वाले विविध शास्त्रों में दिशा, परस्पर-सङ्गति, सामंजस्य और समन्वय का आधार दर्शन ही प्रदान करता है । इस दृष्टि से यह सभी शास्त्रों में अन्तर्गर्भित सूत्र और कौस्तुभमणि है । यह सभी विषयों में व्याप्त होकर भी विषयातीत (शास्त्रातीत) है । सभी कालों में व्याप्त होकर भी कालातीत है । लौकिक और धार्मिक आचारों, जीवनशैलियों में अनुस्यूत होकर भी क्रियातीत है । यह समस्त दर्शन-सम्प्रदायों के चिन्तन में अभिव्यक्त होकर भी सम्प्रदाय-निरपेक्ष है । तर्क-बल से परिपुष्ट होने वाला यह विलक्षण शास्त्र राष्ट्र, जाति, समाज, वर्ण, वर्ग, लिङ्ग, देशकाल, उपासनापद्धति, तांत्रिक क्रिया आदि किसी भी अवच्छेदक को अपनी विशुद्धता और पूर्णता के लिए विकार या कलंक मानता है । इस दृष्टि से दर्शन का सम्बोध्य देशादि सीमाओं में बंधा हुआ कोई व्यक्ति या वर्ग-विशेष न होकर विश्वमानव है । सभी उपकारकों सहित इसी का पूर्णत्व और कल्याण दार्शनिक चिन्तन है ।

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १५, अंक ३, जून, १९९४

समस्याप्रिय शास्त्र

दर्शन समस्या-प्रिय शास्त्र है। समस्या की दीपशिखा को नित्य-निरन्तर प्रज्वलित रखना इसके जीवन और अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। समस्याएँ दर्शन का भोजन हैं, पाथेय हैं, शक्ति हैं, प्राण हैं, जीवन हैं। ये जितनी प्रबल, गंभीर, व्यापक और जटिल होंगीं दर्शन उतना ही पुष्ट होगा, उसकी समाधान-क्षमता उतनी ही मुखरित होगी।

साधारण और सरल समस्या को असाधारण और जटिल बना देने की कला में दर्शन अत्यन्त निपुण है। अन्य शास्त्रों द्वारा तिरस्कृत या अस्पृष्ट समस्याओं के लिए यह स्थाई आतुरालय है। यही नहीं अन्य शास्त्रों द्वारा प्रदत्त समाधानों को भी समस्या बनाना और फिर अपनी विशिष्ट शैली में उनका समाधान खोजना इसकी विशेषता है, इसका स्वभाव है। अत: सर्वप्रथम तो यह किसी समस्या के अन्तिम निर्विवाद समाधान तक भी पहुँचता ही नहीं और यदि कभी ऐसा अवसर आ ही गया तो यह उस समाधान अथवा निष्कर्ष को विज्ञान या अन्य शास्त्र को समर्पित कर अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए किसी अन्य समस्या से जूझना प्रारम्भ कर देता है। वैसे समस्याओं की जुगाली करने की इसकी क्षमता अद्‌भुत और विलक्षण है, क्योंकि यह एक ही समस्या की हजारों वर्षों तक जुगाली करने में सक्षम है।

सभी दर्शन-सम्प्रदाय स्वयं को पूर्ण मानते हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी समस्याओं के स्थाई समाधान प्रस्तुत करने का दम्भ भरते हैं। किन्तु दूसरी ओर दूसरा सम्प्रदाय इस दम्भ को सर्वथा मिथ्या सिद्ध करने के लिए सर्वदा तत्पर रहता है। इसे दर्शन-सम्प्रदायों की परस्पर दुरभिसन्धि भी कहा जा सकता है, कि वे अन्य शास्त्रों से समस्या का भोजन प्राप्त न होने पर एक दूसरे को जीवित रखने के लिए स्वयं ही समस्याओं का आदान-प्रदान करते रहते हैं। यही कारण है कि चार्वाक से लगाकर वेदान्त, बौद्ध तक सभी दर्शन तीक्ष्णतम तर्कों द्वारा खण्डन-मण्डन में जुटे रहकर भी एक दूसरे को सर्वथा विनष्ट या नि:शेष नहीं कर पाए हैं। अन्यथा एक उत्तरपक्ष द्वारा एक पूर्वपक्ष का एक बार खण्डन करने के बाद उस उत्तरपक्ष के परवर्ती आचार्यों द्वारा उसी का बार-बार खण्डन करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। इससे स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष के सर्वथा संहार में किसी उत्तरपक्ष की रुचि नहीं है क्योंकि पूर्वपक्ष ही उत्तरपक्ष की सामर्थ्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अत: कोई भी समाधान सर्वदर्शन-सामान्य नहीं बन पाता। अन्तिम और पूर्ण सत्य अभी भी दर्शन का जिज्ञास्य है। मानव के आविर्भाव के साथ उदित होने वाली इस जिज्ञासा का आरम्भ जितना निश्चित है, अन्त

उतना ही अनिश्चित । यह अनन्त यात्रा का शास्त्र है । पूर्ण सत्य का निरन्तर अनुसंधान दर्शन की नियति है । नियति की इस दासता का इस उमापति ने स्वयं वरण किया है । अत: अगणित समाधानों और निष्कर्षों की सरिताएँ भी इस महासमुद्र की मर्यादा को भंग नहीं कर पाई हैं ।

#### प्रासङ्गिकता का प्रश्न

प्रथम दृष्टि से विचार करने पर दर्शन की प्रासङ्गिकता का प्रश्न ही अप्रासङ्गिक प्रतीत होता हैं क्योंकि–

१. दैनिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं और अपने अस्तित्व के लिए प्रतिक्षण संघर्ष कर रहे निरीह मानव को ब्रह्म-आत्मा, मोक्ष-निर्वाण, स्वर्ग-नरक जैसी चर्चाओं में व्यस्त करना अत्यन्त अव्यावहारिक एवं अन्यायपूर्ण है ।

२. दर्शन के अनेक सिद्धान्त वैज्ञानिक शोधों के समक्ष निरर्थक और मिथ्या सिद्ध हो चुके हैं ।

३. विश्व का प्रत्येक कण अथवा अणु और इसके प्रत्येक पक्ष का अध्ययन करने वाले सभी शास्त्र और विज्ञान उपयोगी हैं; तब दर्शन की उपयोगिता भी स्वयंसिद्ध है ।

४. मनुष्य के विकास के साथ ज्ञान की सभी शाखाओं का विकास, विस्तार और प्रचार बढ रहा है और यही स्थिति दर्शन की भी है । इतिहास-दर्शन, विज्ञान-दर्शन, गणित-दर्शन, अर्थशास्त्र-दर्शन, समाजशास्त्र-दर्शन, कला-दर्शन आदि प्रशाखाओं के रूप में दर्शन का समृद्ध होता संसार, विश्वविद्यालयों में खुलते नये विभाग, पाठ्यक्रम, नयी शोध-योजनाएँ, नियुक्तियाँ, समितियाँ, सभा-सम्मेलन, गोष्ठियाँ, उनमें उठे विवाद, पारित होते प्रस्ताव, बढ़ते, प्रभाव आदि स्वयं वर्तमान में इसकी महत्ता और उपयोगिता के प्रमाण हैं ।

अत: दर्शन को वर्तमान के लिए सर्वथा अनुपयोगी मानें अथवा उसकी उपयोगिता को स्वयंसिद्ध मानें, दोनों ही स्थितियों में दर्शन की प्रासङ्गिकता पर विचार व्यर्थ है ऐसा पूर्वपक्ष बनता है ।

#### विचार की आवश्यकता

पूर्वोक्त समस्त आपत्तियों के रहते हुए भी दर्शन की प्रासङ्गिकता विचारणीय है क्योंकि–

१. दर्शन की प्रकृति-प्रवृत्ति एवं उसके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों पर समय-समय पर उठने वाली आपत्तियों और भ्रान्तियों का निराकरण आवश्यक है ।

२. ज्ञान और अनुभव की निरन्तर पुनरावृत्ति समाज के लिए आवश्यक है। ईश्वर-आत्मा सत्य-नित्य है तथा प्रेम, अहिंसा, करुणा आदि सद्गुण शाश्वत हैं– ऐसा मान लेने पर भी इनकी पुष्टि, प्रचार और अभ्यास, प्रतिक्षण बदलते परिवेश में, आवश्यक है । सुकरात, याज्ञवल्क्य, बुद्ध, शंकर, गांधी, कबीर, मार्क्स, अरविन्द आदि दार्शनिक यद्यपि देश-काल के खण्ड-विशेष में प्रादुर्भूत हुए थे, किन्तु उनके सिद्धान्तों की सार्वकालिकता, हर बदलते परिवेश में परखे बिना स्थापित करना संभव नहीं है ।

३. दुःख-क्लेश, अशान्ति, अज्ञान, हिंसा, जन्म-मरण, पदार्थों और जीवों के परस्पर सम्बन्ध आदि मानव की स्थायी समस्याएँ हैं जो मुक्ति की उसकी जिज्ञासा को सदैव प्रदीप्त रखती हैं । अतः ऐसी स्थायी समस्याओं से जूझने वाले शास्त्र की सदैव आवश्यकता होती है ।

४. सभी शास्त्रों में, समय के साथ नये तर्कों, प्रयोगों और सिद्धान्तों का समावेश हो रहा है । अतः उनके दिशा-निर्देशक और समन्वयक इस शास्त्र की नित्य प्रबुद्धता आवश्यक है ।

५. समाज की वर्तमान दुर्दशाओं का एक गंभीर कारण दार्शनिक चिन्तन की उपेक्षा और उसके दिशा-निर्देशों के प्रतिकूल व्यवहार है । अतः ये दुर्दशाएं दर्शन की आवश्यकता और महत्ता को स्थापित करती हैं । रावण की प्रवृत्तियाँ राम की प्रासंगितकता के लिए उत्तरदायी हैं । 'अधर्म का अभ्युत्थान' धर्म के अवतार की भूमिका है ।

६. क्षणिक वर्तमान, कालातीत दर्शन को अप्रासंगिक सिद्ध करने में असमर्थ है ।

७. एक दर्शन-सम्प्रदाय या उसके कुछ सिद्धान्तों की वैज्ञनिक कसौटी पर खरा न उतरने के कारण वह दर्शन-सम्प्रदाय या सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र अनुपयोगी और असत्य सिद्ध नहीं हो जाता । एक चिकित्सक, राजनेता, ज्योतिषी के अथवा एक पद्धतिविशेष के असफल सिद्ध होने पर समग्र चिकित्साशास्त्र, राजनीतिशास्त्र अथवा ज्योतिषशास्त्र को असफल और अनुपयोगी घोषित

नहीं किया जा सकता। स्वयं विज्ञान के सिद्धान्त भी प्रयोगों के अधीन होने से, सतत परिवर्तनशील हैं।

८. वर्तमान के कारण ही दर्शन भूत-भविष्य से जुड़ा है– चाहे यह वर्तमान कपिल का काल हो या अरविन्द का।

९. दर्शन की वर्तमान में प्रासङ्गिकता का यह तात्पर्य नहीं है कि वह भूत-भविष्य से निरपेक्ष केवल वर्तमान के लिए ही उपयोगी है। गंगा के प्रवाह पर केवल वर्तमान काशी का ही एकाधिकार नहीं है। वह वर्तमान काशी की होकर भी हिमालय और सागर के लिए तथा सार्वकालिक काशी के लिए प्रवाहित है।

### प्रासङ्गिक समस्याएँ

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में जिन समस्याओं के उद्घोष से पुस्तकालय, सभा-सम्मेलन, आयोग आदि व्यस्त और त्रस्त हैं उनमें कुछ प्रमुख है राष्ट्रवाद, आतंकवाद, मूल्यों का ह्रास, दारिद्र्य, विविध रोग आदि। इनमें से प्रत्येक समस्या अन्य अनेकानेक छोटी-बड़ी साधारण और गंभीर, क्षणिक और चिरस्थाई, व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं का कारण है। इन्हें राजनीतिक, सामाजिक आदि वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु इनके मूल का अनुसंधान स्वयं अपने आप में एक गंभीर समस्या है। दर्शन के विश्लेषण के अनुसार इन समस्याओं के तीन मूल कारण और वर्ग हैं– अशिक्षा, अहंकार, और दारिद्र्य।

### प्रत्यक्ष शास्त्रों की भूमिका

उपर्युक्त समस्याओं के अध्ययन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े राजनीति आदि शास्त्रों की भूमिका का दर्शन-दृष्टि से समालोचन आवश्यक है–

१. (अ) राजनीतिशास्त्र मानव-कल्याण के लक्ष्य का चाहे जितना उद्घोष करे, किन्तु वस्तुतः इसकी आधार-भूमि व्यक्ति, दल और वाद का अहंकार है। इनकी सत्ता और प्रभाव का विस्तार उसका लक्ष्य है। मानव-मानव में भेदभाव उसकी नीति है। जो राजनेता अपनी इन्द्रियों और मन को वशीभूत नहीं कर सकता, राजनीतिशास्त्र उसे विश्व वश में करने की कला सिखाता है।

(ब) राजनीतिशास्त्र के शुभाशुभ के मूल्य सीमित, सापेक्ष और

परिवर्तनशील हैं । एक राष्ट्र वधकर्म के लिए वधिक को पुरस्कृत करता है तो दूसरा राष्ट्र उसे दण्डनीय मानता है । एक दल में जो आचरण उचित है वही दूसरे दल में सर्वथा अनुचित । एक वाद जिस विचार के प्रसार को मानव-कल्याण के लिए आवश्यक मानता है, दूसरा वाद उसी विचार को घातक मानता है । राजनीतिक अहंकार व्यक्ति और समाज के स्वातंत्र्य और गौरव का अपहरण और हनन करके उनको अपनी महत्त्वाकांक्षा-पूर्ति का माध्यम बनाता है ।

अतः यदि किसी एक दल, राष्ट्र या वाद की सम्पूर्ण विश्व में स्थापना हो जाए तब भी क्या विश्वमानव सुखी, समपन्न, प्रसन्न और शान्त हो जाएगा, इसका प्रतिवचन राजनीति के पास नहीं है ।

२. (अ) अर्थशास्त्र अर्थ के अर्जन, वितरण और विनिमय का शास्त्र है । प्रत्येक देश की सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधाराओं, महत्त्वाकांक्षाओं और प्राथमिकताओं में भेद के कारण इसके मूल्य भी संकुचित और परिवर्तनशील हैं । इसकी धन, धनिक और निर्धन की परिभाषाएँ सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हैं । समाज-विशेष या राष्ट्रविशेष को समृद्ध बनाने की इसकी नीतियों और उत्साह में अन्य राष्ट्रों की समृद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है । समग्र विश्व की सार्वजनीन अर्थव्यवस्था की कल्पना का यहाँ अभाव है । अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर यदि इस प्रसंग में थोड़ी बहुत चिन्ता प्रकट की जाती है तो उसका कारण राजनीति से इसकी दुरभिसन्धि है ।

(ब) मात्र धन और भौतिक सुख को ही मानव की समृद्धि का माध्यम व प्रतीक मानने वाले इस शास्त्र ने मानव को भी एक भौतिक वस्तु बना दिया है । यदि भौतिक समृद्धि ही मानव-सुख का कारण होती तो आज के सम्पन्न परिवारों और राष्ट्रों में सर्वाधिक सुख-शान्ति होती । किन्तु इसके विपरीत वहाँ मानसिक तनाव, हिंसा, मानव-मूल्यों का ह्रास, स्वार्थ, अहंकार, वर्गभेद, कामलोलुपता के प्रचुर उदाहरण दिखाई दे रहे हैं । इससे स्पष्ट है कि अर्थ की सामर्थ्य सीमित है, इसका लक्ष्य सीमित है और अर्थ ही मानव का सर्वस्व नहीं है ।

अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का मार्ग तो प्रशस्त करता है किन्तु वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए अर्थ की पात्रता व मर्यादा निश्चित नहीं करता। अर्थ के संग्रह, वस्तु के उपभोग की व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सन्दर्भ में पात्रता सुनिश्चित नहीं करता, अर्थ के कारण समाज में घटने वाले अनर्थों से उसका कोई सरोकार नहीं। वह मुनि बनने की संभावना वाले मनुष्य को मुनीम बनाकर गौरव का अनुभव करता है।

अत: अर्थशास्त्र मानव-समाज में अनेक समस्याओं का जन्मदाता है तथा उसके गौरव को संकुचित करनेवाला शास्त्र है। फिर भी समस्याओं के एक मूल दारिद्य को दूर करने में इसकी सीमित भूमिका के लिए इसे राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा कम हानिकारक माना जा सकता है।

३. समाजशास्त्र–

परिवार को लघुतम इकाई मानकर उसके द्वारा समाज के कल्याण का संकल्प लेने वाला यह शास्त्र भी अपने मूल्यों और मानदण्डों के लिए कभी धर्मशास्त्र, कभी राजनीतिशास्त्र और कभी अर्थशास्त्र पर निर्भर रहता है। देश-काल, के संन्दर्भ में इसके मूल्य भी बदलते रहते हैं। वर्ण, वर्ग, जाति, लिङ्ग आदि के भेदों ने इसके समाज में विश्व मानव के लिए कोई स्थान सुरक्षित नहीं रखा है। इसने मनुष्य पर जाति, वर्ग, धर्म के लेबिल लगा कर उसकी सही पहिचान से उसे वंचित किया है। रीति-रिवाजों, अन्धविश्वासों के क्रिया-कलापों में उसे व्यस्त और त्रस्त रखकर उसके स्वातंत्र्य और गौरव को संकुचित किया है। अत: यह शास्त्र विश्वकल्याण का लक्ष्य रखते हुए भी परशास्त्राभिमुखता के कारण अपने सीमित लक्ष्य को प्राप्त करने में भी असमर्थ रहा है तथा समाधान देने की अपेक्षा समस्याएँ बढ़ाने में अग्रणी रहा है।

भारत के सन्दर्भ में देखें तो जनसंख्या–नियंत्रण, बालविवाह, दहेज़, नारी-स्वातंत्र्य, पारिवारिक-विघटन, जातिवाद, विवाह-संस्था आदि की अवधारणाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। कभी इन्हें समस्या कहा गया, कभी समाधान।

एक राजनीतिक, धार्मिक विचारधारा के प्रभाव में एक समाज, जिस

आचरण को उचित मानता है दूसरा समाज उसी को असामाजिक ।

४. सबके स्वास्थ्य की चिन्ता से सतत अस्वस्थ रहने वाला चिकित्साशास्त्र अद्यावधि स्वास्थ्य की परिभाषाओं, बीमारी के कारणों और चिकित्सा उपायों के सार्वकालिक निष्कर्षों के बारे में भ्रम और अनिश्चय की स्थिति में है । सबको स्वस्थ बनाने के संकल्प की शपथ लेने वाले इस शास्त्र के साथ विडम्बना यह है कि इसके मत में कोई भी मनुष्य पूर्ण स्वस्थ नहीं है । इस शास्त्र में भी देशकाल के भेद से सुस्वास्थ्य के नियम बदलते रहते हैं । यह मानव शरीर को यन्त्रवत् समझकर प्रवृत्त होता है और आत्मा, चैतन्य, जन्म-जरा-मृत्यु, मानसिक चमत्कारों को एक सीमित दायरे में ही देख-परख सकता है । शरीर-मन के अनेकानेक आध्यात्मिक प्रश्नों, मृत्यु के पूर्व और पश्चात् के जीवन आदि पर यह कुछ भी टिप्पणी न कर पाने के लिए विवश है ।

५. शिक्षा—सबको शिक्षा, सुसंस्कार, सबका सर्वांगीण विकास, ज्ञान-विज्ञान, का आदान-प्रदान, जीवन-मूल्यों के परिचय और अभ्यास का यह परमोपयोगी शास्त्र भी देश-कालादि निरपेक्ष शिक्षा-दर्शन के बिना अपूर्ण और संकुचित है । राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के सदियों से चले आ रहे अनुचित हस्तक्षेप ने इस पवित्र समाधान को किस प्रकार समस्या बना दिया है इसका प्रमाण साम्प्रतिक शिक्षा-संस्थान स्वयं हैं । विश्वमानव के पूर्ण स्वरूप का आतमबोध कराने और लोककल्याण की पर्याप्त सामर्थ्य से सम्पन्न इस शास्त्र को कतिपय दुराग्रहों ने स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाकर इसे प्रदूषित किया है ।

६. धर्मशास्त्र विश्वमानव के उदात्त मूल्यों के अभ्यास का शास्त्र है । किन्तु धार्मिक सम्प्रदायों के व्यापक प्रभाव-प्रचार में साम्प्रदायिकता विस्तार पा गयी और विशुद्ध धर्मतत्त्व पीछे छूट गया । इसीलिए जो धर्म समाधान था, वह समस्या बन गया । मानवों का संयोजक, विभाजक बन गया शान्ति का दूत, युद्ध और संघर्ष का सूत्राधार बन गया । विभिन्न धर्मग्रन्थों और प्रधान आचार्यों के गिरि-उपदेशों से निकली धार्मिक जीवन-शैलियों की सरिताएँ विश्वशान्ति और विश्वकल्याण के महासागर तक पहुँचने से पूर्व ही साम्प्रदायिकता की बाढ़ बन गईं, सामाजिक विध्वंस का कारण बन गईं । राजनीति, अर्थ आदि के आकर्षक सितारों से खुद को सजाकर इस साध्वी ने अपने अनुभवों के वार्धक्य को विकृत कर लिया । इससे अन्य शास्त्रों को तो लाभ हुआ, किन्तु धर्म का गौरव धराशायी हो गया।

उसकी पावन सुगन्धि से विश्वमानव अपने जीवन को सुवासित करने से वंचित ही रहा। अन्य शास्त्रों से निराश और त्रस्त मानव ने अत्यन्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक गांगेय जल के लिए हाथ पसारे, किन्तु उसे पोखर-सा प्रदूषित पानी मिला।

दर्शन ने अन्य शास्त्रों की तुलना में धर्म को सदैव अधिक महत्त्व दिया है, उसे महत्तर माना है, अपना सहोदर बनाया है। विभिन्न सम्प्रदायों के उन्माद, दुष्प्रचार, परस्पर टकराव, दुरुपयोग आदि को नियन्त्रित और अनुशासित करने तथा उसे न्यायपूर्ण, सुसंगत और वास्तविक अर्थ में कल्याणकारी बनाने की सामर्थ्य केवल दर्शन में है। दर्शन ही धर्म के सत्य-शुभ, सुख-कल्याण को सुदृष्ट तार्किक आधार दे सकता है, अन्य शास्त्रों की आलोचना से उसकी रक्षा कर सकता है। अतः धर्म जब तक और जितना दर्शन की ठोस जमीन पर खड़ा है तब तक और उतना वह समाधान है, अन्यथा समस्या है।

अशिक्षा, अहंकार और दारिद्र्य जैसी मूलभूत समस्याओं के समाधान में प्रत्यक्ष शास्त्रों की सामर्थ्य और सीमाओं के उपर्युक्त आकलन के बाद, सूत्ररूप में सामान्य दर्शन-दृष्टि से इन पर टिप्पणी आवश्यक है।

लोक-व्यवहार में एक विशेष प्रकार का त्रिक दिखाई देता है, जिसे विविध प्रसंगों में भोक्ता, भोग्य और भोग, शोषक, शोषित और शोषण, प्रशासक, प्रशासित और प्रशासन, भक्त, भगवान् और भक्ति आदि शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है। दर्शन की शब्दावली में इसे स्व (अहम्), जगत् (इदम्) और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध कहा जाता है। अतः मनुष्य के अपने और जगत् के वास्तविक स्वरूप के साथ दोनों के परस्पर यथार्थ सम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान शिक्षा है तथा इससे भिन्न या अन्यथा ज्ञान अथवा इस सम्यक् ज्ञान की उपेक्षा करना अशिक्षा है। जिस शिक्षा में इन तीनों ज्ञानों का जितना सुन्दर समन्वय होगा वह शिक्षा उतनी ही सार्थक, सुखद और सभी के लिए कल्याणप्रद होगी।

मानव के विकास का इतिहास देखें अथवा उसके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की घटनाओं, संघर्षों, तनावों और टकरावों का विश्लेषण करें तो सबके मूल में, अहंकार का ही बीज दिखाई देता है। यह अहंकार कभी व्यक्ति, कभी जाति और कभी समाज, दल, राष्ट्र या मानव समूह के नाम पर उभरता है, किन्तु होता यह अहंकार ही है। दर्शन

और दार्शनिक जिस ईमानदारी, दृढता और तीक्ष्णता से इसे मानव की नाना समस्याओं का मूल घोषित करते हैं, इस पर चोट करते हैं और इसे विगलित करने के उपाय बताते हैं वह अद्वितीय और विलक्षण है।

इसी प्रकार दर्शन की दृष्टि में दारिद्र्य की जननी तृष्णा है तथा इसका विनाश ही दारिद्र्य का स्थाई समाधान है ।

अन्य प्रत्यक्षशास्त्र अशिक्षा, अहंकार और दारिद्र्य जैसी मूलभूत समस्याओं के मूल का अनुसंधान किये बिना उनका सतही और क्षणिक समाधान खोजते हैं तथा कभी-कभी समाधान के स्थान पर, जाने-अनजाने उक्त समस्याओं को बढ़ाने में सहायक बन जाते हैं और तब भी केवल क्षणिक वर्तमान और प्रत्यक्ष से जुड़े होने के कारण दर्शन की तुलना में अधिक प्रासङ्गिक मान लिये जाते हैं । यह सर्वथा अनुचित है । काल की व्यापकता और समाधान के स्थायित्व आदि की दृष्टि से इन प्रत्यक्ष शास्त्रों की वर्तमान में प्रासङ्गिकता गुण होते हुए भी दोष है, जबकि भेदभावों से परे मानवमात्र के कल्याण का सार्वकालिक स्थायी समाधान प्रस्तुत करने वाले दर्शनशास्त्र को, वर्तमान मात्र को महत्त्व न देने कारण यदि अप्रासङ्गिक कहा जाए, तो यह उसके लिए दूषण नहीं, भूषण ही है ।

सूर्य प्रकाश व्यास

संस्कृत विद्या तथा
धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१००५
(उ. प्र.)

# साहित्य में वस्तु और रूप : संदर्भ मुक्तिबोध

मनुष्य से वस्तु और रूप का सम्बन्ध

मनुष्य की सौन्दर्य चेतना जो कला और साहित्य में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है वह उसकी सामाजिक चेतना का अमूर्त्तन ही है । भाषा और मस्तिष्क दोनों का विकास श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन की शर्तों के द्वारा हुआ है । प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष का इतिहास औजारों और सहयोग के द्वारा उसके मस्तिष्क का इतिहास है । सुन्दरता की धारणा का विकास प्राणिज वातावरण से सामूहिकता के अनुभव के द्वारा होता है । मनुष्य के अस्तित्व की अनिवार्य शर्तें और उसके लिए किये जाने वाले उत्पादन के मध्य के सामूहिक और वैयक्तिक अनुभव सौन्दर्य-बोध और मूल्य-बोध दोनों का निर्माण करते हैं । प्रत्येक सौन्दर्य-चेतना विकसित होती रहती है । वह भौतिक उत्पादन के तर्क से नये वस्तु-तत्त्वों का सृजन करती है । निरंतर संस्कारित होते हुए तकनीकी विकास जिस प्रकार से उत्पादन शक्तियों में वृद्धि कर देते हैं उसी प्रकार से सौन्दर्य-चेतना भी संस्कारित होकर साहित्य को संस्कारित करती है । भौतिक उत्पादन के बदलते ही बौद्धिक उत्पादन का चरित्र भी बदल जाता है । विचारों का इतिहास यही सिद्ध करता है । साहित्य के संदर्भ में भी यही सत्य है । मनुष्य के जीने की शर्त बदलते ही मनुष्य की चेतना बदल जाती है । जिसके कारण साहित्य के आधार भूत तत्त्व सामाजिक वातावरण और चेतना दोनों के बदलाव से साहित्य का वस्तुतत्त्व बदल जाता है। कालान्तर में जब नये वस्तुतत्त्व के प्रभाव से धीरे-धीरे समाज की अन्तर्वस्तु का गुणात्मक स्वरूप बदल जाता है तो कलात्मक रूप भी बदल जाता है । वस्तुतः वस्तुतत्त्व और कलात्मक रूप का सम्बन्ध मूलाकार और अधिरचना से है । मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार मूलाधार और अधिरचना के बीच का सम्बन्ध इस प्रकार से है–

१) उत्पादन शक्तियों के विकास की स्थिति ।

२) इन शक्तियों के द्वारा निर्धारित आर्थिक सम्बन्ध ।

३) प्राप्त आर्थिक आधार पर विकसित सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था।

४) उस समाज में रहने वाले लोगों के सोचने की आदत, जो कुछ तो सीधे प्राप्त आर्थिक स्थितियों से और कुछ उस समग्र सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था से जो उस आर्थिक नींव पर खड़ा है, निर्धारित होती है।

५) विभिन्न विचार-धाराएँ जो उस सोचने की प्रणाली के मूल गुणों को बताती है।

साहित्य में वस्तु-तत्त्व

साहित्य में ''वस्तु-तत्त्व'' मात्र भौतिक परिस्थिति के संदर्भ में मनुष्य की स्थिति और सामाजिक सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक परिणतियों का पर्याय ही नहीं होता है। उसमें उस काल-विशेष का समग्र ऐतिहासिक विकास, आधार और अधिरचना के सभी गुणात्मक परिवर्तनों की प्रतीति भी विद्यमान रहती है। मनुष्य स्वयं भी भौतिक परिस्थिति का अंग होता है। उसके द्वारा अर्जित ज्ञान राशि और अभिव्यक्ति के सभी माध्यम-साहित्य, कला आदि वस्तु-तत्त्व के निर्माण में उसी प्रकार से सहायक होते हैं, जैसे मजदूर श्रम-प्रक्रिया के विभिन्न तार्किक परिणतियों के परिणाम स्वरूप स्वयं भी उत्पादन शक्ति होता है। *''साहित्य की दृष्टि से वस्तु-तत्त्व का तात्पर्य है वह वस्तु जो मनुष्य ही हो– मनुष्य का पर्याय हो।''*[१]

''मनुष्य होने का तात्पर्य वस्तुओं से सम्बन्ध होना, सामाजिक होना है। उत्पादन में लीन व्यक्ति ही, श्रम-प्रक्रिया के तर्क से सामाजिक होता है।''[२] घोषित मनुष्यता या प्रचारित मनुष्यता के तत्त्व वस्तु के बजाय वस्तु-तत्त्व को छिपाने के साधन भी हो सकते हैं। वस्तु-तत्त्व साहित्य में ''मनुष्य'' के होने का प्रमाण है। मार्क्स के अनुसार वह ''समाज-तत्त्व'' का पर्याय है। और रूप मनुष्य के रहने के विभिन्न तरीकों का रूपान्तरण है। मनुष्य होने का तात्पर्य वस्तुओं से सम्बन्ध होना, सामाजिक होना है। उभरते हुए क्रान्ति वर्ग के साहित्य में नवीनता के कारण यथार्थ का जीवित स्पंदन रहता है। इस वर्ग में कालात्मकता ज्यादा नहीं रहती। एक प्रकार का अनगढपन पाया जाता है, पर जो नये वर्ग के वस्तु-तत्त्व और चेतना के कारण होता है। परन्तु धीरे-धीरे द्वन्द्वात्मकता के तर्क से वह वस्तु-तत्त्व भी कलात्मक रूपों को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे रूस ने पूँजीवादी औद्योगिक साधनों का ग्रहण कर लिया है। साहित्य में वस्तु-तत्त्व की काल्पनिक रचना एक प्रकार से आदर्शवादी सिद्धान्त है। विचार के द्वारा अस्तित्व का निर्धारण होता है। पहली प्रक्रिया रूपवादी है, दूँसरी प्रक्रिया वस्तुवादी है। अनेक मार्क्सवादी रचनाकार इस द्वन्द्व से परेशान रहे हैं। मुक्तिबोध और शमशेर का द्वन्द्व इसी प्रकार

का है। मुक्तिबोध का अनुभव और सिद्धान्त का द्वन्द्व उनकी कविताओं में भी है। "अंधेरे में" कविता इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसमें वस्तु-तत्त्व का अतिरेक रूप का निर्धारण करता है। वास्तविक रचना वही है जिसमें रूप का अनुभव हो ही नहीं। इसीलिए निरंतर यथार्थ को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। वस्तु शून्य से ही पैदा होती है। वस्तु-तत्त्व का निरंतर दोहराना जड़ता का प्रतीक है। हिन्दी में प्रेम-चन्द, यशपाल आदि की रचनाओं में जो वस्तुतत्त्व है वह आज का वस्तु-तत्त्व नहीं हो सकता। क्योंकि, वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध सदा काल-विशेष के मानवीय सम्बन्धों और उत्पादन-शक्तियों से ही होता है। कल का यथार्थ आज का यथार्थ नहीं हो सकता है। *"किसी भी समय का साहित्यिक रूपाकार तब तक ध्वस्त नहीं होता है जब तक कि उसके आधारभूत समाज में ही परिवर्तन की स्थितियाँ न पैदा हो जाय। और जब उस मूलभूत सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन-शक्तियों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है तो भी साहित्य के वस्तु-तत्त्व में परिवर्तन होता है।"*[३]

साहित्य में यथार्थ का अमूर्तन और प्रस्तुतीकरण दोनों ही हो सकता है। परन्तु अमूर्तन और प्रस्तुतीकरण दोनों का सम्बन्ध द्रष्टा की विकसित चेतना से होता है। चुनाव का प्रश्न इसी चेतना के संदर्भ में ही उठता है। इसीलिए "ध्येय" महत्त्वपूर्ण होता है। मुक्तिबोध का तीसरा क्षण प्रथम क्षण के द्वन्द्वात्मक परिणति का ही परिणाम है। "इसी तीसरे क्षण में ही संवेदनात्मक ज्ञान" और ज्ञानात्मक संवेदन के परिणामस्वरूप अनुभव एक विशेष ध्येय के अनुसार वस्तु तत्त्व में परिवर्तित होकर रूप ग्रहण करता है।"[४]

वस्तुतः वस्तु-तत्त्व भिन्न नहीं हो सकते हैं। परन्तु शासक वर्ग उसे अपनी प्रकृति के अनुसार व्याख्यायित करता है। साहित्य के संदर्भ में इन तत्त्वों का विवेचन करते समय साहित्य के ऐतिहासिक और वर्गीय विकास को ज्ञान के द्वन्द्वात्मक नियमों और उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों के अन्तर्विरोधों को भी ध्यान में रखना चाहिए। मार्क्सवादी दृष्टि से वस्तु-तत्त्व और कलात्मक रूप का सम्बन्ध मात्र सैद्धांतिक ही नहीं, व्यवहारात्मक भी है। लू सुन ने लिखने के ढंग पर विचार करते हुए चार नियम निर्धारित किये हैं। उसमें वस्तु-तत्त्व और रूप-तत्त्व, दोनों पर एक साथ विचार किया गया। वे नियम हैं-

१) सभी प्रकार की वस्तुओं पर सूक्ष्म रूप से ध्यान दो, उनका ज्यादा से ज्यादा निरीक्षण करो और अगर आपने केवल बहुत थोड़ा निरीक्षण किया है, तो उनके बारे में मत लिखो।

२) जब आप के पास कहने के लिए कुछ न हो तो उस समय अपने को लिखने के लिए बाध्य मत करो ।

३) कोई चीज लिखने के बाद कम से कम दो बार उसको अवश्य दोहराओ और उसमें से अनावश्यक शब्दों, वाक्यों और पैराग्राफों को बिना किसी अफसोस के बाहर निकाल दो । समूचे उपन्यास की साम्रगी को एक रेखाचित्र में भर दो । लेकिन रेखाचित्र की सामग्री को बढ़ाकर उपन्यास के रूप में कभी मत पेश करो ।

४) ऐसे नये-नये विशेषणें या अन्य शब्दों को मत गढ़ो जा आपके सिवाय और किसी के लिए बोधगम्य न हों ।''[५]

मनुष्य का प्रकृति से निरंतर संघर्ष और उसके परिणाम उसकी विजय और शक्ति को ही प्रभावित करते हैं । इसलिए साहित्य में ''सामाजिक मनुष्य'' को दिखायी पड़ना चाहिए । वस्तु-तत्त्व और कलात्मक रूप का सम्बन्ध श्रम की प्रक्रिया में प्रयुक्त औजारों सहित मनुष्य से है । वास्तविक साहित्य मनुष्य को ही प्रतिष्ठापित करता है । मानवीय वस्तु और वस्तु-युक्त मानव की द्वन्द्वात्मक परिणतियों ही साहित्य को मूल्यवत्ता प्रदान करती हैं ।

### वस्तु और रूप की भिन्नता

यथार्थ के सम्बन्ध में हमारी धारणा व्यापक और राजनैतिक सौन्दर्यात्मक विधि-''निषेधों'' से मुक्त होनी चाहिए । किसी भी समय का साहित्यिक रूपाकार तब तक ध्वस्त नहीं होता है, जब तक कि उसके आधारभूत समाज में ही परिवर्तन की स्थितियाँ न पैदा हो जाय । जब उस मूलभूत सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन-शक्तियों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है तो भी साहित्य के वस्तु-तत्त्व में परिवर्तन होता है । इसका प्रमाण साहित्य में व्यक्त विद्रोह आदि की भावनाओं से मिल सकता है । परन्तु वह विद्रोह वर्ग के अन्तर्गत एक प्रकार के सुधार की इच्छा का परिणाम होता है । उससे रूपाकार में परिवर्तन नहीं होता।

साहित्य में वस्तु और रूप भिन्न नहीं हैं और न ही इन्हें परस्पर विरोधी समझा जा सकता है । पुराने वस्तु-तत्त्व के भीतर ही नये की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है । लेकिन इससे कभी भी रूप नहीं बदलता है । रूपाकार को भाव या वस्तु-तत्त्व के साथ घुलकर एक इकाई होना चाहिए । साहित्य-वस्तु का एक मात्र आधार यदि कोई भी हो सकता है तो इहलोक ही हो सकता है । इसलिए

साहित्य की रचनात्मक शक्तियों का विवेचन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । वस्तु-शून्य साहित्य अत्यंत सुन्दर मृत शरीर की भाँति है । इसलिए मुक्तिबोध कविता में रूप की अपेक्षा वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं । उन्होंने कहा है कि– ''वस्तु-तत्त्व में इतनी शक्ति होती है कि वह स्वयं अपने रूप को लेकर आता है । अतएव मुख्यत: हमारे लिए वस्तु-तत्त्व प्रधान हो जाता है ।''[६] वस्तु-तत्त्व तो सामाजिक तत्त्व ही है । वस्तु-तत्त्व और कलात्मक रूप का सम्बन्ध श्रम की प्रक्रिया में प्रयुक्त औजारों सहित मनुष्य से है । [illegible] वस्तु और वस्तु युक्त मानव की द्वन्द्वात्मक परिणतियाँ ही साहित्य को मूल्यवत्ता प्रदान करती हैं ।

वस्तु-तत्त्व और रूप की एकता लोकप्रियता और स्वरात्मकता की भावना से युक्त होने पर साहित्य को महत्त्वपूर्णता और मूल्यवत्ता प्रदान करती है । इसलिए मुक्तिबोध वस्तु और रूप की एकीभूत संघनित स्थिति कला के लिए आवश्यक मानते हैं । वे यह भी मानते हैं कि कलाकार के लिए स्वनिर्मित साँचा या सौन्दर्य सम्बन्धी नमूना आगे चलकर बाधक हो सकता है । इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– ''आप मानिए या न मानिए मेरा तर्जुबा यह है कि रचनाकार के मन में कोई नमूना, कोई डिजाइन, कोई पैटर्न होता जरूर है । लेखक यह कोशिश करता है कि उसकी कृति उस नमूने के समीपतर हो । सौन्दर्य सम्बन्धी लेखक की वह मान्यता जिसके अनुसार वह रचना करता है, रचना प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । होता यह है कि सौन्दर्य सम्बन्धी वे कल्पना-कृतियाँ, वे धारणाएँ, कभी-कभी अपने ही वस्तु-तत्त्वों के अभिव्यक्ति रूपों के विरुद्ध पूर्वाग्रह भी बन जाती हैं । इन पूर्वाग्रहों के कारण वे अभिव्यक्ति-रूप काव्य में स्थान नहीं ले पाते । दूसरे शब्दों में या तो वस्तु-तत्त्व ही काट कर फेंक दिए जाते हैं या उन्हें ऐसी अभिव्यक्ति दी जाती है, जो उनकी मूल अभिव्यक्ति स्वभावत: नहीं होती है ।''[७] ''जहाँ तक सौन्दर्य रूपगत है, वहाँ तक उसकी अनुभूति सार्वभौमिक है । प्रत्येक देश और काल का व्यक्ति सौन्दर्य का निरंतर अनुभव करता रहता है । वस्तु का नाश हो सकता है, उसके सौन्दर्य का नहीं । इस अर्थ में सौन्दर्य एक सीमा तक शाश्वत सत्य भी माना जा सकता है ।''[८] वस्तु-तत्त्व जनता को एक नई दृष्टि देकर उन्हें जागरूक बनाता है । वह जनता की उत्पादक शक्ति भी होता है ।

### रचना में वस्तु और रूप

रचना में वस्तु और रूप की संश्लिष्ट स्थिति पर विचार की परम्परा नयी नहीं है । वस्तु क्या है? रूप से क्या तात्पर्य है? दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है? वस्तु रूप को किस सीमा तक प्रभावित करती है और रूप किस प्रकार वस्तु

को अनुशासित करता है? इन प्रश्नों पर मुक्तिबोध ने गहराई से विचार किया।

मुक्तिबोध विषय और वस्तु को एक नहीं मानते । उन्होंने अपनी बात स्पष्ट करने के लिए बताया है कि *वाल्मीकिरामायण* और *रामचरितमानस* दोनों का विषय एक है, किन्तु दोनों के वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हैं । मुक्तिबोध की दृष्टि में विषय व्यापक होता है और वस्तु सीमित । वस्तु-तत्त्व की सारगार्भित व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि "सच तो यह है कि काव्य का वस्तु-तत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो कि कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है । हाँ, यह सही है कि इस मनस्तत्त्व का आधार-करण कवि की प्रकृति और जीवन-जगत् इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया के गुम्फों से तैयार हुआ है ।"[९] वस्तु अपना रूप लेकर अभिव्यक्त होती है, जिसे हम शब्द, स्वर, रंग आदि के रूप में पहचानते हैं । इस स्थिति तक आने के पूर्व वस्तु-तत्त्व व्यक्तिबद्ध स्थिति से मुक्त होकर सम्प्रेषणीय हो चुका होता है । उसमें रचना-कर्ता के व्यापक अनुभव गुँफित हो चुके होते हैं । मुक्ति बोध मनस्तत्त्व को गतिशील मानते हैं । अभिव्यक्ति के भ्रम में वह समशील अन्तर्तत्त्वों से संयोग करता हुआ रूप-विकास या रूप-संशोधन करता जाता है ।

मुक्तिबोध ने वस्तु और रूप का प्रश्न नयी कविता के संदर्भ में उठाया है । उनका कहना है कि– "जब कभी कोई काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल-तत्त्वों के सम्बन्ध में सिद्धांतों के बारे में बहस शुरू हो जाती है । यदि इस विचार-विनिमय को वास्तववादी होना है तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे । एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियों को उसे समझना होगा, दूसरे, नये काव्य प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा । नयी-काव्य प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य प्रवरों और आलोचक-वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है । किन्तु यह चिन्ता की बात नहीं है । चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना नहीं उठ खड़ी हुई है, जो उसकी सीमाएँ बताये, अर्थात् उस प्रवृत्ति की व्यापक समीक्षा करें ।"[१०] नये युग के साथ परिवेश भी नया हो जाता है । नये परिवेश में आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष संवेदनशील कवि के लिए गहरी चुनौती बन जाते हैं । यह चुनौती उसके भीतर तनाव को जन्म देती है । ऐसी स्थिति में वस्तु और रूप के स्वरूप और दोनों के सम्बन्ध पर नये सिरे से विचार होने लगता है ।

रूप का विकास सारे जीवन से जुड़ा हुआ है । इसलिए आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है । उसके संघर्ष का यह त्रिविध रूप है (१) तत्त्व के लिए संघर्ष (२) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष (३)

दृष्टि विकास का संघर्ष । प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन, अवलोकन से है, दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है, और तीसरे का सम्बन्ध थियरी से है– विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है । यह त्रिविध संघर्ष है ।''[११]

कला में वस्तु और रूप

कला के वस्तु-तत्त्व अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का ही एक भाग है । वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के संचय से उद्वेलित अर्थात् (१) तरंगायित (२) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित (३) जीवनमूल्यों तथा पूर्वेतर अनुभवों से आलोकित (४) अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं । तरंगायित होकर जब वे मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं तभी उनमें रूप आ जाता है । कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है । बोधपक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है ।''[१२] काव्य का वस्तु-तत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो कि कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है । इस मनस्तत्त्व का आधार कवि की प्रकृति और जीवन-जगत् इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया के गुम्फों से तैयार हुआ है । इस सम्बन्ध में रमेश कुन्तल मेघ का कहना है ''अकसर वस्तु को विषय-वस्तु का अंग मान लिया जाता है । जब कि वस्तु का तात्पर्य कला के विशिष्ट तत्त्व (स्पेसिफिक्स) है । वस्तु के प्रति एक अहम् रवैया ही मानवीय यथार्थ है, जिसमें मानवीय क्रिया तथा मानवीय सहनशीलता दोनों ही शामिल हैं । वस्तु के प्रति खास रवैये के कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वस्तुगत यथार्थ का प्रतिपादन करता है ।''[१३]

कला वस्तु बनने के लिए मन की आँखों के सामने (१) तरंगायित (२) उद्घाटित (३) आलोकित (४) अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठना नितांत आवश्यक है । तरंगायित होने का सम्बन्ध आवेग से है । उद्घाटित होने की अवस्था का सम्बन्ध बोध-पक्ष से है, एक ऐसे बोध-पक्ष से जो ज्ञानात्मक आधार पर स्थिर होकर व्यक्तिबद्धता की स्थिति से अनुभवकर्ता को ऊँचा कर देता है । यहीं से रूप पक्ष भी आरम्भ हो जाता है । मनस्तत्त्व यहाँ रूप लेकर प्रस्तुत होता है । किन्तु यह रूप स्थिर नहीं है । यह कला का प्रथम क्षण है ।

कला का द्वितीय क्षण तब से आरंभ होता है, जब वह मनस्तत्त्व अन्य समशील मनस्तत्त्वों अथवा अनुभवों से मिल कर अधिक मूर्त, अधिक संश्लेषित तथा कल्पनालोकित हो जाता है । ऐसी स्थिति में कला के प्रथम क्षण में उपस्थित रूप कुछ-न-कुछ बदल जाता है, उसमें व्यापक अर्थ आ जाता है । वह किसी व्यापक महत्त्व की अनुभूति होने लगती है । इस अनुभूति को अनुभव-कर्ता शब्द,

स्वर, रंग में अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। यहाँ से कला का तृतीय क्षण आरंभ होता है। जब वह उन रूपों या रूप-क्रम की अभिव्यक्ति करने लगता है तब वे रूप बहुत कुछ बदल जाते हैं। तत्त्व अपना रूप लेकर उपस्थित होता है। किन्तु न यह तत्त्व स्थिर है और न यह रूप। यह हृदय में समशील तत्त्वों और अनुभवों से संयुक्त होता हुआ व्यापक अर्थवत्ता से अपने को परिपूर्ण करता जाता है। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध का कहना उचित ही है। उनके अनुसार– "कला के मनस्तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था आत्मसात्कृत जीवन जगत् ही है। अतएव कला के मनस्तत्त्व भी आत्मसात्कृत जीवन-जगत् ही का अंग है। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् और बाह्य जीवन-जगत् में हमेशा द्वन्द्व होता है; फिर सामंजस्य होता है, फिर द्वन्द्व होता है। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् मन के विकास-मान विशेष स्तर को उपस्थित करता है। पर स्वर क्रिया-प्रतिक्रिया करने वाले इन दोनों केन्द्रों में आधारभूत परस्पर सामंजस्य, साथ ही द्वन्द्व भी है। ये दोनों एक दूसरे को संशोधित परिवर्धित-परिवर्तित करते रहते हैं। इनका द्वन्द्व सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। सामंजस्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।"[१४]

कला के वस्तु-तत्त्व वे अन्तर्तत्त्व हैं, जो बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् किये हुए हैं। जो जीवन-मूल्यों द्वारा संयुक्त होकर मन की आँखों के सामने आलोकित और तरंगायित हो उठते हैं, वे कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए किसी न किसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण हैं। इस महत्त्व-भावना के अभाव में कलाभिव्यक्ति असम्भव है। कोई विषय कलाकार के विशेष दृष्टिकोण के कारण वस्तु का दर्जा पाता है। वस्तु किसी कृति में आदि से अंत तक होती है। मुक्तिबोध ने लिखा है– "आलोचना दो प्रकार की होती है : एक रूप की, दूसरी तत्त्व की। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्त्व पर ही अवलम्बित है। तत्त्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप निर्धारित और विकसित करता है। इसलिए तत्त्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभूत है।"[१५]

### वस्तु और रूप का अन्तस्सम्बन्ध

मुक्तिबोध ने वस्तु और रूप के अन्तस्सम्बन्ध के विषय में जो विचारणीय बात कही है, वह है सौन्दर्य की अपनी एक विशेष थियरी। एक विशिष्ट युग की विशिष्ट परिस्थितियों में एक विशेष भाव परम्परा को ही काव्य के लिए चुन लिया जाता है, और धीरे-धीरे उसकी अपनी एक शैलीगत रूढि बन जाती है। इस तथ्य के बावजूद प्रत्येक काव्यधारा के अधिकांश कवियों में रूप या शैली की दृष्टि से कुछ भिन्नता भी होती है। इसका कारण मुक्तिबोध ने सौन्दर्य-सम्बन्धी

व्यक्तिगत सिद्धान्त माना है । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है "आप मानिए या न मानिए मेरा यह तजुर्बा है कि रचनाकार के मन में सौन्दर्य का कोई नमूना कोई डिजाइन, कोई पैटर्न होता जरूर है । लेखक यह कोशिश करता है कि उसकी कृति नमूने के समीपतर हो ।"[१६]

वस्तु और रूप का सही रिश्ता होने के कारण समीक्षक के सम्मुख कठिनाई उपस्थित हो जाती है । वस्तु और रूप को लेकर एक सम्भ्रम उपस्थित हो जाता है । पंत के परवर्ती काव्य *लोकायतन* और *चिदम्बरा* इसके प्रमाण हैं । पंत की चिदम्बरा के सम्बन्ध में विचार करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है– "प्रकृति-चित्रों, मनःस्थितियों और मनोदशाओं को प्रकट करने की क्षमता रखने वाला उनका पुराना शिल्प नये का भार वहन न कर सका । सच तो यह है कि विशेष प्रकार के भावों को प्रकट करते रहने से उन भावों के अभिव्यक्ति की आदत पड़ जाती है । ...वे भाव और उनकी अभिव्यक्ति "कंडीशण्ड रिफ्लेक्स" का रूप धारण कर लेती है । अभिव्यक्ति में यांत्रिकता आ जाती है । *चिदम्बरा* में संकलित बहुत सी मनोदशात्मक या प्रकृति-चित्रात्मक कविताओं में वह पुरानी भाव-क्षमता नहीं है ।"[१७]

वस्तु एवं रूप दोनों से सम्बद्ध कंडीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज् बनने का नियम स्वाभाविक है । मुक्तिबोध इसे अगतिकता की निशानी मानते हैं । क्योंकि हर भिन्न वस्तु-तत्त्व के लिए भिन्न रूप भी अपेक्षित होता है । जहाँ तक वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध है, वह पुराने रूप में भी रहकर निरंतर गतिशील होता है । अतः वस्तु सम्बन्धी कण्डीशनिंग या आदतों का बदलना अनिवार्य और स्वाभाविक है । लेकिन रूप अधिक स्थिर होता है, उससे सम्बद्ध आदतें आसानी से नहीं छूटतीं । इसलिए कवि-कलाकार के लिए रूप सम्बन्धी "कंडीशण्ड रिफ्लेक्स" से अधिक सावधान रहने की जरूत होती है । रचना प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के संदर्भ में मुक्तिबोध ने रूप-रचना को अत्यंत कठिन और कष्टकर संघर्ष के रूप में स्वीकार किया है । मुक्तिबोध के इस विषय को मायकोवस्की के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

"कविता करना रेडियम निकालने की तरह है
वर्ष भर मेहनत और रत्ती भर प्राप्ति ।
कई बार हमें सिर्फ एक शब्द के लिए
वाणी की टनों कच्ची धातु बरबाद करनी होती है ।"[१८]

रूप सम्बन्धी समीक्षा से सम्बद्ध तीन मुख्य बिन्दु हमारे सामने उपस्थित होते है– (१) रूप का वस्तु -तत्त्व के प्रति पूर्ण अनुकूल होना (२) रूप की मौलिकता

और (३) रूप की सार्वजनीनता। फ्लेखानोव ने वस्तु या विचार की अभिव्यक्ति में रूप की पूर्ण अनुकूलता के सिद्धान्त को रूप की समीक्षा के लिए पूर्व और निरपेक्ष सिद्धांत की तरह स्थापित किया तो लूनाचार्स्की ने आपत्ति करते हुए कहा था कि– "रूप एक भ्रम-पूर्ण विचार की अभिव्यक्ति के लिए भी पूरी तरह अनुकूल हो सकता है।[१९] फ्लेखानोव ने इससे अपनी असहमती प्रकट करते हुए कहा है– "ड्राइंग ए बीयर डेड ओल्डमैन ब्युटी फुली डज नाट मीन ड्राइंग ए ब्युटीफुल ओल्डमैन।"[२०] जिस प्रकार का कला का वस्तुतत्त्व मानवीय तत्त्व होता है उसी प्रकार उसका रूप भी मानवीय रूप होता है। उसके निर्माण में मानव श्रम लगता है। इसीलिए वह मानवीय रूप होता है।

वस्तु और रूप की समीक्षा

समीक्षा के अन्तर्गत वस्तु और रूप के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने जो महत्त्वपूर्ण बात कही है, वह है नये और पुराने का झगड़ा। साहित्य के अन्तर्गत वस्तु और रूप का झगड़ा प्राय: नये और पुराने के झगड़े के रूप में उठाया गया है। लेकिन मुक्तिबोध की यह स्पष्ट मान्यता रही है कि साहित्य में यह झगड़ा सदा-सर्वदा नये पुराने का ही नहीं होता। वह दो विरोधी दृष्टियों का, दो रुख-रवैयों का अर्थात् दो विरोधी वर्गीय हितों का भी झगड़ा हो सकता है।

वस्तु और रूप के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने कहा है कि– वह समकालीन साहित्य और उसकी समीक्षा से अधिक सम्बन्धित है। इसमें वस्तु और रूप दोनों के द्वारा उपस्थित निषेध (सेंसर) मुख्य है। इन निषेधों के मूल में उन्होंने दो विरोधी वर्गीय रुचियों की सक्रियता को स्वीकार किया है। एक अभिजात मध्यमवर्गीय और दूसरी निम्न मध्यमवर्गीय। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है– "आगे चलकर जब कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य अभिव्यक्ति के साँचे में ढ़ालने लगता है... तब उसकी आँखों के सामने जो सौन्दर्य का प्रतिमान होता है, वह सौन्दर्य-प्रतिमान किसी सौन्दर्याभिरुचि ने, किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने उत्पन्न किया है? यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्ति-जन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि की वह फ्रेम मात्र व्यक्ति-जन्य नहीं है, अतएव यह प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक है कि उस वर्ग ने सौन्दर्याभिरुचि की उस फ्रेम का विकास किया तो क्यों किया, उसका औचित्य क्या है? सीमाएँ क्या हैं? आदि आदि। ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के लिए सेंसरों का विज्ञान करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर किन मनस्तत्त्वों के विरुद्ध हैं, क्यों हैं, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं।"[२१]

मुक्तिबोध सौन्दर्यानुभूति को वास्तविक जीवनानुभूति से भिन्न स्तर की और भिन्न श्रेणी की वस्तु मानते हैं। सौन्दर्यानुभूति जीवन के निगूढ क्षण में कल्पनोद्भासपूर्ण मानसिक द्रवण है। सौन्दर्यानुभूति, जीवनानुभूति और इसके द्वारा निर्मित भाव-व्यवस्था, ज्ञान-व्यवस्था और मूल्य-व्यवस्था वलयित, अनुशासित और निर्देशित होती है। ऐसी स्थिति में न तो सौन्दर्यानुभूति के क्षण की अखण्डता ही सिद्ध होती है और न जीवनानुभूति से उसकी विलगता ही। मुक्तिबोध की यह धारणा रही है कि सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति दोनों की एक साथ दो भिन्न कक्षाओं में समानान्तर गति संभव नहीं है। दोनों की समानांतरता की धारणा कवियों-विचारकों के दोहरे स्तर और दोहरे व्यक्तित्व की सूचक है। उनके निजी व्यक्तित्व और कवि-व्यक्तित्व के अन्तराल की सूचक है।

मुक्तिबोध ने नयी भाव-धारा के जड़ीभूत अभिव्यक्ति का खंडन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– "नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान् व्यक्ति अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन-अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। काव्यात्मक व्यक्तित्व जो एक बन्द संदूक (Closed System) बनता है (तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है, उसी को निबाहो) यह जुड़ी-भूत सौन्दर्याभिरुचि ही प्रस्तुत कर रहा है। ...यदि हमें वैविध्यपूर्ण परस्पर द्वन्द्वमय मानवजीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर त्यागने होंगे तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ्रेमों में संशोधन करते रहना होगा।"[२२]

सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण द्वारा भी मुक्तिबोध ने सौन्दर्यानुभूति के क्षण की अखण्डता का खण्डन किया है। कलासाधना का अधिकांश भाग सौन्दर्यानुभूति और कला-रचना के क्षणों से बाहर होता है। सौन्दर्यानुभूति किसी विशिष्ट दृश्य-घटना या भावना से सम्बद्ध होती है। सृजन-प्रक्रिया से गुजर कर ही वह कला-कृति का रूप धारण करती है। इस प्रक्रिया में कवि का निजी व्यक्तित्व निरंतर सक्रिय रहता है।

इस प्रकार एक प्रगतिवादी समीक्षक के रूप में मुक्तिबोध वस्तु और रूप सम्बन्धी वर्गीय वास्तविकताओं को उद्घाटित करते हैं। वस्तु में ही वे किसी रचना के औचित्य-स्थान का मूल बिन्दु ढूँढ़ते हैं। जिस तरह कवि-कर्म में उसी तरह समीक्षा में भी वे अपने हार्दिक लक्ष्य की दुर्दान्त आस्तिकता में विश्वास

करते हैं। उनकी दृष्टि में इसके बिना न वस्तु की कोई सार्थकता है और न रूप की ही।

हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
सेण्ट्रल युनिवर्सिटी, कैम्पस्,
हैदराबाद–५०० १३४ (आं. प्र.)

एम्. श्याम राव

टिप्पणियाँ

१. *मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र*– पृ. ७१.
२. *वहीं*
३. *मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र*– पृ. ८१.
४. *एक साहित्यिक की डायरी*– पृ. ७९ – मुक्तिबोध
५. *मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र*– "साहित्य में वस्तु और रूप:" सत्य प्रकाश मिश्र, पृ. ८५.
६. नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र– मुक्तिबोध– पृ. ६२.
७. वहीं, पृ. ४८.
८. सौन्दर्य-तत्त्व निरूपण– डॉ. एस.टी. नरसिंहाचारी– पृ. १०.
९. *मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि*– डॉ. प्रेमवृत तिवारी– पृ. २०.
१०. *मुक्तिबोध रचनावली*, भाग-५, नैमीचन्द जैन– पृ. १०-११.
११. *मुक्तिबोध रचनावली*, भाग-५– पृ. १२.
१२. *वहीं*, पृ. १२-१३.
१३. *साक्षी है सौन्दर्य-प्राश्निक*– डॉ. रमेश कुन्तल मेघ– पृ. २५०.
१४. मुक्तिबोध रचनावली भाग-५– पृ. १०१.
१५. *नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध*– मुक्तिबोध– पृ. ९९.
१६. मुक्तिवोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता– लल्लन राय– पृ. ९९-१००.
१७. वहीं, पृ. १००.
१८. मुक्तिबोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता– लल्लन राय– पृ. १०१.
१९. वहीं, पृ. १०३.
२०. वहीं
२१. *नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध*– मुक्तिबोध– पृ. २८.
२२. कामायनी : एक पुनर्विचार– मुक्तिबोध– पृ. १६५-६६.

# योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा की भूमिका

आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिए क्रियात्मक साधना की आवश्वकता होती है, जिससे यह ज्ञान शब्द मात्र न रहकर अनुभव का विषय बन जाए और मनुष्य उस पर निरन्तर ड़टा रह सके । उसके लिए योगमार्ग ही सबसे प्रभावशाली है । ''योग'' शब्द का शाब्दिक अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन है । पातञ्जल योगदर्शन में ''योग'' शब्द युज् समाधौ धातु में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न है । महर्षि पतञ्जलि ने योग को चित्त की वृत्तियों का निरोध बताया है[१] । चित्त-वृत्तियों का निरोध समाधि में होता है, अत: यहाँ योग का अर्थ समाधि से है । समाधि-माध्यम से आत्मा को परमात्मा से जोड़ देने वाली प्रक्रिया का नाम योग है ।

व्यावहारिकता की दृष्टि से भारतीय दर्शनों में योगदर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भारतीय दर्शन का चरमलक्ष्य प्राणियों को त्रिविध दु:खों से सदा के लिए छुटकारा दिलाना ही है । दु:खों की यह शाश्वतिक निवृत्ति ही मोक्ष है । इसकी सिद्धि के लिए प्राय: सभी भारतीय दर्शन पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को अपरिहार्य उपाय मानते हैं । श्रुतियों ने भी ते ज्ञानान्न मुक्ति: का तथ्य स्वीकृत किया है। भारतीय दर्शन में पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को तत्त्वज्ञान, सम्यक् ज्ञान, तत्त्वसाक्षात्कार, परमज्ञान, विज्ञान आदि ही नहीं पर प्रसंख्यान और विवेकख्याति इत्यादि नाम दिए गए हैं । योग दर्शन में इस ज्ञानानुकूल योगसाधना को ''सम्प्रज्ञात समाधि'' की संज्ञा दी गयी है । ''सम्यक् प्रज्ञायते ध्येयस्मिन्निरोधविशेषरूपे योग इति सम्प्रज्ञातो योग: ।''[२] जो समाधि एकाग्रभूमि वाले चित्त में ध्येय वस्तु को पूर्ण रूप से प्रकाशित करती है ''सम्प्रज्ञात योग'' कहलाती है । इस समाधि में पदार्थों का शुद्ध ज्ञान बुद्धि की शुद्ध सात्त्विक वृत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है । चार प्रकार के ध्येय-पदार्थों का अनुगम करने के कारण यह समाधि चार प्रकार की है ।–

(१) वितर्कानुगत समाधि– जिसमें ध्येय-विषय के स्थूल रूप का सम्प्रज्ञान होता है ।[३]

(२) विचारानुगत समाधि– जिसमें ध्येय-विषय के सूक्ष्म रूप का सम्प्रज्ञान होता है ।[४]

(३) आनन्दानुगत समाधि– जिसमें ध्यानकारिणी बुद्धि से स्वत:स्फूर्त आनन्द का सम्प्रज्ञान होता है ।[५]

(४) अस्मितानुगत समाधि– जिसमें बुद्धि और पुरुष की प्रतीयमान एकाकारता से प्रकट होने वाले उभयस्वरूप विवेक का सम्प्रज्ञान होता है ।[६]

इन चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों के परिणामस्वरूप "अध्यात्म-प्रसाद" अर्थात् निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है ।[७] सत्त्वगुण के आधिक्य से योगी को सूक्ष्म परमाणु से लेकर प्रकृतिपर्यन्त ज्ञान की प्रबलता से अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है अर्थात् आत्म–प्रसन्नता होती है । "अध्यात्मं करणं बुद्धिरित्यर्थ:, तस्य प्रसाद: परम नैर्मल्यम् ।[८] व्यास भाष्य में इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है–

"प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्य: शोचतो जनात् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थ: सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ।"[९]

प्रज्ञा के प्रकाश पर आरूढ होकर योगी शोक करते हुए सभी प्राणियों को, भूमि पर रहने वालो को, पर्वत पर स्थित प्राणी की भांति देखाता है । प्रकाशस्वभाव वाले बुद्धिसत्तत्व की रजस्तम: सम्पर्क रहित निर्मल एकाग्रता–धारा ही वैशारद्य है। इस वैशारद्य स्थिति में जो बौद्धिक उत्कर्ष अर्थात् स्पष्ट प्रज्ञा-प्रकाश होता है उसका नोम ही "ऋतम्भरा प्रज्ञा" है ।

"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"[१०]

जिसे हम सत्य का उत्कृष्ट रूप समझ सकते हैं । इस काल में बुद्धि केवल सत्य का ही पालन करती है और कभी भी अविद्यादि क्लेशों से आच्छादित नहीं होती। उसमें मिथ्या ज्ञान का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता । कहा भी गया है–

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥"[११]

आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास का आनन्द इन तीन रीतियों से प्रज्ञान को साधते हुए उत्तमयोग को योगी प्राप्त करता है । कोई भी पदार्थगत विशेष आगमन और अनुमान का विषय नहीं वनता और इस सूक्ष्म अन्तरिम तथा दूरस्थ वस्तु के विशेषों का ग्रहण लौकिक प्रत्यक्ष से नहीं होता । भूतसूक्ष्मगत वा पुरुषगत विशेष समाधि

प्रज्ञा से ही ग्रहित होते हैं। इसलिए विशेषरूपी विषय वाली होने के कारण यह ऋतम्भरा प्रज्ञा आगम और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली होती है। इसके द्वारा अर्थ का विशेष रूप से साक्षात्कार होता है।[१२] वेद शास्त्र एवं प्राप्त पुरुषों के वचनों के आधार पर प्राप्त होने वाला ज्ञान और अनुमान युक्ति प्रमाण के आधार पर स्थापित ज्ञान से किसी पदार्थविषय की जानकारी सीमित होती है। परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा छिपे हुए रहस्यों का भी उद्घाट्न हो जाता है, जो साधारण बुद्धि से नहीं जाना जा सकता। इसलिए यह श्रुति और अनुमान वाली बुद्धि से उत्तम है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा से आत्मा तथा संसार के प्रत्येक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही वह अन्य प्रकार के उन संस्कारों को, जो अनेक जन्म जन्मान्तरों के संस्कार बीज-रूप से कर्माशय में पड़े रहते हैं और जो मनुष्य को संसार-चक्र में भटकाने वाले मुख्य कारण होते हैं, मिटा सकने में समर्थ होती है। इसके नाश से मुक्ति का लाभ हो सकता है।

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"[१३]

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थान संस्कारों का बाधक होता है। व्युत्थान का अर्थ है– अपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न संस्कार। ऐसी स्थिति में मनुष्यों के विचारों और संकल्प में अस्थिरता रहती है। वह उचित और अनुचित का निर्णय नहीं कर पाता। उसका मन संशयपूर्ण बना रहता है। पर जैसे– जैसे बुद्धि स्थिर और निर्मल होती जाती है, वैसे-वैसे व्युत्थान संस्कार दूर होते जाते हैं और मनुष्य को प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। तब उसका प्रकृति में और उसके कार्यों में स्वभाव से ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य के संस्कार पूर्वसंचित संस्कारों को नष्ट कर देते हैं। "तथा प्रज्ञा जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्थानजान् समाधिजांश्च संस्कारान प्रतिबध्नाति स्वकार्यकारणाक्षमान् करोतीत्यर्थः।"[१४] प्रज्ञाजन्य संस्कार क्लेशों के नाशक होने के कारण चित्त को अपने भोगापवर्गरूप कार्य से हटाते हैं, क्योंकि चित्त की क्रिया विवेकख्याति पर्यन्त ही होती है। विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर चित्त का सम्पूर्ण कार्य समाप्त हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा और उससे उत्पन्न प्रज्ञाजन्य संस्कार के समूह से भी चित्त कर्तव्यशून्य हो जाता है।

इस प्रकार ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा मनुष्य अपने कर्तव्य और धर्म को स्पष्ट रूप से देख और समझ सकता है। समाधि योग के विषय में ही नहीं, अपितु सांसारिक जीवन के संचालन में भी ऋतम्भराप्रज्ञा का होना कल्याणकारी है। उसी

के द्वारा हम विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों, सम्प्रदायों तथा ग्रन्थों के विरोधी मत में से अपने लिए सत्यमार्ग का निर्णय कर सकते हैं ।

द्वारा, श्री गंगा प्रसाद गुप्ता
२१, आवास निवास कालोनी,
बेतिया हाता,
गोरखपुर–२७३००१
(उ. प्र.)

सरिता रानी

## टिप्पणियाँ

१. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः– *पातञ्जल योगसूत्र* १/२

*श्री मद्भगवद्गीता* में भी योग शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है–

(अ) समत्वं योग उच्यते । –२/४८

(ब) योगः कर्मसु कौशलम् । – २/५०

(क) तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योगसंज्ञितम् । – ६/२३

२. *योगवार्तिक*

३. "स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः" – तत्त्ववैशारदी, पृष्ठ ५१ ।

४. "वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः सूक्ष्मो विचारः –भास्वती, पृष्ठ ५२

५. "नत्विन्द्रियाणां गोलका ग्रहण विषयास्ते हि स्थूलभूतान्तर्गता एवं, इन्द्रियशक्तय एवं ग्रहणम्।" – भास्वती, पृष्ठ १०८

६. "सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संविद् इति ।" तत्त्ववैशारदी, पृष्ठ–५४

७. आत्मनि बुद्धौ वर्तते इति अध्यात्मं तादृशः प्रसादः अध्यात्म प्रसादः ।– योगवार्तिके, पृष्ठ - १२५

८. भास्वती, पृष्ठ - १२६

९. योगसूत्र १/४७ पर व्यासभाष्य

१०. योगसूत्र १/४८

११. *पा. योगसूत्र* १/४८ पर *व्यासभाष्य*

१२. तथा लोकप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मलवहितविप्रकृष्टवस्तुनो न ग्रहणं दृश्यते । एवं प्रमाणिकस्य श्रुतानुमानलोक प्रत्यक्षाणीति त्रिविध प्रमाणै ग्राह्यस्य विशेषस्य रूपस्य सूक्ष्म विशेषः समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्यः । *भास्वती*, पृष्ठ-१२८

१३. *पा. योगसूत्र* १/५०

१४. *राजमार्तण्डवृत्ति*, पृष्ठ - २७

# कुंडलिनी योग

योग क्या है?

योग का शाब्दिक अर्थ 'जोड़ना' है । 'युज्' धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द का आध्यात्मिक संदर्भ है, आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा से जुड़ जावे, वही 'योग' है । बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों का निरोध कर स्वयं को अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया को भी 'योग' कहा गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोध सामान्यतः माया के प्रभाव से मुक्त होकर जब आत्मा सत्य का अनुभव कर समाधिस्थ हो परमात्मा के रूप में निमग्न हो जाती है, तब 'योग' सफल माना जाता है । 'योग' के अनेक प्रकारों में : (१) ज्ञानयोग, (२) राजयोग, (३) हठयोग, (४) मंत्रयोग और (५) कर्मयोग विशेष उल्लेखनीय हैं ।

आत्मा अनेक प्रकार से परमात्मा से संबद्ध हो सकती है । 'ज्ञानयोग' में ज्ञान के विकास से जब आत्मा विवेक और वैराग्य में अपने अस्तित्व को भूल जाती है और अस्तित्व के कण में परमात्मा का अविनाशी रूप देखती है, तब मुक्ति में दोनों का अविदित संमिलन हो जाता है । 'कर्मयोग' में आत्मा कार्यों का परिणाम सोचे बिना निष्काम भाव से कार्य कर परमात्मा में तल्लीन हो जाती है । *गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'कर्मयोग' (कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन) ही समझाया है । आत्मा, परमात्मा के नाम अथवा उससे संबद्ध किसी पंक्ति का उच्चारण करते-करते, ध्यानस्थ अवस्था में उससे मिल जाती है, तब 'मंत्रयोग' फलित होता है । अपने अंगों और श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए (हठयोग) एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए समाधिस्थ हो आत्मा जब ईश्वर से मिल जाती है, तब 'राजयोग' सफल होता है । 'हठयोग' और 'राजयोग' वस्तुतः एक ही भाग के दो अंग हैं । हृदय को संयत करने के पहले (राजयोग) अंगों को संयत करना आवश्यक है (हठयोग) । बिना 'हठयोग' के 'राजयोग' संभव नहीं । अतः

'हठयोग', 'राजयोग' की पहली सीढ़ी है– 'हठयोग' और 'राजयोग' मिलकर एक विशिष्ट योग की पूर्ति करते हैं ।

'हठयोग' का सारभूत तत्त्व तो बलपूर्वक ईश्वर से मिलना है । उसमें शारीरिक और मानसिक परिश्रम का आधिक्य है । शरीर को संयत करने के लिए कुछ आसनों का अभ्यास भी अनिवार्य है, विशेषकर श्वास का आवागमन संचालित करन पड़ता है और मन को संयत करने के लिए ध्यानादि की आवश्यकता होती है । *योग सूत्र* में योग-साधनभूत आठ अंगो का उल्लेख है :

"यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि ।"

(*पतंजलि योगदर्शन*-२–साधनपाद, सूत्र-२१)

अर्थात् (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि ।

'यम' और 'नियम' में आचार-शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है । 'यम' में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह होना अनिवार्य है (तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः – प.यो.सू. २– साधनपाद,, सूत्र-३०) । 'नियम' में पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान की प्रधानता है (शौच संतोप तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः – वहीं, सूत्र-३२) । 'आसन' (४६) में ईश्वरीय चिंतन के लिए शरीर की भिन्न-भिन्न स्थितियों का विचार है । शरीर की ऐसी दशा हो जिसमें वह स्थिर होकर हृदय को ईश्वरीय चिंतन के लिए उत्साहित करे । 'आसन' पर अधिकार हो जाने पर योगी शीत और ताप से अप्रभावित रहता है (ततो द्वन्द्वानभिघातः –४८) । *शिवसंहिता* के अनुसार आसनों की संख्या ८४ है (*शि. सं.* तृतीय पटल, श्लोक ८४) ।

'आसन' के सिद्ध हो जाने पर ही श्वास-प्रश्वास की गति नियमित करने वाले 'प्राणायाम' की शक्ति उद्भावित होती है (तस्मिन्त्सति श्वास प्रश्वास योर्गति विच्छेदः प्राणायामः– प.यो-२, साधनपाद, सूत्र-४९) 'प्राणायाम' बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'प्राणायाम' से अभिप्राय यही है कि वायु-स्नायु या स्नायु-केन्द्रों पर इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लिया जाय कि श्वासोच्छ्वास की गति नियमित और नादयुक्त हो जाय । 'प्राणायाम' से प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है और मन में एकाग्रता की योग्यता आ जाती है (ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्-सूत्र-६२) । 'प्राणायाम' में श्वास-प्रश्वास की वायु के विशेष नाम हैं । बहिर्गामी वायु का नाम 'रेचक', अन्तर्मुखी प्रश्वास 'पूरक' और अन्तः निरोधित वायु 'कुंभक' कहलाती है । *शिवसंहिता* तृतीय

पटल श्लोक-२२ में 'प्राणायाम' की आरम्भिक विधि का सुन्दर निरूपण मिलता है। वहाँ निरूपित है कि बुद्धिमान् आपने दाहिने अँगूठे से 'पिंगला' (नासिका का दक्षिण भाग) बंद करे। 'इडा' (नासिका का वाम भाग) से साँस भीतर खींचे और इस प्रकार यथाशक्ति वायु को अंदर ही बंद रखे। पश्चात् जोर से नहीं, धीरे-धीरे दक्षिण भाग से साँस बाहर निकाले। पुनः वह दाहिने भाग से साँस खींचे और यथाशक्ति उसे रोके रहे, फिर बायें भाग से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल दे।

'प्रत्याहार' में इन्द्रियां अपने कार्यों से अलग हटकर मन के अनुकूल हो जाती हैं। अपने विषयों की उपेक्षा कर इन्द्रियां चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है :

''स्वविषया संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः''
(प.यो.-२, साधनपाद, सूत्र-५४)

सामान्यतः मनुष्य की चित्तवृत्तियां बहिर्मुखी होती हैं। वह इन्द्रियों का दास होता है। इसीलिए इन्द्रियों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। योगी, प्राणायाम की साधना के बाद अपनी इन्द्रियों को अपने मन के अनुरूप बना लेता है। 'प्राणायाम' से मन नियंत्रित होता है, 'प्रत्याहार' से इंद्रियां।

'धारणा' में मन किसी स्थान अथवा वस्तु विशेष पर दृढ या केंद्रीभूत हो जाता है– देशबन्ध्यश्चित्तस्य धारणा (प.यो.-३, विभूतिपाद, सूत्र-१) 'ध्यान' में अनवरत रूप से वस्तुविशेष पर चिंतन कर अन्य विचारों की सीमा से मन को बाहर कर देना होता है (सूत्र-२)। 'धारणा' और 'ध्यान' के बाद 'समाधि' आती है। 'समाधि' में एकाग्रता चरमसीमा पर पहुँच जी है। जिस वस्तु विशेष का ध्यान किया जाता है, उसी वस्तु का आतंक सारे हृदय में इस प्रकार हो जाय कि हृदय अपने अस्तित्व को ही भुला दे। केवल एक भाव–एक विचार ही का प्रकाश रह जाय। उसी प्रकाश में हृदय समा जाय (सूत्र-३), मन शरीर से मुक्त होकर एक अनंत प्रकाश में लीन हो जाय (घेरंडसंहिता, सप्तमोपदेश -३)। यही तीनों- धारणा, ध्यान, समाधि- मिलकर संयम का रूप लेते हैं (प.यो.-३, विभूतिपाद, सूत्र-४)।

कुंडलिनी योग-प्रक्रिया :

'प्राणायाम' के अभ्यास से प्राणवायु के द्वारा शरीर में स्थित वायु-नाडियाँ और चक्र उत्तेजित होते हैं और उनमें शक्ति का संचार होता है। इसी से मनुष्य

में यौगिक शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। *शिवसंहिता* के अनुसार तो शरीर में ३,५०,००० नाड़ियाँ हैं। किन्तु 'प्राणायाम' की दृष्टि से दस नाडियाँ अधिक महत्त्व की हैं:

| | |
|---|---|
| १. इड़ा (शरीर के बायीं ओर) | २. पिंगला (शरीर के दाहिनी ओर) |
| ३. सुषुम्ना (शरीर के मध्य में) | ४. गंधारी (बायीं आँख में) |
| ५. हस्तिजिह्वा (दाहिनी आँख में) | ६. पुष्प (दक्षिण-कर्ण में) |
| ७. यशस्विनी (वामकर्ण में) | ८. अलमबुश (मुख में) |
| ९. कुहू (लिंगस्थान में) | १०. शंखिनी (मूलस्थान में) |

इन दस नाड़ियों में– इड़ा,. पिंगला, सुषुम्ना– तीन मुख्य हैं। 'इड़ा' मेरु-दंड की बायीं और है, वह 'सुषुम्ना' से लिपटती हुई नासिका के दक्षिण भाग की और जाती है (*शिवसंहिता,* द्वितीय पटल, श्लोक-२५)। 'पिंगला' मेरु-दंड के दाहिनी और है, वह 'सुषुम्न' से लिपटती हुई नासिका के वामभाग की ओर जाती है (श्लेक-२६)। ये दोनों नाड़ियाँ मूलाधार चक्र (गुह्यस्थान के समीप) से आरंभ होती हैं और नासिका में जाकर समाप्त होती हैं। 'सुषुम्ना' नाड़ी 'इड़ा' और 'पिंगला' के मध्य में है (श्लोक-२७)। उसकी छह स्थितियाँ हैं, छह शक्तियाँ हैं और उसमें छह कमल हैं। वह मेरुदंड से जाती है। नाभि-प्रदेश से उत्पन्न होकर मेरुदंड से होती हुई ब्रह्मचक्र में प्रवेश करने वाली 'सुषम्ना' जब कंठ के समीप आती है, तो दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक भाग तो 'त्रिकुटी' (दोनों भौंहों का मध्यभाग) में पहुँचकर ब्रह्मरन्ध्र से मिलता है और दूसरा भाग सिर के पीछे से होता हुआ ब्रह्मरंध्र से आ मिलता है (श्लोक-२३)। 'योग' में इसी दूसरे भाग की शक्तियों का वर्धन अनिवार्य माना गया है। इन तीनों नाड़ियों में थी 'सुषुम्ना' बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के द्वारा योगियों को सिद्धि प्राप्त होती है।

'सुषुम्ना' के अधोभाग में कुंडलिनी (सर्पाकार दिव्यशक्ति) निवास करती है:

"तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता, सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता–" (*शिवसंहिता,* द्वितीय पटल, श्लोक-२३)।

जब 'कुंडलिनी' प्राणायाम से जागृत हो जाती है, तब वह 'सुषुम्ना' के सहारे अग्रसर होती है। 'सुषुम्ना' के भिन्न-भिन्न अंगों से होती हुई और उनमें शक्ति का संचार करती हुई 'कुंडलिनी' 'ब्रह्मरन्ध्र' की ओर बढ़ती है। जैसे-जैसे वह अग्रसर होती है, मन भी शक्तियाँ प्राप्त करता जाता है। अंत में जब यह कुंडलिनी सहस्रदल कमल में पहुँचती है तो सब यौगिक क्रियाएँ सिद्ध हो जाती हैं तथा योगी, मन एवं शरीर से पृथक् हो जाता है। आत्मा पूर्णतः मुक्त हो जाती है।

'सुषुम्ना' की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ, जिन से होकर कुंडलिनी आगे बढती है, चक्रों के नाम से पुकारी जाती हैं । 'सुषुम्ना' में छह चक्र हैं । अधोभाग में स्थित चक्र 'बेसिकप्लेक्सस' (Basic Plexus) कहलाता है । यह मेरुदंड के नीचे तथा गुह्य और लिंग के मध्य में रहता है (शि.सं., पंचमपटल, श्लोक-५) । पीले रंग के इस चक्र में चार दल होते हैं और इसमें 'गणेश' का रूप ही आराधना का साधन है । इस चक्र में एक त्रिकोण आकार है, जिसमें 'कुंडलिनी' निवास करती है । उसका शरीर सर्प-सदृश साढ़े तीन बार मुडा हुआ है और वह अपने मुख में अपनी पूंछ दबाए हुए हैं । वह 'सुषुम्ना' नाड़ी के छिद्र के समीप स्थित है (शि.सं. पंचमपटल, श्लोक-५७)

'कुंडलिनी' संसार की सृजनशक्ति है । वह वाग्देवी है, जिसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता । वह सर्प के समान होती है और अपनी ही ज्योति से आलोकित है । 'कुंडलिनीं' के जागृत होने की प्रक्रिया समझने से पूर्व 'पंच-प्राण' का ज्ञान आवश्यक है । यह प्राण एक प्रकार की शक्ति है, जो शरीर में स्थित होकर शारीरिक कार्यों का संचालन करती है । इसे 'वायु' भी कहते हैं । शरीर में दस वायु हैं– प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय (*घेरंडसंहिता*, पंचमोपदेश, ६०) । इनमें से प्रथम पाँच मुख्य हैं । 'प्राण-वायु', हृदय प्रदेश का शासन करती है । 'अपान' नाभि के नीचे के भागों में व्याप्त है । 'समान' नाभि-प्रदेश में है । 'उदान' कंठ में है और 'व्यान' सारे शरीर में प्रवाहित है ।

योगी इन वायुओं को नाभि-मूल से ऊर्ध्वगामी करता है और प्राणायाम के द्वारा उन्हें साधता है । इन्हीं वायुओं की साधना कर 'सूर्यभेद कुंभक' प्राणायाम की विशिष्ट क्रिया के द्वारा योगी मृत्यु का विनाश करता है और कुंडलिनी शक्ति को जागृत करता है (घे.सं.,पं. ६८) ।

षट्चक्र-साधन

'मूलाधार' चक्र पर मनन करने से योगी को 'दुरदुरी सिद्धि' (मेढक-सदृश उछलने की शक्ति) प्राप्त होती है और शनैः शनैः वह पृथ्वी को सम्पूर्णतः छोड़कर आकाश में उड़ सकता है– "यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः तस्य स्याद् दुर्दुरी सिद्धि र्भूमित्यागक्रमेण वै (*शि.सं.* प्र.प., ६४ से ६७) । उसके शरीर का तेज उत्कृष्ट होता है, जठराग्नि बढ़ती है, शरीर रोगमुक्त हो जाता है, बुद्धि और सर्वज्ञता आती है । वह कारणों सहित भूत, वर्तमान और भविष्य जान जाता है। वह सुनी हुई विज्ञान शक्तियों, विद्याओं के रहस्य का ज्ञाता हो जाता है । उस

की जीभ पर सदैव सरस्वती नृत्य करती है । वह जप मात्र से मंत्रसिद्ध प्राप्त कर लेता है । वह जरा, और अगणित कष्टों को नष्ट कर देता है ।

'स्वाधिष्ठान चक्र', जिसके संकेताक्षर ब, भ, म, य, र, ल हैं, लिंगमूल में स्थित है *(शि.सं. पं.प.-७५)* रक्तवर्णी इस चक्र पर जो चिंतन करता है, उसे सभी सुन्दर देवांगनाएं प्यार करती हैं । वह विश्वभर में बंधन मुक्त और भयरहित होकर घूमता है । वह 'अणिमा' और 'लघिमा' सिद्धियों का स्वामी बन मृत्यु को जीत लेता है ।

'मणिपूरक चक्र' नाभि के समीप है । सुनहरे वर्ण के इस चक्र में दस दल हैं । इसके दलों के संकेताक्षर ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ हैं। इस चक्र (शि.सं. पं.प.-७९) पर चिंतन करने से योगी पाताल (सदैव सुखकर) सिद्धि प्राप्त करता है । वह इच्छाओं का स्वामी और रोंग-दुःख का नाशकर्ता हो जाता है । वह परकायाप्रवेश कर सकता है । वह स्वर्ण बना सकता है और गुप्त खजाना देख सकता है ।

हृदय स्थल में स्थित चक्र 'अनाहत' है । बारह दलीय इस चक्र के संकेताक्षार, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ हैं । जो योगी इस चक्र (८३) पर चिंतन करता है, वह असीम ज्ञान प्राप्त करता है । भूत, वर्तमान, और भविष्य जानता है । वह वायु में चला सकता है, उसे खेचरी (आकाशगमन) शक्ति प्राप्त हो जाती है ।

कंठ में स्थित चक्र 'विशुद्ध' है (१०) इसका वर्ण दैदीप्यमान स्वर्ण की तरह है । सोलह दलीय यह चक्र स्वर-ध्वनि का स्थल है । इसके संकेताक्षर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः हैं । योगी जब इस चक्र पर मनन करता है, तब वह वास्तव में योगेश्वर हो जाता है । वह चतुर्वेदों में निहित रहस्य का ज्ञाता हो जाता है । इस स्थल पर उसकी बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं । वह दीर्घजीवी हो जाता है ।

'त्रिकुटी' में अवस्थित चक्र 'आज्ञाचक्र' है (९६) । इसमें दो दल हैं; वर्ण श्वेत है; संकेताक्षर ह, ज हैं । यह प्रकाश-बीज है । इस पर चिंतन करने से ऊँची से ऊँची सफलता मिलती है (९८) । इसके दोनों ओर 'इड़ा' और 'पिंगला' हैं । वहीं मानों क्रमशः 'वरणा' और 'असी' हैं और यह स्थान 'वाराणसी' है। यहाँ 'विश्वनाथ' का वास है ।

कुंडलिनी- सुषुम्ना के इन षट्चक्रों को पार कर ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है । वहाँ 'सहस्र दल कमल' है । उस मध्य में एक चन्द्र है, जहाँ से सदैव अमृत प्रवित होता रहता है । वह अमृत 'इड़ा' नाड़ी के द्वारा प्रवाहित होता है । जो योगी नहीं है, उनके ब्रह्मरंध्र से जो अमृत प्रवाहित होता है, उसका शोषण 'मूलाधार' में स्थित सूर्य (१०६) के द्वारा हो जाता है और इस प्रकार वह नष्ट हो जाता है । इससे शरीर जरावस्था को प्राप्त होता है । यदि साधक इस प्रवाह को किसी प्रकार रोक दे और सूर्य के शोषण से बचाए तो उस अमृत को वह अपने शरीर की शक्तियों के वर्धन में लगा सकता है ।

'सहस्रदल कमल' तालुमूल में स्थित है (१२०) । वहीं पर 'सुषुम्ना' का छिद्र है- यही ब्रह्मरंध्र कहलाता है । तालुमूल से 'सुषुम्ना' का नीचे की ओर विस्तार है (१२१) । अंत में वह मूलाधार चक्र में पहुँचती है । वहीं से कुंडालिनी जागृत होकर सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर बढती है और अंत में ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है । ब्रह्मरंध्र में ब्रह्म की स्थिति है, जिसका जान योगी सदैव प्राप्त करना चाहता है । इस रंध्र में छह द्वार हैं, जिन्हें कुंडलिनी ही खोल सकती है । इसका बिंदु (०) सदृश रूप है । इसी स्थान पर प्राण-शक्ति संचित की जाती है । प्राणायाम की उत्कृष्ट स्थिति में इसी बिंदु में आत्मा ले जायी जाती है । इसी बिंदु में आत्मा शरीर से मुक्त होकर 'सोऽहं' का अनुभव करती है ।

हिन्दी विभाग — श्याम सनेही लाल शर्मा
कुसुमबाई जैन कन्या महाविद्यालय,
भिण्ड-४७७००१ (म. प्र.)

# INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
## PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad, **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

# नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२८)
## समवायिकारणता

पिछले लेख में यह बतलाया गया था कि कारणता नव्य-न्याय में तीन प्रकार की स्वीकार की गयी है– समवायिकारणता, असमवायिकारणता तथा निमित्तकारणता। कतिपय अन्य दर्शनों में दो ही कारण स्वीकार किये गये हैं– उपादान कारण (समवायि कारण) तथा निमित्त कारण । परन्तु नैयायिकों ने समवायि कारण और निमित्त कारण से भिन्न एक और कारण असमवायि कारण के रूप में स्वीकार किया है । असमवायि कारण को पृथक् कारण के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है इसकी चर्चा हम असमवायि कारणता के विवेचन के अवसर पर करेंगे ।

समवायि कारण को उपादान कारण के रूप में प्राय: सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है । नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत समवायि कारण तथा अन्य दार्शनिकों के द्वारा स्वीकार किया हुआ उपादान कारण यह एक ही है या उनमें कुछ भेद है इसकी चर्चा यथास्थान पर इसी लेख में आगे की जायगी ।

जहाँ समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण कहते हैं । जैसे, वस्त्र समवाय सम्वन्ध से तन्तुओं में उत्पन्न होता है । अत: तन्तु वस्त्र के समवायि कारण होते हैं । यहाँ यह ध्यातव्य है कि नैयायिकों के अनुसार अवयव और अवयवी में समवाय सम्बन्ध होता है । (समवाय सम्बन्ध के विषय में जानने के लिये देखिये *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, समवाय प्रकरण) अवयवी की उत्पत्ति अवयवों के मिलने से होती है । अत: अवयव अवयवी के समवायि कारण होते हैं । अवयव अनन्यथासिद्ध नियत पूर्ववृत्ति होने से कारण हैं । उनमें रहने वाली कारणता अन्य कारणों से भिन्न प्रकार की होती है । उदाहरण के लिये, वस्त्र के लिये तन्तु, तन्तुवाय, करछा इत्यादि सभी कारण हैं । परन्तु उन सब में रहने वाली कारणता का स्वरूप एक जैसा नहीं है । कारणता की भिन्न-रूपता के आधार पर नैयायिकों ने कारण के उपर्युक्त तीन प्रकार स्वीकार किये हैं ।

समवाय सम्बन्ध से जो कार्य जहाँ उत्पन्न होता है वह वस्तु उस कार्य के लिये समवायि कारण है ऐसा मानने पर घड़े का अर्धभाग (कपाल– प्राचीन काल में घडे के दो अर्धभाग पहले बना कर उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ कर घड़ा वनाया करते थे। इसको ध्यान में लेते हुए घट के कपाल याने अर्धभाग की बात आती है।) घट के लिये द्रव्य के रूप में समवायि कारण मानना पड़ेगा। कपाल घट के लिये कपाल के रूप में समवायि कारण हैं, द्रव्य के रूप में नहीं। अत: यह कहना पड़ेगा कि जिस स्वरूप से युक्त जो वस्तु अपनी कारणता के नियामक धर्म से युक्त वस्तु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है उस स्वरूप से युक्त पदार्थ के लिये उस स्वरूप से नियमित वस्तु समवायि कारण होती है।[१] उदाहरण के लिये, घटत्व स्वरूप से युक्त घट वस्तु अपने कारण (कपाल) के स्वरूप कपालत्व से युक्त में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। अत: घटत्व से युक्त वस्तु के लिये कपालत्व धर्म से युक्त कपाल-वस्तु कारण होती है। कपाल द्रव्यत्व से युक्त वस्तु होने पर भी उस रूप में घट के कारण नहीं हैं। अन्य पदार्थों का भी वह (द्रव्यत्व) रूप होने से ऐसे अन्य पदार्थ भी घट के कारण हैं ऐसा मानना पड़ेगा। अत: कपाल कपालत्व से युक्त-स्वरूप होने से ही घट का कारण है। इसी बात को गदाधर ने इस प्रकार परिष्कृत किया है। समवाय सम्बन्ध से नियमित कार्यता जिसकी प्रतियोगि (निरूपक) है ऐसी तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित होने वाली कारणता ही समवायि कारणता है।[२]

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जहाँ समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वहाँ वहाँ तादाम्य सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु समवायि कारण होती है। समवाय सम्बन्ध से कार्य जिस द्रव्य में उत्पन्न होता है वहाँ उस द्रव्य का उसी द्रव्य के साथ तादात्म्य होने से वह द्रव्य वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। सभी कार्य समवाय सम्बन्ध से किसी न किसी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। अत: कार्य का कोई भी रूप हो, समवायि कारण द्रव्य ही होता है। इसलिये कहा गया है- ''समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्''।[३]

अत: जहाँ कार्यता का नियामक सम्बन्ध समवाय हो और कारणता का नियामक सम्बन्ध तादात्म्य हो वह समवायि कारण होता है।[४] यद्यपि प्रत्यक्ष के लिये उसका विषय भी तादात्म्य सम्बन्ध से उसका कारण होता है, परन्तु वह उसका समवायि कारण नहीं है। क्योंकि विषय में रहने वाली कारणता समवाय सम्बन्ध से नियमित कार्यता से निरूपित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष-रूप कार्य विषय में समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं है। प्रत्यक्ष और विषय का सम्बन्ध विषय-विषयीभाव माना जाता है। उसी प्रकार इच्छा आदि गुणों के लिये ज्ञान समवायि कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान में रहने वाली इच्छा की कारणता तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित नहीं

है। सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उस वस्तु के विषय में इच्छा उत्पन्न होती है । जिस वस्तु का हमें किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है उसके प्रति हमारी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है । अतः इच्छा और ज्ञान में कार्य-कारण-भाव तो है, तथापि उनमें कार्य समवायि कारण-भाव नहीं है । क्योंकि ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इच्छा जिस आत्मा (जीव) में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है वहाँ ज्ञान तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं रहता है । ज्ञान और जीव का तादात्म्य नहीं है । और ज्ञान इच्छा का समवायि कारण नहीं है ।

उस धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) का समवायी होते हुए भी जो कारण हो वह समवायि कारण है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "जन्यानां जनकः कालः" इस नियम के अनुसार सभी जन्य वस्तुओं का कारण काल है । वह समवायि होने से जन्यमात्र का कारण होने से समवायि कारण हो जायगा । अतः उपर्युक्त परिभाषा समीचित नहीं है ।' क्योंकि काल जन्यमात्र का निमित्त कारण मात्र है, समवायि कारण नहीं है । अब यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि काल को जन्य मात्र वस्तु का समवायि कारण मानने में क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि नैयायिकों के मतानुसार समवायि कारण या असमवायि कारण के नष्ट होने पर कार्य का नाश होता है । जैसे, तन्तुओं या तन्तु-संयोगों के नष्ट होने पर कार्य पट का नाश होता है । परन्तु काल नित्य होने से काल के नाश से जन्य वस्तु मात्र का नाश हो जाना चाहिये यह आपत्ति नहीं की जा सकती है। परन्तु काल समवायि कारण मानने पर असमवायि कारण के लक्षण के अनुसार काल-संयोग को असमवायि कारण मानना पड़ेगा । तथापि काल-संयोग वस्तु के नष्ट हुए बिना नष्ट नहीं हो सकता है । अतः समवायि कारण का नाश या असमवायि कारण का नाश वस्तु का नाशक न होने से वस्तुमात्र का नाशक भी नहीं होगा। अतः काल को जन्य वस्तुमात्र का समवायि कारण नहीं मान सकते ।

जन्य भाव पदार्थ के लिये गुणवान् के रूप में द्रव्य को समवायि कारण नहीं मान सकते क्योंकि रूपादि पदार्थों की उत्पत्ति के पूर्व गुणविशिष्ट पदार्थ न होने से रूपादि पदार्थों की उत्पत्ति ही सम्भव न होगी । अतः द्रव्य को द्रव्य के रूप में ही समवायि कारण मानना उचित है । यही कारण है कि विश्वनाथादि नैयायिकों ने समवायि कारणता के नियामक के रूप में द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है ।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि घट के लिये कपाल समवायि कारण है या वस्त्र के लिये धागा समवायि कारण है इस प्रकार के विशेष उदाहरणों के आधार

पर उस वस्तु-विशेष की समवायि कारणता मानना ही उचित है । लेकिन सामान्य समवायि कारणता स्वीकार करने में क्या आधार है ? सामान्य समवायि कारणता स्वीकार करने में कोई आधार न होने से भिन्न भिन्न विशेष समवायि कारणताएँ मानें, सामान्य समवायि कारणता मानना उचित नहीं है । परन्तु यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि सामान्य समवायि कारणता न मानने पर स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से नीलादि वर्ण स्वाश्रय में विद्यमान अन्य गुणों में होने से कारण-गुण-पूर्वक उत्पन्न होने वाले नीलादि वर्ण उन गुणों में भी उत्पन्न होने चाहिये । अतः द्रव्यत्व धर्म से नियमित सामान्य समवायि कारणता मानना आवश्यक है । नीलादि वर्ण में द्रव्यत्व न होने से द्रव्यत्व धर्म से नियमित होने वाली समवायि कारणता उनमें नहीं है ।

### उपादान कारण और समवायि कारण

उपादान कारण और समवायि कारण में न्याय की दृष्टि से भेद नहीं है । आरंभवादी नैयायिक परमाणुओं को उपादान कारण के रूप में स्वीकार करते हैं। परमाणुओं से द्वयणुक, द्वयणुक से त्रसरेणु (त्र्यणुक) इस क्रम से घटादि पदार्थों की उनके मतानुसार उत्पत्ति होती है । जो परमाणु द्वयणुक के समवायि कारण हैं वे ही उपादान कारण भी हैं । परन्तु वेदान्तियों की उपादान कारण की व्याख्या भिन्न है । वेदान्त मत में कार्य और कारण में अभेद सम्बन्ध है, जबकि न्याय मत में उनमें समवाय सम्बन्ध है । वेदान्त मत में समवाय सम्बन्ध के लिये कोई स्थान नहीं है ।[१] अतः नैयायिकों की समवायि कारण की व्याख्या के अनुसार वेदान्तियों का उपादान कारण नैयायिकों का समवायि कारण नहीं हो सकता ।

वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार जो कार्य जिस द्रव्य में विलीन होता है वह द्रव्य उस कार्य का उपादान कारण है । उपादान कारण सर्वदा कार्य में अनुस्यूत रहता है । वेदान्त के मतानुसार "कार्यान्वितं कारणं उपादानकारणम्" । अर्थात्, कार्य के साथ तादात्म्यापन्न कारण उपादान कारण है । मिट्टी से निर्मित घट का मिट्टी के साथ तादात्म्य होता है, इसलिये मृत्तिका घट का उपादान कारण होता है । हम मृत्तिका को घट से अलग नहीं कर सकते । इसीलिये कहा गया है "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" । मृत्तिका से भिन्न रूप में घट, शरावादि पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है । उसी प्रकार तन्तु (धागा) वस्त्र का उपादान कारण हैं क्योंकि तन्तुओं से भिन्न वस्त्र अन्य कुछ नहीं है । वेदान्तियों के मत में वस्त्र तन्तुओं का अवस्थान्तर है या घट मृत्तिका का अवस्थान्तर है, जबकि नैयायिक मानते हैं कि वस्त्र तन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होने वाला भिन्न पदार्थ है । अतः तन्तु वस्त्र के समवायि कारण हैं ।

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सर्व प्रपंच का उपादान कारण है, समवायि कारण नहीं क्योंकि वेदान्तियों के मतानुसार जो जिससे उत्पन्न हो कर जिसमें विलीन होता है वह उसका उपादान कारण होता है । सर्व प्रपंच ब्रह्म से प्रादुर्भूत हो कर ब्रह्म में लीन होता है । अत: वह (ब्रह्म) उसका (प्रपंच का) उपादान कारण है । नैयायिक यह नहीं मानते कि पदार्थ का विनाश होने पर पदार्थ सर्वदा अपने कारण में लीन हो जाता है । एक वस्तु का विनाश होने पर दूसरे वस्तु की भी उत्पत्ति हो सकती है । जैसै, पट के जलने पर राख हो जाती है । इससे स्पष्ट है कि नैयायिकों के समवायि कारण और वेदान्तियों के उपादान कारण की व्याख्या में पर्याप्त भेद है ।

वेदान्त मत तथा न्याय मत में उपादान कारण के सम्बन्ध में एक अन्तर और भी स्पष्ट है कि न्याय मत में उपादान कारण और कार्य में किसी भी प्रकार का अभेद नहीं है, परन्तु वेदान्त मत में कार्य और कारण में अनन्यत्व होते हुए भी कार्य कारणात्मक है, परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है ।[७]

सांख्य मतानुसार भी उपादान कारण समवायि कारण से भिन्न है । सांख्य मत में भी उपादान और उपादेय में तादात्म्य ही स्वीकार किया गया है । समवाय नामक सम्बन्ध सांख्यों को भी स्वीकारार्ह नहीं है । वे भी कार्य और कारण में अभेद मानते हैं । आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य मतानुसार कार्य और कारण में अभेद सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण उपस्थित किये है ।[८] इससे स्पष्ट है कि सांख्यों की उपादान कारणता की संकल्पना न्याय की समवायि कारण की संकल्पना से भिन्न है । वाचस्पति मिश्र ने कार्य और कारण के बीच अभेद सिद्ध करने के लिये चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं । तन्तु पट से भिन्न नहीं हैं क्योंकि पट तन्तु-धर्म है । अर्थात्, तन्तुओं का ही अवस्था-विशेष है । यहाँ यह व्याप्ति प्रदर्शित की गयी है कि जो वस्तु जिससे भिन्न होती है वह उसका धर्म नहीं होती । जैसे, गौ अश्व से भिन्न होने से उसका धर्म नहीं हो सकती । पट तन्तुओं का धर्म है । इसलिये वह उनसे भिन्न नहीं है । सांख्य मानते हैं कि जहाँ उपादानोपादेय-भाव होता है वहाँ अभेद होता है । तन्तु और पट में उपादानोपादेयभाव है । इसलिये उनमें अभेद है । जिनमें भिन्नता होती है उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता है, जैसे घट और पट में ।

संयोग और अप्राप्ति न होने से भी तन्तु और पट में भेद नहीं है । भिन्नता होने से ही कुण्ड और बैरफल में संयोग देखा जाता है, तथा अप्राप्ति होने से हिमालय और विन्ध्याचल में भेद होता है । परन्तु तन्तुओं और पट में बैरफल और कुण्ड की तरह संयोग भी नहीं, न हिमाचल विन्ध्याचल की तरह अप्राप्ति भी नहीं है । अत: दोनों में अभेद है । पट और तन्तुओं के गुरुत्व में भी समानता

होने से उनमें अभेद सिद्ध होता है । अत: सांख्य उपादान कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध मानते हैं । अत: उपादान कारण की सांख्य संकल्पना नैयायिकों की समवायि कारणता की संकल्पना से नितान्त भिन्न है ।

पूर्व में बतलाया गया था कि कार्यमात्र के लिये तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य कारण होने से समवायि कारणता द्रव्यत्व रूपी धर्म से नियमित हो कर समवायि कारणता सामान्य के रूप में जानी जाती है । उपर्युक्त सानान्य कार्यकारणभाव के स्वीकार न करने पर नील रूप में नील रूप की उत्पत्ति क्यों नहीं होती यह समस्या उत्पन्न होती है ।

दूसरी वात यह है कि उपर्युक्त कार्यकारणभाव मानने में एक कठिनाई है। कार्य भावाभाव साधारण होता है । भाव कार्य कभी भी असमवेत नहीं होता है, परन्तु अभाव कार्य असमवेत होता है । अत: कार्यमात्र के लिये द्रव्य समवायि कारण है यह मानना उचित नहीं है । अभाव (ध्वंस) भी जन्य होने से कार्य है, परन्तु उसका कोई समवायि कारण नहीं होता है । अत: कार्यमात्र के लिये द्रव्य कारण है यह कार्य-कारण-भाव समीचिन न होने से उसके आधार पर द्रव्यत्व से नियमित एक सामान्य समवायि कारणता सिद्ध नहीं होती है । यही कारण है कि मुक्तावलीकार ने कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायि-कारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धिरिति''[९] कहा है । संयोग या विभाग के लिये द्रव्य को द्रव्यत्वेन ही कारण मानना आवश्यक है । अन्यथा कार्यमात्र में रहने वाली जाति समवाय से नियमित कार्यता की नियामक होती है इस नियम की उपपत्ति सम्भव नहीं होगी ।

संयोग या विभाग की समवायि कारणता के अवच्छेदक के रूप में जैसे द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है, उसी प्रकार गन्धसमवायिकारणता के अवच्छेदकत्व के रूप में पृथ्वीत्व, तथा स्नेहसमवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में जलत्व, और उसी प्रकार अन्य तेजस्त्व, वायुत्व आदि जातियों की सिद्धि होती है ।

समवायि कारणता को स्वीकार किये विना उपर्युक्त जातियों की सिद्धि सम्भव नहीं है । विभिन्न प्रकार के समवायि कारणों के विषय में नैयायिकों मं जो विवद है उसकी चर्चा अग्रिम लेख में की जायेगी ।

बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४११००७

## टिप्पणियाँ

१. दिनकर; यद्रूपावच्छिन्नं स्वकारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ने समवाय सम्बन्धेनोत्पद्यते तद्धर्मावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नमसमवायिकारणमित्यर्थः। *दिनकर्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

२. जगदीश; समवायसंसर्गावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिक तादात्म्यसंसर्गावाच्छिन्नकारणत्वं समवायि कारणत्वम्। *जागदीश्यां*, कारणतावादे

३. विश्वनाथ पञ्चानन; *कारिकावल्यां*, प्रत्यक्षपरिच्छेदे.

४. गदाधर, तत्र समवायसम्बन्धावच्छिन्न कार्यतानिरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणता समवायिकारणता यथा घटादिकं प्रति कपालादेः। *गादाधर्यां*, कारणतावदे.

५. जगदीश; तद्धर्मावच्छिन्नस्य समवायित्वे सति कारणत्वं तु न तद्धर्मावच्छिन्नसमवायिकारणत्वं जन्यत्वावच्छिन्नं प्रति कालत्वादिना निमित्तकारणतायामतिव्याप्त्यापतेः। *जागदीश्यां*, कारणतावाद–विचिकित्सायाम् ।

६. देखिये, *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य*, अध्याय २. पाद २, सूत्र १७.

७. अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यातमत्वम् । *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये*, II.i. .९

८. वाचस्पति मिश्र, कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि प्रमाणानि (१) न पटः तन्तुभ्योभिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इह यत् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति । यथा गौरश्वस्य धर्मश्च पटतन्तूनां तस्मान्नार्थान्तरम् (२) उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः। ययोरर्थान्तरत्वं न तयोरूपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः, तस्मान्नार्थान्तरत्वम् । (३) इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः संयोगाप्राप्त्यभावात् । अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डवदरयोः अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः। न चेदसंयोगाप्राप्ती तस्मान्नार्थान्तरत्वम् । (४) इतश्च पटतन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात् । इह यद् यस्माद् भिन्नं तत् तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तर कार्यं गृह्यते । *सांख्यतत्त्वकौमुद्याम्*, सत्कार्यवादनिरूपणे ।

९. विश्वनाथ पञ्चानन; *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्*, प्रत्यक्षपरिच्छेदे

# प्रतिक्रिया-प्रत्युत्तर

मेरे लेख ''पारम्परिक भारतीय मूल्य-प्रणाली में नैतिक मूल्य और उनकी प्रासंगिता'' पर परामर्श, खण्ड १५, अंक, १, दिसम्बर १९९३ में प्रतिक्रिया व्यक्त कर, विचार-विमर्श को गति प्रदान करने के लिये डॉ. कामेश्वर राव एवं श्री आलोक टंडन को हार्दिक धन्यवाद ।

(१) सर्वप्रथम श्री राव जी की इस टिप्पणी से मैं सहमत हूँ कि ऐसे 'कतिपय' स्थल हैं, जहाँ अधिक स्पष्टता व विस्तार अपेक्षित है, किन्तु संगोष्ठी पत्रों का समय-सीमा उनके रूपाकार को निर्धारित करती है, यह भी सत्य है । जो भी हो, कामेश्वर जी ने मेरे इस निष्कर्ष को कि ''भारतीय संस्कृति में अनात्म को गौण माना गया है,'' अनुचित (गलत या असत्य कहना चाहिए था) सिद्ध करने के लिये जो युक्ति दी है, वह स्वयं ही भ्रांतिमूलक है. क्योंकि आत्मन् व अनात्म के मध्य साध्य-साधन संबंध नहीं है । आत्मन् या चेतना या चित्शक्ति साध्य नहीं है; वह तो व्यक्ति को सहज प्राप्त है । उसका दर्शन, साक्षात्कार, या बोध अपेक्षित है; यही साध्य है, परन्तु इसका साधन अनात्म नहीं है; अनात्म विभेदक होने के कारण मात्र सहायक है । चेतना (सामान्य शब्दावली में) या आत्मन् (दार्शनिक शब्दावली में) व्यक्ति के अस्तित्व का आधार है । अत: साध्य-साधन संबंध के आलोक में 'गौण' शब्द की व्याख्या भ्रामक है । आगे वे कहते हैं कि 'पुरुषार्थ' की स्वीकृति, अनात्म से आत्म के घनिष्ठ संबंधों की स्वीकृति है ।'' यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि पुरुषार्थ से उनका तात्पर्य क्या है? पर चूँकि संदर्भ मूल्य-प्रणाली का है अत: अभिप्रेत अर्थ 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' लिया जाना चाहिए । किन्तु तब 'पुरुषार्थ' शब्द एवं उसकी व्याख्या से तो यही सिद्ध होता है कि महत्त्वपूर्ण ''पुरुष'' है, और ये समस्त मूल्य उसके ही लिये हैं, उसके ही कारण महत्त्वपूर्ण हैं, न कि इसके विपरीत । वस्तुत: श्री राव ''आत्म-अनात्म'' की कोटि को अपनाकर चले हैं, पर क्या धर्म व मोक्ष जैसे पुरुषार्थों को 'अन्-आत्म की कोटि में रखा जा सकता है? *गीता* का कर्मयोग कर्म के जिस स्वरूप, कर्तव्य के जिस रूप

को सर्वोच्च मानता है वह है ''निष्काम कर्म' और स्वरूपत: यह आत्मन् के उत्कर्ष का प्रतिपादक है । वेदों में जो शक्ति की कामना वाले मंत्र हैं, वे भी पुरुष/शरीरस्थ चित् शक्ति अथवा व्यक्ति के लिये ही हैं, न कि व्यक्ति इनके लिये। ''सर्वंखल्विदं ब्रह्म', अनात्म की महत्ता का संकेतक न होकर, उस अन्तर्दृष्टि का उद्घोषक है, जो सर्वत्र अधिष्ठानस्वरूप अद्वैत चित्शक्ति या ब्रह्म को देखती है। ऐसी दृष्टि से संपन्न 'मुक्त' के लिये अनात्म रह ही कहाँ जाता है । निस्संदेह सांख्य में प्रकृति-पुरुष विवेक को महत्त्वपूर्ण माना गया हैं, पर यह विवेक जागृत किसमें होता है? क्या प्रकति में? जहाँ चित्शक्ति या चेतना होगी, विवेक की संभावना भी वहीं होगी । इसे श्री राव भी स्वीकार करेंगे ।

(२) कामेश्वर जी ने मेरे लेख की जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनसे ही यह स्पष्ट है कि ''पारम्परिक मूल्य प्रणाली के विस्थापन की प्रक्रिया में ''अनेक' घटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है,'' केवल ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली ने नहीं । अत: इससे सम्बद्ध श्री राव की आलोचना स्वत: निरस्त हो जाती है । तथापि, उनका, हमारी मूल्यांकन-प्रणाली व प्रक्रिया में अन्तर्निहित दोषों के अन्वेषण का आवाहन स्वागतयोग्य है । उन्होंने कुछ दोषों की ओर संकेत भी किया है ।

(३) तृतीय विन्दु में उन्होंने अपने निजी मत को अधिक व्यक्त किया है। अब यदि उन्हें वर्तमान भारतीय समाज में ''अतीत का अंधानुकरण'' व ''धार्मिक पुनरुत्थानवाद'' दृष्टिगोचर नहीं हो रहा, तो इसे मैं अपना दृष्टि-दोष कैसे मानूँ? हाँ, इतना अवश्य स्पष्ट करना है कि पूर्णत: अतीतोन्मुख होने का एक अर्थ वर्तमान समस्याओं के विवेकपूर्ण समाधान के स्थान पर, प्राचीन कर्मकांडों, विधि-विधानों अथवा शास्त्रीय उपायों को आँखे मूँद कर समाधान के लिये अपनाना है ।

श्री टंडन के द्वारा प्रस्तुत इस आशंका, कि भारतीय संस्कृति किस अर्थ में आध्यात्मिक है, का स्पष्टीकरण मैंने श्री राव को दिये गये उत्तर में कर दिया है । दूसरे, भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि सभी समाविष्ट हैं, इसमें मत-वैभिन्न का प्रश्न ही नहीं उठता । तीसरी बात, मूल्य और व्यवहार में, आदर्श व यथार्थ में अंतर के कारण ही 'मूल्य' या 'आदर्श' का महत्त्व है । श्री टंडन के इस प्रश्न के उत्तर में कि ''क्या आज हम चाहकर भी मध्ययुगीन आध्यात्मिकता का वरण कर सकते है? मेरा कहना है कि आध्यात्मिकता प्राचीन, मध्ययुगीन या आधुनिक नहीं होती । फिर ''सकने'' अर्थात् संभावना और ''चाहिए'' आदर्श में भेद करना अपेक्षित है ।

श्री टंडन 'धर्म' शब्द के विभिन्न अर्थ-प्रयोगों से भ्रमित होने के बावजूद किसी भी चीज की "विधायक आन्तरिक वृत्ति" के रूप में धर्म के अर्थ को स्वीकार तो करते हैं, पर उनका मनुष्यत्व को मनुष्य की विधायक आन्तरिक वृत्ति न मानना विसंगतिपूर्ण है । शायद वे उसके विधायक व निषेधात्मक पक्षों में भेद नहीं कर पाये हैं ।

हमें नैतिक क्यों होना चाहिए? इस प्रश्न के वैशेपिक दर्शन में प्राप्त उत्तर को असंगत सिद्ध करने के लिये वे तर्क देते हैं कि अनैतिक आचरण से ही शक्ति, समृद्धि व प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है, तथा पुनर्जन्म संदिग्ध है । उनका प्रथम तर्क इसलिये खंडित हो जाता है कि अनैतिक आचरण का लक्ष्य शक्ति, (शारीरिक या...?) समृद्धि एवं प्रतिष्ठा हो सकता है, परन्तु नैतिकता का लक्ष्य "अभ्युदय" या मानव-कल्याण तथा "भावी-जीवन" अर्थात् मानवजाति का भविष्य ही है । यह भी ज्ञातव्य है कि शब्दों के अर्थ संदर्भानुकूल होने चाहिए । इस दृष्टि से भावी जीवन का अर्थ पुनर्जन्म न होकर, मानवजाति का भविष्य लिया जाना चाहिए ।

साध्य व साधन-मूल्य का निर्धारण इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि आम आदमी किसे साध्य व किसे साधन मानता है । यह निर्णय मूल्यों के स्वरूपाधार पर किया जाना चाहिए । इस दृष्टि से विचार करने पर क्या हम 'अर्थ' या धन को साध्य-मूल्य मान सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर केवल यह पूछने पर प्राप्त हो जायेगा कि क्या हम "धन" को अन्य किसी उद्देश्य, यथा सुख-सुविधा-प्राप्ति, से नहीं केवल धन के लिये चाहते हैं ?

मूल्यों पर विचार करते समय विज्ञान एवं प्रौद्यागिकी को नकारने की नहीं, अपितु उन्हें मूल्याश्रित बनाने की आवश्यकता है ।

प्रतिक्रिया व्यक्त करते समय श्री टंडन ने न जाने क्यों परम्परा को आधुनिकता के विरोधी के रूप में प्रस्तुत किया है? जबकि परम्परा रूढ़िवादिता से भिन्न होने के कारण आधुनिकता की विरोधी कदापि नहीं होती । यही कारण है कि जिसे आज आधुनिक कहा जा रहा है, उसके उपयोगी तत्त्व, कुछ वर्ष पश्चात् परम्परा के निर्मायक घटक होंगे । परम्परा को निरन्तर प्रवाहित नदी के स्वरूप में समझा जाना चाहिए । वह जलकुंड नहीं है, जलकुंड तो रूढ़िवादिता है । विज्ञान भी परम्परा का अंग होता है । समस्या विज्ञान और प्रौद्योगिकी को नकारने की नहीं, मूल्याश्रित करने की है । डार्विन, फ्रायड और मार्क्स के सिद्धान्तों की अवहेलना

न तो संभव है, और न अभीष्ट। किन्तु उनके सिद्धान्तों को परम निरपेक्ष सत्य या अंतिम सत्य तो स्वयं जीवविज्ञानी, मनोविज्ञानी या मनोविश्लेषक तथा राजनैतिक चिंतक भी नहीं मानते। नैतिकता का आधार विवेक है, और यही 'विवेक' मानव का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए।

इसी प्रकार यह ज्ञातव्य है कि लोकतंत्र, सामाजिक न्याय एवं स्वतंत्रता के त्याग की अपेक्षा भारतीय परम्परा नहीं करती, वह तो जो सत्य है, सुंदर है, कल्याणकारी है, उसे स्वीकार करते हुये आगे बढ़ती है।

अंत में, आलोक जी ने नवीन सर्जन की जो व्याख्या की है, वह प्रशंसनीय है, पर सर्जन चिंतन की अपेक्षा रखता है, और आलोचनात्मक मूल्यांकन व पुनर्व्याख्या सृजनात्मक चिंतन के अभिन्न अंग हैं। शून्य से सर्जन असंभव है।

मैं श्री टंडन के इस कथन से पूर्णतः सहमत हूँ कि मूल्य-विघटन के लिये केवल पश्चिम दोषी नहीं है, हमारी मानसिकता भी दोषी है। अतः हमें उन दोषों का अन्वेषण करना होगा, तभी उनका निराकरण संभव होगा और विघटन-प्रक्रिया को रोका जा सकेगा

७९६, नेपियर टाउन [illegible]
जबलपुर–४८२००१
(म. प्र.)

पत्रिका के माध्यम से इस विषय की चर्चा इसके साथ समाप्त की जा रही है।

सम्पादक

# प्रतिभा को परिभाषित करते सात सवाल

सर्जनात्मकता का दूसरा नाम होने वाले प्रतिभा को ठीक–ठीक परिभाषित कर पाना, अथवा, कहें, सर्जनात्मकता के स्वरूप को स्पष्टत: समझ पाना सदा से ही एक कठिन काम रहा है। लेकिन इस संबंध में कुछ सवाल उठाकर, इस पर काफी कुछ छाए कोहरे को छाँटा जा सकता है। कम-से-कम ऐसा एक प्रयत्न तो किया ही जा सकता है।

**पहला सवाल– क्या प्रतिभा पर केवल गिने चुने महान् व्यक्तियों का ही एकाधिकार है ?**

प्राय: जब प्रतिभा की बात होती है तो हमारी कल्पना में निराला या एज़रापाउण्ड, जगदीशचंद्र बसू या आइन्स्टाइन्, शंकरचार्य या बर्टेंड रसेल, गांधी या नेलसन् मंडेला जैसी महान् व्यक्तियों के चित्र आ खड़े होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिभा मानों कुछ चंद लोगों की ही संपत्ति है और सामान्य जन में इसका नितान्त अभाव होता है। लेकिन आधुनिक मनोवैज्ञानिक सोच के अनुसार यह सही नहीं लगता, क्योंकि सामान्य व्यक्तियों के छोटे-छोटे कार्यों में भी हम प्रतिभा की झलक पा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम अपने अध्ययन कक्ष को पुनर्व्यवस्थित कर एक ऐसा नया रूप देते हैं कि वह अधिक सुविधाजनक और अधिक रुचिकर दिखाई दे, तो स्पष्ट ही हम अपनी प्रतिभा का ही प्रदर्शन कर रहे होते हैं। इसमें हमारी सर्जनात्मकता अभिव्यक्ति पाती है। सृजन का यह अर्थ नहीं है कि हम अनिवार्यत: कोई नया वैज्ञानिक आविष्कार करें, या फिर, किसी महाकाव्य की रचना कर ड़ालें। प्रतिभा के ये बेशक उच्च उदाहरण हैं। किन्तु जब भी हम किसी काम को कुछ इस प्रकार नई तरह से करते हैं कि वह हमारी अभिलाषा के अनुरूप रुचिर भी हो सके और उपयोगी भी, तो इसमें सर्जनात्मकता की ही अभिव्यक्ति होती है।

**दूसरा सवाल– क्या प्रतिभा में निहित मौलिकता सदैव परंपराविरोधी होती है ?**

इसमें संदेह नहीं कि जहाँ मौलिकता है ही नहीं, वहाँ प्रतिभा भी नहीं ही है। प्रतिभा निश्चित ही मौलिक सृजन की ओर संकेत करती है। किन्तु क्या कोई चीज नितांत मौलिक हो सकती है ? यह लगभग असंभव है। मौलिकता से अर्थ वेशक नवीनता से तो है, लेकिन विल्कुल नवीन कुछ नहीं होता। हम किसी भी बात को नवीन ढ़ंग से कह सकते हैं, नई तरह से उसे रख सकते हैं, नई तरह से उसका संयोजन कर सकते हैं, उसे एक नया रूप दे सकते हैं लेकिन 'बात' वही पुरानी होती है। वस्तुत: एक इतिहासकार, जो विगत घटनाओं को नई दृष्टि से देखता है और इतिहास का पुनर्निर्माण करता है, उतना ही सर्जनशील होता है, जितना एक वैज्ञानिक, जो एक नई खोज करता है, अथवा, एक साहित्यकार, जो एक मौलिक रचना (उपन्यास/कविता, आदि) प्रस्तुत करता है। उसी कारण इतिहास लेखन तक में हमें कभी कभी एक प्रकार का प्रबंध-रस मिलता है। यह प्रबंध-रस वस्तुत: ज्ञात तथ्यों और सूचनाओं को सुष्ठु प्रारूपों और संयोजनों में संपादित कर पाने में ही निश्चित होता है। मौलिकता बिखरे तत्त्वों के नए और रोचक संयोजन में ही निश्चित होती है। अत: कहा जा सकता है कि प्रतिभा परंपरा विरोधी न होकर, परंपरा को नया रूप प्रदान करती है। परंपरा के इस सुष्ठु संयोजन में निस्संदेह बहुत कुछ जो अनुपयोगी और असुविधाजनक है उसे छोड़ दिया जाता है और बहुत कुछ नया जोड़ दिया जाता है।

'सर्जनशीलता', शब्द में जो 'सर्जन' है वह केवळ रचना के ही अर्थ में नहीं है। 'सर्जन' का अर्थ छोड़ना या त्यागना भी है। 'सर्जन' में सृष्टि भी है और उस सृष्टि के लिए अनुपयोगी तत्त्वों का त्याग भी है।

तीसरा सवाल : यदि प्रतिभा केवल नया संयोजन मात्र है तो क्या इसे यांत्रिक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता ?

वैज्ञानिक उपलब्धियों के चलते, जब कि कम्प्यूटर जैसे यंत्र मानवी क्षमताओं को भी चुनौती देने लगे हैं, तो इस प्रकार का सवाल उठाया जाना असंगत नहीं है। कम्प्यूटर को यदि ठीक-ठीक फीड़ कर दिया जाए तो वह कितने ही नए नए समुच्चय और संयोजन, जिनकी मानव बुद्धि, शायद कल्पना भी नहीं कर सके, प्रदान कर सकता है। और इस अर्थ में कम्प्यूटर को, जो एक यांत्रिक-युक्ति है, मनुष्य से कहीं अधिक मौलिक माना जा सकता है। लेकिन मौलिकता या सर्जनात्मकता में केवल नया-पन ही नहीं होता, एक 'सौंदर्य' या 'सौष्ठव' भी होता है। उसमें 'रुचिता' या 'रस' भी है। रुचिता का यह सौष्ठव-तत्त्व, स्पष्ट ही कम्प्यूटर प्रदान नहीं कर सकता। कोई भी यांत्रिक-युक्ति इसे दे पाने में सहायक नहीं हो सकती। इसके लिए स्पष्ट ही एक संवेदनशील व्यक्ति की आवश्यकता

है जो न केवल नया संयोजन कर सके बल्कि रस की निष्पत्ति भी कर सके। कम्प्यूटर निश्चय ही शब्दों के नए नए संयोजनों से 'कविताएँ' रच सकता है, लेकिन इन कविताओं में 'रुचिता' भी होगी यह सर्वथा संदेहयुक्त है। सर्जनात्मकता कभी भी नितांत यांत्रिक नहीं हो सकती क्योंकि इसमें समावेशित 'रुचिता' केवल मानव-सामर्थ्य से ही संभव है।

**चौथा सवाल : क्या प्रतिभा सामान्य बुद्धि से अलग कोई विशेष योग्यता है ?**

प्रतिभा-सपन्न व्यक्तियों के यदि बचपन में झांका जाए तो पता चलता है कि इन सबकी विद्यालयीन और बाल उपलब्धियाँ सामान्य से काफी ऊंचे स्तर की बुद्धि की ओर संकेत करती हैं। यह बात खास तौर पर ऐसे व्यक्तियों पर विशेष रूप से लागू होती है जिन्होंने आगे चल कर अमूर्त विचारणा के क्षेत्रों में, जैसे, दर्शन या विज्ञान में, अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है। इतना ही नहीं जो व्यक्ति किसी खास क्षेत्र में अपनी प्रतिभा दिखाते हैं वे सामान्यतः अन्य समान क्षेत्रों में भी सफल होते देखे गये हैं। यथा एक प्रतिभा शाली दार्शनिक एक अच्छा कूटनीतिज्ञ भी हो सकता है, जैसे कि राधाकृष्णन् और एक मूर्तिकार अच्छा चित्रकार भी हो सकता है, जैसे कि माइकेल एंजेलो। और यह बात स्पष्ट ही उनकी सामान्य बुद्धि के ऊंचे स्तर की ओर संकेत करती है।

इतना ही नहीं, ऊंचे स्तर की सामान्य बुद्धि के अतिरिक्त प्रतिभा-संपन्न लोग किन्हीं विशेष क्षेत्रों / क्षेत्र में अपनी एक विशिष्ट सर्जनात्मक योग्यता को भी प्रदर्शित करते हैं। किसी में शिल्प या चित्रकला के लिए तो किसी में संगीत या काव्य आदि, के लिए विशेष प्रतिभा होती देखी गई है।

किन्तु प्रतिभा-शाली व्यक्तियों में सामान्य और विशेष योग्यताओं का सापेक्षित महत्त्व उनके कार्यक्षेत्र के अनुसार कम या ज्यादह हो सकता है। किन्हीं क्षेत्रों में सामान्य बुद्धि का उच्च स्तर नितांत आवश्यक है, लेकिन किन्हीं अन्य क्षेत्रों में यह जरूरी नहीं है। विज्ञान और दर्शन आदि क्षेत्रों में जहाँ अमूर्त विचारणा की आवश्यकता होती है, उच्च स्तरीय सामान्य बुद्धि लगभग अनिवार्य है। लेकिन गीत-काव्य के लिए सूक्ष्म संवेदनात्मकता और शब्द-कौशल में विशेष योग्यता उच्च स्तरीय सामान्य बुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

**पाँचवा सवाल : क्या प्रतिभा के विकास में कुछ साधक और कुछ बाधक स्थितियाँ हो सकती हैं ?**

बेशक । शोध द्वारा अब यह लगभग निश्चित हो गया है कि प्रतिभा को प्रोत्साहित करने वाली कई स्थितियाँ हैं । इनमें साहसिक वृत्ति, सैक्स संबंधी रूढ़ियों का अस्वीकार, नए क्षितिजों की खोज़, जैसे नई जगहों की यात्रा, या नए शौकों का विकास; स्वास्थ्य संबंधी अच्छी आदतें, जैसे उचित निद्रा और व्यायाम; हास्य वृत्ति, और अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग, आदि मुख्य हैं ।

इस प्रकार शोध से यह भी पता चला है कि सदैव आज्ञानुसार कार्य करना, अति स्पर्धा के दबाव में काम करना, आंतरिक प्रेरणा की बजाय बाह्य दंड और पुरस्कारों के तहत काम करना, तथा रीतिरिवाजों के ड़र से काम करना– ऐसी स्थितियाँ हैं जो प्रतिभा को कुण्ठित करती हैं ।

छठा सवाल : क्या प्रतिभा का कोई निर्णायक क्षण होता है जिसमें वह मानों कौंध जाती हो ?

प्रतिभा के संबंध में यह एक गलत धारणा है जो आम लोगों में खूब प्रचलित है कि प्रतिभा-संपन्न लोगों को सर्जनात्मक विचार उन पर स्नान करते समय या पेड़ पर से गिरते हुए सेब को देख कर अचानक ही कौंध जाता है। लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं होता । यह सर्जनात्मक क्षण काफी परिश्रम और अभ्यास का परिणाम होता है । इसको प्राप्त करने के लिए प्रतिभाशाली लोगों को बहुत धैर्य रखना पड़ता है । अपने पूर्व-प्रयत्नों में कई असफलताओं का सामना करना पड़ता है । इससे पहले कि कोई नई चीजें खोजी जा सकें वैज्ञानिक उस दिशा में अनेक प्रयोग करता है और वह असफल होता है; किन्तु उसका हर असफल प्रयोग उसके ज्ञान का विस्तार ही करता है । उसे कम से कम इन प्रयोगों से इतना तो पता चलता ही है कि क्या चीज़ काम नहीं करेगी । अतः यह सोचना कि बिना परिश्रम के ही प्रतिभा किसी एक क्षण 'अचानक' ही कौंध जाती है, पूरी तरह भ्रमात्मक है । सूझ वस्तुतः कभी अचानक नहीं आती । ऐसा हमें केवल भ्रम होता है । सर्जनात्मक क्षण प्राप्त करने के लिए एक लंबी साधना अपेक्षित है । इस उक्ति में कि प्रतिभा निन्नानवे प्रतिशत परिश्रम है और केवल एक प्रतिशत प्रेरणा है, अतिशयोक्ति हो सकती है लेकिन इसमें सत्य का अंश भी कम नहीं है ।

सातवाँ सवाला : क्या प्रतिभा व्यक्ति-सापेक्ष होती है ?

कम से कम ऊपर से ऐसा ही लगता है । हम व्यक्ति के बिना प्रतिभा की कल्पना नहीं कर सकते । संदेह के लिए एक संदेहकर्ता चाहिए और विचार के लिए विचारक । इसी तरह सर्जन के लिए एक सर्जनात्मक व्यक्ति चाहिए ।

ऐसा हम प्रायः इसलिए कह पाते हैं कि कर्ता-कर्म ढाँचे में सोचने की हमारी आदत है। लेकिन इस वैचारिक ढाँचे से बाहर निकल कर यदि हम विचार करें तो कर्ता का कोई अनिवार्य अस्तित्व नहीं रहता। 'बरसने' के लिए हम 'बरसात हो रही है' कहते हैं। लेकिन 'बरसात' कोई चीज नहीं है। बरसने की क्रिया ही बरसात है। इसी तरह प्रतिभा (क्रिया) और प्रतिभा (व्यक्ति) एक ही है। क्रिया को हमने व्यक्ति बना दिया है। **प्रतिभा सदैव एक कार्य है, या क्रिया-विशेषण है? वह संज्ञा नहीं है। कोई वस्तु या व्यक्ति या स्थान नहीं है।**

**सुरेन्द्र वर्मा**

१० एच्. आई. जी.
१-सर्कुलर रोड,
इलाहाबाद २११००१
(उ. प्रदेश)

# सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की जगत्-अवधारणा : एक मानवतावादी अवलोकन

दर्शन की जटिल समस्याओं में एक समस्या जगत् अथवा संसार है– वह संसार, जिसमें मनुष्य जन्म लेता है, बड़ा होता है, जीने के लिए सतत संघर्ष करता है और अन्तत: मर जाता है । यह संसार क्या है, कहाँ से आया है तथा इसकी स्थिति क्या है ? ये कुछ ऐसे मूल प्रश्न हैं जिन्होंने सभी प्रबुद्ध मनस् को आरम्भ से उद्वेलित कर रखा है । भारतीय दर्शन के समसामयिक युग के लब्ध प्रतिष्ठित विचारक सर्वपल्ली राधाकृष्णन् उस उद्वेलन से मुक्त नहीं थे । फलस्वरूप उनके दार्शनिक चिन्तन में प्रश्न रूपी इन रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास हुआ है । मेरे विचार में इस प्रयास के क्रम में उनके सामने मूलत: दो आदर्श, रहे हैं– एक आदर्श है आज के युग में प्रभावी वैज्ञानिक मानवतावादी आदर्श, जिसने न केवल संसार को यथार्थ माना है वरन् उसे मानव की कर्म-भूमि भी स्वीकार किया है । पारलौकिक सत्ता के प्रति अविश्वास की प्रभावी वृत्ति से संचालित होकर इसने केवल उन्हीं लक्ष्यों एवं आदर्शों की बात की है जो उसे इस कर्मक्षेत्र से प्राप्त होते हैं । इससे भिन्न एक दूसरा आदर्श है भारतीय परम्परा का वह आध्यात्मवादी आदर्श, जो एकवाद की स्थापना में अन्य के साथ इस जगत् की यथार्थता का निषेध करता है । मेरी दृष्टि में राधाकृष्णन् की जगत् की अवधारणा भारत की आध्यात्मिक परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए आज के युग में प्रभावी वैज्ञानिक मानवतावादी आकांक्षाओं की तुष्टि का एक विलक्षण प्रयास है । प्रस्तुत निबंध में इसी 'विलक्षण प्रयास' को प्रकाश में लाने की चेष्टा हुई है ।

डॉ. राधाकृष्णन् की जगत् की अवधारणा को स्पष्ट करने के पूर्व उनके सम्बन्ध में एक विलक्षण सत्य का उद्घाटन अपेक्षित है, और वह यह कि भारत के इस महान् विचारक की अन्त:चेतना में भारतीय चिन्तन-परम्परा के प्रति प्रबल निष्ठाभाव था, लेकिन साथ ही यहाँ यह भी सत्य इस निष्ठाभाव के चलते परम्परा के प्रति

अपने आग्रह को इन्होंने अवश्य प्रकट किया है, लेकिन अंधानुग्रह को नहीं। वस्तुतः वर्तमानयुगीन चेतना की मांग भी इनके लिए महत्त्वपूर्ण थी। अतः न तो ये उस अध्यात्म को ठुकरा सकते थे, जो इनकी अन्तःचेतना में विद्यमान था, और न ही ये अपने समय की मांग से अपने कान बन्द कर सकते थे। यही कारण है कि इन्होंने जगत् के सम्बन्ध में एक ऐसी दृष्टि का सर्जन किया, जिसके अन्तर्गत इनकी आध्यात्मिक अन्तःचेतना को तोष तो प्राप्त हो ही, साथ ही साथ वर्तमान युग की मांग की पूर्ति भी संभव हो। इस संदर्भ में इन्होंने अपने जगत्-विवरण में जहाँ जगत् सम्बन्धी वैज्ञानिक स्थापनाओं को, यहाँ तक कि सामान्य भौतिकवादी मान्यताओं को भी, समाविष्ट करने का प्रयास किया है, वहीं साथ ही साथ इस विवरण में जगत् के मूल आध्यात्मिक के अंशों पर भी सर्वाधिक बल दिया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि इनके इस प्रयास में कहीं कोई विरोध नहीं है, क्योंकि इनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि जगत् के आध्यात्मिक विवरण में जगत् के वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी विवरण भी समाविष्ट हैं[1]। इस अवधारणा को स्पष्ट करने एवं साथ ही इसके साथ मानवतावादी संगति को सामने लाने के लिए हम व्याख्या के निम्न पक्षों को अपना आधार बनायेंगे---

**(क) जगत् की उत्पत्ति :**

अध्यात्मवादी भावनाओं की संरक्षा एवं धार्मिक चेतना की मांग की पूर्ति में न केवल राधाकृष्णन् वरन् लगभग समस्त समकालीन भारतीय विचारकों ने जगत् को सृष्टि का परिणाम माना है। यह संसार ईश्वर की सृष्टि है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने माना कि सृष्टि की क्षमता ईश्वर का लक्षण है, इसका अर्थ यह है कि ईश्वर स्वभावतः सृष्टि करता ही है। किन्तु उल्लेखनीय है कि यह सृष्टि करना इसकी कोई मजबूरी, कोई बोझ, कोई बंधन नहीं है; वरन् यह तो उसके आनन्दमय स्वरूप की ही, आनन्द की, एक अभिव्यक्ति है। सृष्टि सृष्टिकर्ता का एक आनन्द-खेल अथवा लीला है। अरविन्द ने भी इस तथ्य की संपुष्टि की है, जब वे कहते हैं कि आल्हाद सृष्टि का रहस्य है। आल्हाद में ही सृष्टि का उद्भव है। सृष्टि आनन्द का खेल है। राधाकृष्णन् के जगत्-विचार के सर्जन में इन विचारों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इन्होंने भी इसी परम्परा में माना है कि यह सृष्टि ईश्वर की देन है, तथा विश्व ईश्वरीय योजना की अभिव्यक्ति है। लेकिन रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रभृति विचारक से इनकी भिन्नता इसमें है कि टैगोर ने जहाँ ईश्वर के लिए सृष्टि को 'अनिवार्य' माना, वहाँ राधाकृष्णन् ने इस सृष्टि को 'आकस्मिक' स्वीकार किया। इनके अनुसार सृष्टि का अर्थ है- ईश्वरीय संभावनाओं को रूप देने के लिए जगत् के रूप में व्यक्त हो जाना। यह सृष्टि वास्तव में ईश्वरीय स्वतंत्रता की भी अभिव्यक्ति है, ऐसा नहीं है कि ईश्वर के लिए यह अनिवार्य है कि

यही सृष्टि हो अथवा सृष्टि हो ही । यह ईश्वरीय खेल अथवा लीला है, तथा यह ईश्वरीय स्वतंत्रता है कि अनन्त सम्भावनाओं में से किस सम्भावना को व्यक्त रूप दिया जाए । अब यदि किसी एक सम्भावना को व्यक्त होने में कोई पूर्व निश्चय अथवा निर्धारण नहीं है, तो उसका अर्थ है कि उस सम्भावना का व्यक्त होना 'जगत् की आकस्मिकता' है ।

(ख) जगत् के विशिष्ट लक्षण :

राधाकृष्णन् ने जगत् के विवरण को प्रस्तुत करने में इसके तीन विशिष्ट लक्षण स्वीकार किये हैं :

(१) जगत् एक 'व्यवस्थित पूर्णता' है । इसका अर्थ है कि जगत् का हर पक्ष एक दूसरे से व्यवस्थित ढ़ंग से सम्बद्ध है । परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि राधाकृष्णन् ने यहाँ यह भी माना है कि इस पारस्परिक सम्बन्ध में और अधिक गहन होने की प्रवृत्ति निहित है । पुनः इससे एक अन्य बात जो स्पष्ट होती है, वह यह कि जगत् को उसके अंगों या भागों में विभक्त नहीं किया जा सकता। राधाकृष्णन् का स्पष्ट कथन है कि–

"'संसार में जो कुछ हम देखते हैं वह सत्ता के क्षेत्र नहीं क्रिया के कालांश हैं। प्रकृति की प्रक्रिया एक, अखण्ड और अनवरत है, वह निश्चित गुणों वाली स्थितिशील सत्ताओं की एक अनवरत श्रृंखला नहीं है[२] ।"

(२) इससे जो दूसरा लक्षण सामने आता है, वह यह कि यह पूर्णता गत्यात्मक एवं क्रियाशील है । प्रकृति सतत सक्रिय है । उसकी कोई अवस्था अन्तिम अवस्था नहीं है–

"प्रकृति के सतत प्रवाह में न तो विश्राम है और न विराम । प्रकृति अपनी स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं होती । वह नयी स्थितियाँ पानेका प्रयत्न करती है।"

(३) यह जगत्-प्रक्रिया कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है, वरन् इसमें एक प्रयोजन निहित है । पहले ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि राधाकृष्णन् को प्रकृतिवादी मान्यताओं से असहमति थी । इसी असहमति की वृत्ति से संचालित होकर इन्होंने जगत् के स्वरूप की तात्त्विक प्रस्तुति में प्रकृतिवाद को निरसित किया । इनके विचार में प्रकृतिवादी व्याख्या वास्तव में एक यंत्रवादी व्याख्या है, और इस प्रकार की यंत्रवादी व्याख्याओं की वास्तविकता यह है कि ये कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं

करती । राधाकृष्णन् के अनुसार जगत् कोई मशीनी व्यवथा नहीं है, वरन् इसकी प्रक्रियाओं में व्यापक प्रयोजन निहित है । सतत किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर है । यह विश्व घटनाओं का अर्थहीन कोलाहल नहीं है, इसमें संगति अथवा दिव्य प्रयोजन है । इतिहास की प्रत्येक घटना और प्रत्येक क्षण द्वारा दिव्यता अभिव्यक्त होती है ।

### (ग) जगत् की स्थिति :

**(१) जगत् की यथार्थता का प्रतिपादन :** राधाकृष्णन् के अनुसार जगत् आकस्मिक है, लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि आकस्मिक होते हुए भी यह जगत् यथार्थ अर्थात् वास्तविक है । वस्तुत: समकालीन भारतीय दर्शन की जो सार्वभौम प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें एक है जगत् की यथार्थता का प्रतिपादन । इसी प्रवृत्ति से संचालित होकर लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने जगत् की यथार्थता पर बल दिया है। लेकिन क्या इस बल से उस अध्यात्मवादी प्रवृत्ति को आघात नहीं पहुँचा जिसके अन्तर्गत सत् के एकत्व स्वरूप को स्थापित किया गया है ? निश्चयत: कोई ज़बर्दस्त कारण है जिसने हम दार्शनिकों को अपनी स्थापित मान्यताओं के खंडित होने का जोखिम उठाते हुए भी जगत् को यथार्थ मानने के लिए बाध्य किया । यह कारण है मानवतावादी आकांक्षाओं की पूर्ति । लेकिन यहाँ प्रश्न है कि आखिर मानवतावाद जगत् की यथार्थता को मानने पर इतना बल क्यों देता है ? इसके कुछ कारण निम्नत: स्पष्ट किये जा सकते हैं–

सर्वप्रथम, जीवन एवं क्रियाओं का बोध मुनष्य को यह मानने के लिए बाध्य कर देता है कि वे सभी वस्तुएँ, जिनके सम्पर्क में वह आता है, उसके जीवन के लिए प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं । प्रकृति की विपरीत धाराओं से वह लड़ता रहता है, जगत्-प्रक्रियाएँ सदैव उसकी शक्ति की स्वत: प्रवर्तित धारा को बांधना चाहती हैं । प्रकृति के इस विरोधी प्रयास से उसका संघर्ष निरंतर जारी है, इस संघर्ष के दौरान वह अपनी शक्ति को एक नया रूप और आयाम प्रदान करता है । तथा अपने क्रिया-कलापों का पुन: समायोजन करता है । परिणामत: मनुष्य यह मानने के लिए बाध्य है कि ये विरोधी शक्तियाँ उतनी ही यथार्थ हैं जितना कि वह स्वयं ।

पुन: आज का मानव वैज्ञानिक ज्ञान को अर्जित करने में पूर्णत: सक्षम को चुका है, उसके द्वारा अर्जित यह वैज्ञानिक ज्ञान उसे इस संवृत्ति जगत् की वास्तविकता को मानने के लिए बाध्य करता है । आज दैनिक जीवन विज्ञान से पूर्णत: प्रभावित है । आज वैज्ञानिक पद्धति केवल ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग मात्र नहीं रह गया है,

बल्कि यह समस्त वस्तुओं के निर्णय एवं मूल्यांकन का विषय भी बन चुका है। इस सत्य का बोध भी इस बात का एक कारण है कि क्यों मानव-बुद्धि जगत्-भ्रम की अवधारणा का खंडन कर रही है ।

फिर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज मनुष्य इस स्थिति तक पहुँच चुका है कि वह सत् (बीइंग) का विश्लेषण कर सके । चूंकि आज उसने अपने विचार की क्षमता को विकसित कर लिया है, अतः स्वाभाविक रूप से उसने अपने 'सत्' की प्रकृति पर भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया है, और इसी का यह परिणाम है कि यह अपने अन्दर के 'शारीरिक' एवं 'श्रेष्ठतर' पक्षों के अन्तर को स्पष्ट करने की स्थिति में आ चुका है । वर्षों तक यह 'श्रेष्ठतर' की रहस्यात्मक प्रकृति से आतंकित था जिसके कारण शारीरिक पक्ष की क्षमताओं को कम करके आंकने के लिए बाध्य था । अब स्थिति वैसी नहीं है । वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से इसने जहाँ सत् के शारीरिक पक्ष का विश्लेषण करने में सफलता प्राप्त कर ली है, वहीं साथ ही यह अपनी प्रकृति का वास्तविक बोध प्राप्त करने में भी सफल हो गया है । इसके इसी बोध ने इसे इसका भी बोध प्रदान किया है कि श्रेष्ठतर पक्ष का उद्भव भी शारीरिक पक्षों में ही होता है। अब वह यह भी जान चुका है कि श्रेष्ठ सद्गुण एवं मृत्यु भी वास्तव में शारीरिक पक्ष के ही एक अनुशासन के एक प्रकार के परिणाम हैं, और इसलिए यदि कोई श्रेष्ठ प्रकार का सत् है तो उसे शारीरिक पक्ष के साथ ही संगति रखनी चाहिये। मानव सत् के इस शारीरिक पक्ष को संसार के भौतिक पक्ष के सदृश रूप में अपनाया गया है । अतः यदि मानव के लिए शारीरिक पक्ष मूल्यवान् है, तो वैसी स्थिति में जगत् के भौतिक पक्ष को भी मूल्य प्रदान करना पड़ेगा ।

स्पष्ट है कि वर्तमान युग की चेतना मानवतावादी विचारों के पोषण में जगत् की यथार्थता की स्वीकृति की मांग करती है, और राधाकृष्णन् तथा उनके समकालीन भारतीय विचारक इस मानवतावादी मांग की अवहेलना करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे । इनके अन्तर की मानवतावादी चेतना उन्हें जगत् की यथार्थता को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर रही थी, यही कारण है कि इन लोगों ने परम्परा में प्रभावी जगत्-भ्रम अथवा माया के सिद्धान्त को या तो पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया अथवा उसे नया अर्थ देने का प्रयास किया । जहाँ तक राधाकृष्णन् का सवाल है, भगवद्गीता में माया का अर्थ विश्लेषण करते हुए राधाकृष्णन् ने यह स्पष्ट किया है कि 'माया' शब्द 'मा' धातु से बना है जिसका अर्थ है– बनना, रचना करना, और मूलतः इस शब्द का अर्थ था– रूप उत्पन्न करने की क्षमता। वह सृजनात्मक शक्ति, जिसके द्वारा परमात्मा विश्व को गढता है, योगमाया कहलाती है । इस बात का कोई संकेत नहीं है कि माया के द्वारा या परमात्मा, मायी,

की रूप गढने की शक्ति के द्वारा उत्पन्न किये गये रूप, घटनायें और वस्तुएं केवल भ्रम हैं[1]।'' वस्तुतः राधाकृष्णन् ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि यथार्थ में शंकर का मायावाद स्वयं ही जगत्-मिथ्यात्व का विरोधी है। इनके अनुसार वह यह बतलाता है कि विश्व की पुनर्व्याख्या जरूरी है। आध्यात्मिक अनुभव विश्व की विविधता का अतिक्रमण करता है। यह उसे ब्रह्ममय देखता है। शंकर ही नहीं वरन् उपनिषद् भी, जिनके मूल सिद्धान्तों की सच्ची व्याख्या के लिए शंकर दृढसंकल्प हैं, अमूर्त एकता का आलिंगन नहीं करते हैं। असीम ससीम का निराकरण नहीं करता। जगत् परम ब्रह्म के सर्व-समावेश स्वरूप की अभिव्यक्ति है। यदि ब्रह्म सत्य है, तो वह असत्य नहीं हो सकता, जिसका ब्रह्म आधारभूत सत्य या भूमा है। विश्व ब्रह्म में आधृत है, अथवा ससीम असीम में है, इसलिए यह सत्यांश से युक्त है। सत्य की स्वीकृति उन सभी की स्वीकृति है जो कि उनपर आधारित है। अतः ब्रह्म को परम सत्य मानने वाले सिद्धान्त से ही यह निगमित होता है कि उन सबकी भी सत्यता है जो कि उसपर आधारित हैं। सृष्टि-जगत् आत्मा से अभिन्न है, वह असत्य नहीं है। राधाकृष्णन् ने कहा है– ''इस संसार की समस्त वस्तुएं यद्यपि परिवर्तनशील हैं, फिर भी इसमें यथार्थता का तत्त्व है क्योंकि सबमें सत् निहित है। हम इस जगत् में सनातन रूप से रह सकते हैं क्योंकि यह ब्रह्म के ही प्रकाश का एक रूप है[2]।'' अपने इस विचार के कारण राधाकृष्णन् यहाँ पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले के अति निकट दृष्टिगत होते हैं। ब्रैडले ने भी इसी भाव में कहा है कि– ''हम संसार का कोई ऐसा निम्न प्रदेश खोज़ नहीं सकते जिसमें परम सत्ता का निवास न हो। कहीं भी कोई छोटे से छोटा एवं आंशिक ऐसा तथ्य नहीं है जो जगत् के लिए निरर्थक हो। कोई धारणा चाहे कितनी ही मिथ्या हो, उसमें सत्य अवश्य है, और कोई अस्तित्व कितना ही क्षुद्र हो, उसमें यथार्थता होती ही है। फिर जहाँ भी हम यथार्थता अथवा सत्य की ओर संकेत कर सकते हैं, वहीं परम सत्ता का अखण्ड जीवन प्रवाह है[3]।''

स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् के लिए जगत् की यथार्थता की स्वीकारोक्ति आध्यात्मिक मान्यताओं के लिए असंगत नहीं वरन् उनकी सुसंगति के लिए आवश्यक है। लेकिन इस स्वीकारोक्ति की पृष्ठभूमि में जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इसे स्वीकार किये बिना मानव-जीवन का सम्यक् विकास संभव नहीं हो सकता। इनकी स्पष्ट मान्यता है कि जगत्-मिथ्यात्व का पोषण मानव-जाति के प्रति घोर अन्याय है। जगत् के मिथ्यात्व की अवधारणा जीवन के स्वस्थ विकास के लिए अवरोधक है। यह मनुष्य के अन्दर उदासीनता, निष्क्रियता, एवं पलायन वृत्ति को जन्म देती है, जिसके चलते मानव अपने को उस अन्धकूप में पाता है, जहाँ उसकी गति और विकास अवरुद्ध हो जाती है। यही कारण है कि इन्होंने पूरे बल के साथ कहा है कि यह संसार कोई भूल या भ्रम नहीं है जिसे आत्मा

के द्वारा दूर किया जाना हो, अपितु यह तो आत्मिक विकास का एक दृश्य है, जिसके द्वारा भौतिक तत्त्व में से ही दिव्य चेतना आविर्भूत हो सकती है[७]। इनका तो यहाँ तक मानना है कि "आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान यह संसार ही है। सांसारिक जीवन अन्तिम लक्ष्य से ध्यान विचलित करने वाला नहीं है, अपितु अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है[८]।

अतः राधाकृष्णन् के अनुसार मानवीय आकांक्षाएँ जगत् की यथार्थता की स्वीकृति में ही तुष्ट होती है, अतएव जगत् को यथार्थ स्वीकार करना ही होगा। राधाकृष्णन् का यह विचार अन्य समकालीन भारतीय विचार के द्वारा भी समर्पित हुआ है। उदाहरण के लिए इकबाल ने भी, इसी भाव में, मानवीय आकांक्षाओं के मूल्य की महत्ता स्वीकार करते हुए माना है कि इन आकांक्षाओं की पूर्ति जगत् को यथार्थ मानने में ही होती है, अतः जगत् की यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता[९]। अरविन्द ने भी जगत् की यथार्थता के विचार के संपोषण में परम्परागत जगत्-प्रेम की अवधारणा की पुनर्समीक्षा की है, तथा इस सत्य का प्रतिपादन किया कि जगत् का सिद्धान्त भी वास्तव में हमें मनुष्य की दिशा में ही ले जाता है। यह भी सत् को देखने का एक मानवीय ढंग ही है, जो हमें भ्रम का भ्रम प्रदान करता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य ऊपर उठने की चाह में उस सत् को पाने का प्रयास करता है, जो शाश्वत है। अतः सत् के किसी भी पक्ष को भ्रमात्मक मान कर उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता। जगत् न केवल सत् है, वरन् इसमें स्वयं ही शाश्वतता विद्यमान् है[१०]। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी रास्ते का अनुकरण कर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यद्यपि हमारे कुछ दर्शन–विचारक यह मत प्रकट करते पाए जाते हैं कि सीमित वस्तु है ही नहीं, वह केवल माया है, भ्रान्ति है। वास्तविकता असीम में है, यह केवल माया है, अवास्तविक है जो देखने में सीमित मालूम होती है। किन्तु जो ध्यान देने की बात है, वह यह कि माया केवल एक नाम ही है, इससे किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। अतः इसके आधार पर यह स्वीकार करना कि जगत् अयथार्थ है– स्वीकार्य नहीं हो सकता।

स्पष्ट है कि परम्परावादियों का यह विचार कि जगत् की स्वीकृति मानव के आध्यात्मिक विकास का बाधक है, न तो राधाकृष्णन् को स्वीकार्य है और न ही इनके समकालीन अन्य भारतीय विचारकों को। बल्कि इसके विपरीत इनका तो यह मानना है कि जगत् की यथार्थता की स्वीकृति मानव के आत्म-विकास लिए तो सहायक है ही साथ ही जगत्-प्रक्रिया के उद्देश्यों की पूर्ति में भी यह महत्व पूर्ण सहायक सिद्ध होती है। राधाकृष्णन् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि–

"शाश्वत जीवन काल सापेक्ष संसार से हमें दूर नहीं ले जाता। यह उसका एक नया रूप सामने उद्घाटित करता है, यह संसार को ईश्वरीय ऐश्वर्य के प्रतिबिम्ब और इसकी एकता के बंधन के रूप में प्रस्तुत करता है। संसार मनुष्य के सच्चे, प्रमाणिक अस्तित्व के लिए खतरा नहीं है। हमको अपने चिरन्तन अस्तित्व के प्रति जागरूक रहते हुए संसार में जीवन-यापन करना है। हम रहें संसार में, परन्तु शाश्वत सत्ता के साथ हमारी लौ गली रहे। मनुष्य का सच्चा जीवन भौतिक सुरक्षा का जीवन नहीं है। अगर भौतिक सुरक्षा को ही हम सच्चे जीवन का स्वरूप मान लें, तब यह बालू पर दीवार खड़ी करने के समान होगा। सहानुभूति और प्रेम पर आधारित सच्चा, प्रमाणिक अस्तित्व ठोस चट्टान पर टिका होता है।"[१]

### (२) मानव एवं जगत् के बीच अन्तरंग सम्बन्ध की प्रतिष्ठा पर बल :

अतः राधाकृष्णन् के विचार में सच्ची आवश्यकता जगत् से पलायन करने की नहीं है, वरन् जगत् के साथ अपना अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करने की है। इनकी दृष्टि में यह सम्बन्ध एक प्रकार का आध्यत्मिक सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध में ही तथा जिसके माध्यम से ही मानव अपने आदर्श को प्राप्त करने में सफल हो पाता है। यहाँ दिलचस्प तथ्य यह है कि इस सम्बन्ध की प्रतिष्ठा में राधाकृष्णन् ने विज्ञान की सराहनीय भूमिका को खुले हृदय से स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि– "विज्ञान और टेक्नालाजी के आविष्कारों, राजनीतिक धारणाओं और आर्थिक विचारों के द्वारा दुनिया का दायरा सिकुड़ता जा रहा है, कोई भी देश अब किसी भी देश से बहुत दूर नहीं रह गया, पड़ोसीपन की निकटता विकसित होती जा रही है, और हमें पूरी आशा है कि यह पड़ोसीपन एक सच्चे भाईचारे में परिणत हो जाएगा। अगर हमें मानव जाति को बचाना है, तो सारे संसार को अपना घर बना देना होगा[२]।" इनके विचार में "यदि विज्ञान हमें कोई शिक्षा देता है, तो वह है ब्रह्माण्ड के अंगी या संगठित स्वरूप की शिक्षा। हमारा उस विश्व के साथ, जिसकी हम कृति हैं, तादात्म्य है, हमारी आँखों के सामने फैले प्रत्येक दृश्य के साथ हमारा एकत्व है। उपनिषदों और प्लेटो, दोनों की एक सामान्य आलंकारित उक्ति के अनुसार, प्रकृति का हरेक पिण्ड समस्त ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब, उसका छोटा रूप है। यदि ब्रह्माण्ड में नियम और व्यवस्था है तो हमारा जीवन और चेतना आकस्मिक संयोग नहीं है। हम विश्व के साथ ठोस रूप में एकाकार हैं और हमारी जड़ें गहराई तक उसके भीतर गयी हुई हैं। हम ब्रह्माण्ड के गिरे साक्षी चेता (स्पैक्टेटर) नहीं हैं, बल्कि उसके अभिन्न अंग या अवयव हैं[३]।" यदि यह मान लिया जाय कि विश्व की नियम-व्यवस्था हमारे मन की कृति है, तो हमारे मन भी तो ब्रह्माण्ड के ही अंग हैं[४]। राधाकृष्णन्

के इस विचार की संपुष्टि में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी कहा है कि– "विज्ञान की नई प्रगति भी विश्व की एकता और विश्व के साथ हमारी एकात्मकता के सत्य को अधिकाधिक स्पष्ट करती जा रही है[५]।" इनके विचार में हमारी आत्मा संसार में अपने से महत्तर आत्मा का अनुभव करती है, और उसकी अमरता में उसे पूर्ण विश्वास होता है। मनुष्य स्वतंत्र ही तब कहलाता है जब वह संसार के आत्मिक जीवन की धड़कन को अपनी आत्मा में सुनता है[६]। श्री अरविन्द ने भी इसी भाव में मानव की विश्व से एकात्मता की संपुष्टि में कहा है कि– "प्रकृति और मानव अविच्छेद्य रूप में सम्बन्धित हैं। मानव के उद्भव और विकास में ही प्रकृति अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है। विश्व की प्रगति मानव-व्यक्तित्व के विकास में ही निहित है[७]।"

यहाँ ध्यातव्य है कि राधाकृष्णन् ने न केवल मानव और जगत् के अन्तरंग सम्बन्ध पर बल दिया है, वरन् इसी सम्बन्ध के आलोक में इन्होंने जगत् के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर भी बल दिया है। इन्होंने स्पष्ट रूप से माना है कि जगत्, मनुष्य के द्वारा, अपने पुनर्निर्माण की प्रतीक्षा में है। इनके ही शब्दों में "मानवीय प्रकृति में अपार शक्यताएँ या प्रभविष्णुताएँ हैं, जबकि जागतिक उपक्रम का कोई पूर्व नियम लक्ष्य नहीं। स्वतंत्र चुनाव करने की शक्ति हमें भविष्य के लिए आशा प्रदान करती है। हम संसार की पुनर्रचना कर सकते हैं। हमारे चरित्र में जो दोष या मानस में जो त्रुटिया हैं उन्हें हम दूर कर सकते हैं। यदि हम वैसा करने का यत्न करेंगे तो जगत् की शक्तियाँ हमारी सहायता करेंगी। हम अपनी चेतना में मानवविकास की प्रक्रिया का संचालन कर सकते हैं। प्रकृति मानव-व्यक्तित्व में ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि सर्जनात्मक प्रक्रिया का निर्माता है। वह जगत् का अप्रतिम प्रतिनिधि है, जिसमें प्रकृति की अचेतन सर्जना चेतन सर्जना बन जाती है[८]।

स्पष्ट है कि अपने अन्तः की मानवतावादी चेतना से अनुप्राणित होकर राधाकृष्णन् ने न केवल जगत् की यथार्थता को स्वीकृति प्रदान की है, वरन् मानव एवं जगत् में एकात्मता को भी स्थापित किया है। इस स्थापना के पीछे उनकी यह अनुभूति प्रभावी थी कि जगत् की कोई व्याख्या तबतक कोई मूल्य नहीं रख सकती जबतक कि उस व्याख्या में मानवीय संगति न हो अथवा कम से कम यह व्याख्या मानवीय ढ़ंग को अनुगमित न कर रही हो। यही कारण है कि राधाकृष्णन् ने मानवीय सम्बन्ध में ही जगत् के स्वरूप एवं विकास तथा इसकी स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। इसका स्पष्ट प्रमाण है, 'मानव कर्मभूमि' के रूप में जगत् की व्याख्या!

**(घ) जगत्—मानव की कर्म भूमि**

न केवल राधाकृष्णन् वरन् लगभग सभी समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने मानव-विकास से जगत् की अपरिहार्यता को स्वीकार करने के क्रम में इसे मानव की कर्म-भूमि स्वीकार किया है– वह कर्मभूमि जिसमें मानव अपने स्व के प्रयास से, अपने कर्मों के द्वारा अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माण करता है । यहीं वह जन्म लेता है, परिस्थितियों के साथ निरंतर जूझता है, तथा अपने उत्तरदायित्व का वहन कर अपने स्वरूप तथा अपने जीवन के मूल्य को एक अर्थ प्रदान करता है । इस संसार में मनुष्य का आविर्भाव एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए हुआ है, और वह उद्देश्य है जीवन को एक नया आयाम प्रदान करना । यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रभृति विचारक स्पष्ट शब्दों में यह उद्भावना व्यक्त करते हैं कि– "हम संसार में जीने के लिए आए हैं, न कि केवल इसे जानने के लिए[१९]।" अतः इस संसार को केवल वास्तविक मान लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि साथ ही साथ इसका भी अभ्यास रखना है कि यह संसार एक रंगमंच है, जिसपर मानव को अपनी भूमिका पूरी दक्षता के साथ निभानी है ।

राधाकृष्णन् के विचारों में यह भावना बलवती रूप में प्रभावी है । इसी प्रभाव से प्रभावित हो उन्होंने जगत् की अपरिहार्यता एवं मानव-जीवन में इसके महत्त्व को खुले शब्दों में स्वीकार करते हुए कहा है कि यह एक ऐसा कर्म-क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति को उसके कर्मों के द्वारा आत्म-विकास का सुअवसर प्राप्त होता है । ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ टैगोर या इक़बाल जैसे दार्शनिक यह मानते हैं कि यह संसार केवल आध्यात्मिक विकास का सुअवसर प्रदान करता है, वहाँ राधाकृष्णन् ने इनसे भिन्न हो कर माना है कि यह संसार व्यक्ति के लौकिक विकास का सुअवसर प्रदान करता है, लेकिन साथ ही यह भी माना है कि यह लौकिक विकास ही मानव के आध्यात्मिक विकास की मौलिक शर्त है । इस तथ्य की अभिव्यक्ति में राधाकृष्णन् की शैली में अन्तर पाते हैं । जैसे, कभी तो इन्होंने इस तथ्य की अभिव्यक्ति एक नीति-उपदेशक की भांति की है, तो दूसरे समय इसे इन्होंने एक तत्त्वदर्शनवेत्ता के रूप में सामने लाने का प्रयास किया है । फिर अनेक समयों में इन्होंने इसे धर्मवेत्ता के रूप में धार्मिक अनुभूति का मौलिक पक्ष स्वीकार किया है । इनका कहना है कि– "विश्व में मानव की विस्मयकारी उपलब्धियाँ हैं, उसकी वीरता की घटनाएं हैं, उनकी सौन्दर्य–रचनाएं हैं, उसकी कल्पनाएं हैं और आविष्कार हैं[२०]।" राधाकृष्णन् की निम्न अभिव्यक्तियाँ नैतिक दृष्टिकोण से जगत् की महत्ता को सामने लाने का प्रयास करती हैं । "यह संसार घृणा अथवा द्वेष के लिए नहीं है और न ही विध्वंस के लिए है । हमें संसार में प्रेम एवं सद्भाव की चेतना को विकसित करना होगा तभी राष्ट्रों की

आन्तरिक उन्नति संभव हो सकेगी[२१]।'' आखीरकार यह ब्रह्माण्ड एकाकी और प्रेम का भूखा प्रतीत नहीं होता । जो लोग जीवन के कठोर संघर्ष में लगे हैं, वे भी एक दूसरे के दु:ख और कष्ट के आदर के आधार पर एक साथीपन की भावना विकसित कर सकते हैं । दु:ख के भोग में साथीपन दु:खों के भार को भी हल्का करता है[२२]।'' अन्य स्थानों पर राधाकृष्णन् ने इस तथ्य को, एक तत्त्वदर्शनवेत्ता के रूप में आध्यात्मिक औचित्यपूर्णता को निरूपित करने का भी प्रयास किया है। इस प्रयास के अन्तर्गत इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– ''अपनी क्रियाशीलता के अन्तर्गत मनुष्य नाटक में अपनी नियति को विवश और घटनाओं को नियंत्रित कर सकता है[२३]।'' उनका यह भी कहना है कि ''यदि हम जीवन को उसकी किसी भी प्रवृत्ति की अपेक्षा या अतिरंजना किए विना यथार्थ रूप में देखें तो हम यह देखेंगे कि यह विराट् गति हमारे किसी निजी लाभ के लिए कार्यरत नहीं है । इसका अपना एक विशाल उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्नशील है और जिसकी तुलना में हमारे उच्चतम उद्देश्य भी अत्यन्त तुच्छ हैं[२४]।'' पुनः राधाकृष्णन् के विचारों में अनेक ऐसे उद्धरण हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि यह संसार ही धर्मानुशासन के लिए मानव को भूमि प्रदान करता है । उदाहरण के लिए राधाकृष्णन् ने खुले शब्दों में इस संसार को एक ऐसी प्रशिक्षणशाला माना है, जिसमें संपूर्ण मानवजाति को उसकी पूर्णता प्राप्त होती है[२५]। इनके अनुसार ''प्रकृति में एक लय है, और यह मानव जीवन के लिए आवश्यक है''[२६] क्योंकि आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान यह संसार ही है । वस्तुतः राधाकृष्णन् की दृष्टि में यह सांसारिक जीवन मनुष्य को उसके अन्तिम लक्ष्य से विचलित करने वाला नहीं है, बल्कि यह तो अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है[२७]।

राधाकृष्णन् के विचारों का सार उनके निम्न कथन में व्यक्त किया जा सकता है– ''जिस जगत् में हम रहते हैं, वह परिवर्तन के अधीन है । यह संसार अस्तित्व का स्रोत तथा स्राव एवं संभव (बिकमिंग) का क्षेत्र है । यह वह स्थान भी है जहाँ हमें जीवन का अर्थ समझने का अवसर मिलता है[२८]।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राधाकृष्णन् के द्वारा विश्व की यथार्थता पर दिया गया बल आकस्मिक नहीं है, वरन् यह एक सचेतन प्रयास है, जिसके द्वारा राधाकृष्णन् ने अपनी मानवतावादी भावनाओं को तुष्ट करने का प्रयास किया है । लेकिन वैज्ञानिक मानवतावादियों से इनकी वैचारिक भिन्नता इस बिन्दु पर लक्षित है कि जहाँ ये मानवतावादी विचारक अपने को इस मान्यता पर रोक लेते हैं कि यह संसार एक कर्मभूमि है, वहाँ राधाकृष्णन् केवल यही पर नहीं ठहर पाते । वे एक कदम और आगे बढ़ कर यह मानते हैं कि यह संसार ऊपर अथवा परे का भी निर्देश करता है, तथा इस संसार में सम्पादित कर्म का परे

के जीवन और अस्तित्व के लिए भी अर्थ होता है। अत: इनके लिए इस संसार का महत्त्व है, इसके महत्त्व की यह स्वीकृति निश्चयत: उन्हें मानवतावादियों के अति निकट ले लाती है।

दर्शन शास्त्र विभाग
महिला कॉलेज, डालमियानगर,
डेहरी-ऑन-सोन ८२१३०७
रोहतास
(बिहार)

शम्भुशरण शर्मा

## टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य, *समकालीन भारतीय दर्शन*, लाल बसन्त कुमार, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १९९१, पृ. ३२५।

२. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, राधाकृष्णन् एस्., पृ. २८२।

३ *तत्रैव*, पृ. २९५।

४. *भगवद्गीता* (हिन्दी) अनुवाद), राधाकृष्णन् एस्., दिल्ली, सरस्वती विहार, १९८२, पृ. ४२।

५ *सत्य की ओर*, राधाकृष्णन् एस्. पृ. ८९।

६. ब्रैड्ले, एफ्. एच्. *अपियरेंस एण्ड रियलिटी*, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, द्वितीय संस्करण, १९८७, पृ. ४८७।

७. *धर्म और समाज*, राधाकृष्णन् एस., पृ. १०५।

८. वहीं, पृ. १०५।

९. इकबाल, सर मो., *सिक्स लेक्चर्स आन रिकन्स्ट्रक्शन आफ इस्लामिक थॉट*, १९३०, पृ. १३।

१०. अरविन्द महर्षि, *द लाइफ डिवाइन*, पौंडिचेरी, १९५५, पृ.अ ६५।

११. *साधना*, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैकमिलन, १९६१, पृ. ६५।

१२. *आध्यात्मिक खोज* (संक.) ''हमारी संस्कृति'', राधाकृष्णन् एस्., पृ. ५३।

१३. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, राधाकृष्णन्, एस्., पृ. ६५।

१४. वहीं, राधाकृष्णन् एस्., पृ. ६५।

१५. *साधना* (हिन्दी अनुवाद), ठाकुर, रवीन्द्रनाथ, पृ. ७७।

१६. वहीं, पृ. ७७।

१७. द्रष्टव्य, *द लाइफ डिवाईन*, अरविन्द, पृ. ४५ ।

१८. *सत्य की ओर*, राधाकृष्णन् एस्., पृ. ९८-९९ ।

१९. टैगोर रवीन्द्रनाथ, *पर्सनालिटी*, मैकमिलन, इण्डियन एडिसन, १९४८, पृ. ११६ ।

२०. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, राधाकृष्णन्, एस्., पृ. ६५ ।

२१. "द सोशल मेसेज आफ रिलीजन", (संक.) *ओकेजनल स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स*, राधाकृष्णन् (द्वितीय सीरीज, १९५२-५६), द पब्लिकेशन डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फर्मेशन एण्ड ब्रोडकास्टींग, गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया, १९६०, पृ. २९६ ।

२२. *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, पृ. ६७ ।

२३. *वहीं*, पृ. ६६ ।

२४. *वहीं*, पृ. ६६-६७ ।

२५. *सत्य की ओर*, राधाकृष्णन्, एस्., पृ. ८२ ।

२६. *वहीं*, पृ. ८१ ।

२७. *धर्म और समाज*, राधाकृष्णन्, एस्., पृ. १०५ ।

२८. *सत्य की ओर*, राधाकृष्णन् एस्. पृ. ८६ ।

# INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
## PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

# सर्वधर्म–समभाव : एक अनुशीलन

'सर्वधर्मसमभाव' से सहज ही यह समझ में आता है कि संसार में विद्यमान सभी धर्मों का समादर करना चाहिये, अर्थात् विभिन्न धर्मों के बीच उत्कृष्ट–अपकृष्ट का मानवकृत कृत्रिम भेद न करते हुए उनके प्रति समान आदर भाव रखना चाहिये। मनुष्य की गरिमा के बिल्कुल अनुकूल है उपर्युक्त सिद्धान्त । परन्तु, ठीक इसी विन्दु से कोई प्रश्न एकसाथ उठते हैं, सर्वप्रथम यह कि उक्त 'भाव' अभी हमारे अन्तरतम में विद्यमान नहीं हैं पर उक्त 'भाव' हमारे भीतर सृजित होना चाहिये। अन्य शब्दों में, यथार्थत: तो वह 'भाव' हमारे भीतर नहीं है पर आदर्श परक ढ़ंग से वह हमें प्रेरित करे, हमारे व्यावहारिक जीवन-शैली का मार्गदर्शन करे । ध्यातव्य है कि 'सर्वधर्मसमभाव' में विद्यमान 'भाव' शब्द वस्तुत: किसी ऐन्द्रिक अनुभूति या भावना का द्योतन नहीं करता जैसा कि शब्दत: ध्वनित होता है । अपितु वह एक सुविचारित संप्रचारित संप्रत्यय को अभिव्यक्त करता है । वैसे हमारे मन में अनेक संप्रत्यय यथा सुख, दुख, क्रोध, अमर्ष आदि के प्राय: उठते रहते हैं । परन्तु वे संप्रत्यय (Ideas) चंचल एवं सतत परिवर्तनशील होते हैं, अल्पकाल में ही क्षीण तथा समाप्त भी हो सकते हैं । किन्तु वह संप्रत्यय जो मन के द्वारा 'स्थिरीकृत' कर दिया जाये महज 'संप्रत्यय मात्र' न रह कर एक 'आदर्श' (Ideas) के रूप में ढ़ल जाता है जो भावात्मक एवं रचनात्मक ढ़ंग से मनुष्य को उसके भीतर से संचालित करता है । इस प्रकार 'आदर्श' मनुष्य के जीवन का नियामक (Regulative) तथा संरचनात्मक (Constitutive) तत्त्व के रूप में प्रादुर्भूत होता है । अन्य शब्दों में, 'आदर्श' मनुष्य के जीवन को जीवन्त, उदात्त बनाता है अथवा यह कहें कि जो 'संप्रत्यय' जीवन्त होता है वही मनुष्य का 'आदर्श' होता है ।

अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है ? और महात्मा गांधी 'धर्म' से क्या अभिप्राय लेते रहे ? क्योंकि 'सर्वधर्मसमभाव' महात्मा गांधी के एकादश व्रतों में अपना विशेष महत्त्व रखता है । और आज इस 'व्रत' की भूमिका

असंदिग्ध रूप से स्वयं में अपरिमित सम्भावनाएँ संजोए है । गांधी जी के वे एकादश व्रत हैं : सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्मसमभाव और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग। सत्य और अहिंसा ही इस व्रत के चरम तत्त्व हैं तथा अन्य सभी व्रत उनसे ही उद्भूत हैं । इतना ही नहीं सत्य (Reality) के परिप्रेक्ष्य में ही गांधी जी ने 'ईश्वर' को भी व्याख्यायित किया है । विभिन्न धर्मों में ईश्वर को अनेकविध परिभाषित किया गया है : कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वत्र है, प्रेम है, सृष्टि है, सत्य है.... इत्यादि। पर गांधी जी का यह कथन कि 'सत्य ईश्वर है' अभूतपूर्व निहितार्त व्यक्त करता है । यह यथार्थ में सत्य पर बल देता है न कि किसी धर्मशास्त्र द्वारा समर्थित ईश्वर पर । यहाँ 'सत्य' केन्द्रीय है । 'सत्य' मनुष्य से सर्वथा स्वतंत्र नहीं हो सकता । सत्ता एवं बोध दोनों ही दृष्टियों से 'सत्य' मनुष्य से विलग और विदेशी नहीं हो सकता । गांधी जी का यह कथन कि 'सत्य ईश्वर है, एक 'आध्यात्मिक मानवतावाद' का प्रतिपादन करना है ।[1] यही गांधी जी का (Axial) धुरीय सिद्धान्त है जिससे अन्य मानवोचित तत्त्व निसृत होते रहते हैं । यही कारण था कि गांधी जी 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति तथा शास्त्रीय अभिप्रायों के झमेले में स्वयं को न ड़ाल कर सहज रूप से कहते हैं[2] : "मेरे विचार में विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुंदर फूल तथा एक ही महावृक्ष की शाखाएं हैं, अतः वे समान रूप से सत्य हैं । परन्तु वे समान रूप से अपूर्ण भी हैं, क्योंकि मनुष्य ही उन्हें ग्रहण करते हैं और उनकी व्याख्या करते हैं", क्योंकि हर मानव अपूर्ण है अतः उसके द्वारा निर्मित धर्म भी अपूर्ण होगा । यह सत्य है कि मनुष्य सत्य की उपासना करता है, सत्य को उपलब्ध करने हेतु सचेष्ट होता है पर वह 'संपूर्ण सत्य' के अधिकारी होने का दावा नहीं कर सकता । क्योंकि तब तो मनुष्य 'ईश्वर' हो जाएगा । परन्तु विशेष रूप से वैष्णव धर्म से आप्यायित गांधी का व्यक्तित्व 'ईश्वर' को व्यक्तित्वविहीन भी स्वीकार नहीं कर पाता था, क्योंकि वे ईश्वर को दयालु, जीवन, सत्य और प्रेम भी मानते थे, परन्तु साथ ही वे यह भी उद्घोष करते हैं कि 'मुझे मालूम है कि मानवता से कहीं बाहर मैं ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता (*Harijan*, August 29, 1936) । संभवतः इसी कारण गांधी ने स्वयं को व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) कहा है । मानवता, मानव-वर्ग से गांधी को गहरी आत्मीयता थी। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब सभी धर्म विभिन्न मनुष्यों द्वारा ही निर्मित, सृजित हैं तो क्या कार्य (सृजित धर्म) अपने कारण (मनुष्य) को प्रभावित या प्रताड़ित कर सकता है । क्या कार्य में ऐसी क्षमता है कि वह व्यवहार में कारण को विद्रूप कर दे जैसाकि सम्प्रति हम देश में प्रत्यक्ष कर रहे हैं ।

इसका उत्तर भावात्मक हैं । उदाहरण के लिए, मनुष्य ने अपनी बौद्धिक क्षमता से अनेक वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं । उदा. उसने 'घड़ी' की रचना की है और निर्माण के उपरान्त अब 'घड़ी' मनुष्य को परिचालित करने लगी । मनुष्य ने अपने अनेक कार्यों, संकल्पों, नौकरियों में 'घड़ी' द्वारा बताये गये 'समय' पर अपने संपूर्ण जीवन को ढालने का अनायास और सायास प्रयत्न किया । कहते हैं जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक काण्ट के टहलने का समय इतना निर्धारित था कि लोग उनको टहलते देख कर अपनी घड़ियों का समय सही कर लेते थे । अब मान लें कि 'घड़ी', जो मात्र पुर्जों का सुविचारित संयोजन है, किसी तकनीकी कारण से चलते-चलते सहसा रुक गयी तो अध्यापक का अध्यापन, व्यापारी का व्यापार एवं विद्यार्थी का अध्ययन जैसे अनेक कार्य विशृंखलित हो जाते हैं । यदि किसी पायलट की घड़ी, जो किसी महत्त्वपूण उड़ान पर युद्धकाल में जा रहा है, सहसा रुक गयी तो किसी देश की भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति में भयावह अन्तर आ सकता है । वहाँ विनाश भी हो सकता है, महज घड़ी की सूइयों के ठहराव से । शायद इसी प्रकार कतिपय धर्मों में गतिरोध (pause) आने के कारण मनुष्य की राजनैतिक–सामाजिक स्थिति में निषेधात्मक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ तथा मूल्यों का पारस्परिक टकराव, विघटन प्रारम्भ हो गया ।

हिन्दू धर्म का तात्पर्य मात्र मंदिर नहीं है, इस्लाम का मतलब महज़ मस्जिद नहीं है, जैसे ईसाई धर्म केवल चर्च नहीं है । धर्म और भी व्यापक तथा सूक्ष्म है । यह अवश्य है कि मंदिर, मस्जिद तथा चर्च धार्मिक आचरण की शिक्षा के प्रभावशाली माध्यम रहे हैं, उनके जरिये धार्मिक शिक्षाएँ, सदाचार की बातें हमें प्राप्त होती रही हैं । पर वे स्वयं धर्म के मूर्तमान स्वरूप (Concrete form) कदापि नहीं कहे जा सकते । जैसे नीतिशास्त्र पढ़ाना तथा नैतिक होने में अन्तर है, प्रतिदिन नीतिशास्त्र पढ़ाने वाला अध्यापक अनीतिपरक भी हो सकता है । जैसे विद्या व विद्यालय में अन्तर है, अनेक दिन विद्यालय जाने के बाद भी कोई बालक अनपढ़ ही रह सकता है, ठीक उसी प्रकार मंदिर, मस्जिद या गिरिजाघर जाने वाला व्यक्ति धार्मिक ही हो, यह जरूरी नहीं है, वह धर्मविहीन भी हो सकता है यदि वह प्रार्थना या इबादत अपने अन्तरतम से नहीं करता ।

इसी बिन्दु पर विभिन्न धर्मों में विद्यमान समानता को हम लक्ष्य कर सकते हैं । समानता इस दृष्टि से कि प्रत्येक जाति एवं धर्म में मानव आत्मा अन्ततः एक ही आध्यात्मिक सत्ता के बोध हेतु उन्मुख व सचेष्ट रहती है, यह अवश्य है कि उनके द्वारा अपने-अपने लक्ष्यों को पाने की विधियों या साधनों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है । यहाँ हमें प्रोफेसर राधाकृष्णन् की 'धर्म' की व्याख्या

से गांधी जी की व्याख्या में सादृश्यता का अनुभव होता है । प्रोफेसर राधाकृष्णन् के अनुसार धर्म का तात्पर्य सद् आचरण है । धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'धारण' करना । अन्य शब्दों में जो किसी वस्तु को धारण (hold) करे और उसकी सत्ता को कायम रखे वह धर्म है । प्रत्येक प्रकार का जीवन, मनुष्यों का हर एक वर्ग, अपना-अपना धर्म रखता है जो वस्तुतः उनकी सत्ता की विद्यमानता का नियम है । इस प्रकार मनुष्य की प्राकृतिक इच्छाओं, सामाजिक उद्देश्यों तथा अध्यात्मिक जीवन में प्रचण्ड संघर्ष कहीं नहीं है । परम सत्य ब्रह्म अन्नमय कोश भी है । शाश्वत या कालातीत कालगत में अभिव्यक्त होता है और कालगत की मध्यस्थता से ही कालातीत सत्ता की उपलब्धि हो सकती है', अतः जगत् की वस्तुओं, व्यक्तियों, उसकी ठोस इयत्ताओं की अवहेलना अनुचित है ।

अतः मानवता को केन्द्रीय रखते हुए गांधी ने धर्म से मनुष्य के नैतिक उत्थान तथा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने का आवाहन किया है, तभी सर्वोदय अर्थात् सबका उदय, सब प्रकार से उदय तथा सबके द्वारा उदय सम्भव हो सकेगा । इस दृष्टि से धर्म का साधन मूल्य है, वह स्वतः साध्यरूप में गांधी जी के द्वारा प्रतिष्ठित नहीं है । यहाँ उल्लेखनीय है कि महात्मा गांधी ने विभिन्न धर्मों को मानवकृत कह कर उनकी मात्र अपूर्णता को ही रेखांकित किया है क्योंकि मनुष्य स्वतः अपूर्ण है, ईश्वर का अंश है, स्वतः ईश्वर नहीं है । परन्तु मानवीय अपूर्णता का तात्पर्य उसकी दुष्टता नहीं है, मनुष्य की (Weakness) कमजोरी एक चीज है, उसकी कुत्सिता (Wickedness) अलग चीज है । मानवीय कमियाँ उसकी प्रकृत्या हैं तथा कुत्सित-विचार व कर्म उसके उपार्जित तत्त्व हैं । अतः अपने धर्म की अपूर्णताओं को दूर करना, उनमें संशोधन करना, उसे लोगों के कल्याणार्थ, सबके शुभ हेतु व्यवहार्य बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है ।

मनुष्य तथा मनुष्य के द्वारा सृजित धर्म दोनों के वैशिष्ट्य का गांधी–विचार में कहीं भी समर्पण नहीं है । मनुष्य तथा उसके धर्म-विशेष की सीमारेखा समाज में उसकी विशिष्ट पहचान को बनाए रखती है । विभिन्न धर्मों के मध्य 'समन्वय' (reconciliation) की बात गांधी उचित मानते थे । यही कारण था कि गांधी जी की प्रार्थना सभा में कुछ वैष्णव भजन, कुरान की कुछ आयतें तथा बाइबिल के कुछ अंश गाये जाते थे जिससे सभी धर्मों के व्यक्ति उसमें उपस्थित होकर अपनी सहभागिता करते थे । परन्तु गांधी जी ने विभिन्न धर्मों के गुणों को समवेत रूप में लेकर किसी 'सार्वभौम धर्म' की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया । वे 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' में विश्वास करते थे ।

हर एक धर्म की उत्पत्ति की जागतिक परिस्थितियाँ अलग-अलग रही हैं। अतः एक धर्म का दूसरे में संविलयन या सायुज्य सहज नहीं, कृत्रिम ही होगा। शिकागो एड्रेस में स्वामी विवेकानन्द ने गांधी जी से वर्षों पहले कहा था : "बीज भूमि में बो दिया गया है, और मिट्टी, वायु तथा जल उसके चारों ओर रख दिये गये हैं, तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है ? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है । वह अपने नियम से ही बढता है और वायु, जल तथा मिट्टी को अत्मसात् कर, इन उपादानों से शाखा-प्रशाखाओं की वृद्धि कर एक बड़ा वृक्ष हो जाता है", "यही अवस्था धर्म के संबंध में भी है, प्रत्येक मत के लिये आवश्यक है कि वह अन्य मतों को आत्मसात् करके पुष्टि लाभ करे और साथ ही अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ अपनी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो ।" यही कारण था कि स्वामी विवेकानन्द सहिष्णुता (Tolerance) को एक निषेधात्मक दृष्टिकोण मानते हुए स्वीकृति या ग्राह्यता (Acceptance) पर बल देते थे, जो कि एक भावात्मक दृष्टि है ।

**धर्मों के मध्य समन्वय की युक्तियुक्तता (Rationale) :**

सारग्राही, तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न महात्मा गांधी इतना निःसंदेह समझते थे कि धर्म, मज़हब और रिलिजन पृथक्-पृथक् व्युत्पत्तिलब्ध तात्पर्य देते हैं : अतः उनकी शास्त्रीय परिभाषाओं से बचते हुए वे 'धर्म' को इस रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत करना चाहते थे कि हिन्दू धर्म, ईसाइयों का रिलिजन और मुस्लिम वर्ग का मज़हब समवेत रूप से अपना-अपना संवर्धन कर सकें । उनके बीच आज विद्यमान विरोध (Opposition), मात्र विभेद (Difference) का सूचक रहे । प्रश्न यहाँ यह उठता है कि विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक– अध्ययन व सहृदय मूल्यांकन क्या उनके जन्मजात विमुखता का निराकरण कर सकता है ?

गांधी जी ने इसीलिए सभी धर्मों को मानवकृत कह कर उनकी अपूर्णताओं को दर्शाते हुए कहा है कि किसी धर्म-विशेष का अस्तित्व दूसरे धर्म का उच्छेदक नहीं है । गांधी जी के मन्तव्य को समझने के लिए हम तर्कशास्त्र के 'परम्परागत विरोध के वर्ग' (Traditional square of opposition) का थोड़ा स्मरण करें। किन्हीं दो धर्मों के बीच का विरोध, व्याघाती न होकर उपवैपरीत्य (Subcontrariety) का भेद होगा जो अंशव्यापी भावात्मक तथा अंशव्यापी निषेधात्मक प्रतिज्ञप्तियों (I&O propositions) के बीच होता है । अर्थात् जब दो प्रतिज्ञप्तियाँ एक साथ 'सत्य' तो हो जाय किन्तु जब दोनों एक साथ 'असत्य' न हो सकें । उदाहरण :

कुछ मनुष्य डाक्टर हैं — I प्रतिज्ञप्ति
कुछ मनुष्य डाक्टर नहीं हैं — O प्रतिज्ञप्ति

स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ एक साथ सत्य हैं। ठीक उसी प्रकार से कोई भी दो धर्म एक साथ सत्य हो सकते हैं, अपने स्वरूप व वैशिष्ट्य के साथ, एक ही दिक्-काल में।

**अन्तत:—सर्वोदय**

'सर्वधर्मसमभाव' मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। यह साधन है, मानवता के कल्याण में; शान्ति, प्रगति एवं सर्वोदय में। 'सर्वधर्मसमभाव' यदि एक स्थिर अवस्था का द्योतन करता है तो वह स्वयं में पर्याप्त नहीं है। यह सर्जनात्मक एवं गत्यात्माक होना चाहिए। क्योंकि यदि सर्वधर्मसमादर का भाव हममें है तो मानवीव संघर्षों का अन्त होगा, शांति होगी, तभी भौतिक उन्नति एवं आध्यात्मिक प्रगति भी होगी। मानवता ऊर्ध्वमुखी प्रगति करेगी। सर्वोदय और प्रगति इसलिए नहीं है क्योंकि हमारी अमूल्य ऊर्जा आपस में ही संघर्षरत रहने के कारण निरन्तर क्षय होती रहती है। हम एक वैध शेषवत् अनुमान द्वारा इसे निम्नांकित प्रकार से दर्शा सकते हैं :

| | |
|---|---|
| यदि सर्वधर्मसमभाव है तो प्रगति है | $य \supset र$ |
| अ—प्रगति है | $\sim र$ |
| अतः अ—सर्वधर्मसमभाव है। अर्थात् सर्वधर्मसमभाव नहीं है) | $\therefore \sim य$ |

यह अवधेय है कि लेखक ने यहाँ 'प्रगति' शब्द का प्रयोग नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष को दृष्टिगत रखते हुए किया है। जबकि जगत् में भौतिकी, चिकित्सीय आदि के विकास को 'उन्नति' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'प्रगति' आभ्यंतरिक है और 'उन्नति' भौतिक, जागतिक या लौकिक विकास का सूचक है। सतत विकासमान भौतिक के क्षेत्र में हम यह दावा तो कर सकते हैं कि आर्किमडीज से हम आगे बढ गये हैं पर वर्तमान युग में आज हम सुकरात से अधिक नैतिक और शंकराचार्य से अधिक आध्यात्मिक होने का दावा कदापि नहीं कर सकते। अतः हमारी 'प्रगति' बाधित हुई है, यह तथ्य निर्विवाद है।*

दर्शन विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ. प्रदेश)

चन्द्र प्रकाश श्रीवास्तव

## टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य लेखक का शोध-पत्र "मानवीय नियति और सत्य", परामर्श (हिन्दी), मार्च १९९१ ।

२. महात्मा गांधी, *हिन्दू धर्म* सम्पादक, भारतन् कुमारप्पा, पृ. २६१ ।

३. "Dharma formed from the root *dhr*, to hold, means that which holds a thing and maintains it in being. Every form of life, every group of men has its *dharma*, which is the law of its being." Also, "The eternal is manifested in the temporal, and the latter is the pathway to the former."

-Radhkrishnan, S., *The Hindu View of Life*, Blackie & Sons Publishers, 1983, pp. 56-57.

४. *The Complete Works of Swami Vevekananada*, Vol. I, Mayavati Memorial Editor Advaita Ashrama, Calcutta, 1962, p. 24.

*यह शोध-पत्र दर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा 'सर्वधर्मसमभाव' पर आयोजित राष्ट्रीय- संगोष्ठी (१६ से १८ मार्च १९९४) में १७ मार्च को द्वितीय सत्र मे लेखक के द्वारा पढ़ा गया ।

# योग्यता-शाब्दबोध की अनिवार्य शर्त?

शाब्दबोध श्रोता और वक्ता के बीच की वह स्थिति है जो वक्ता के वाक्य उच्चारण के पश्चात् श्रोता में उत्पन्न होती है। "शब्दाच्छ्रुताज् जायमानबोधः ।"

साधारणतः कोई वाक्य श्रवण करने के पश्चात्, यदि उस भाषा पर हमारा अधिकार है, तो उसका अर्थबोध हमें हो जाता है। किन्तु यहाँ पर 'अर्थबोध' होने का क्या तात्पर्य है ? पहले हमें उस वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ-बोध होता है, फिर उस वाक्य का अर्थ-बोध होता है, या सम्पूर्ण वाक्य का एक साथ ही अर्थ-बोध हो जाता है ? यह आलोचना का विषय है। फिलहाल हम इस आलोचना में प्रवेश नहीं करेंगे। इस प्रबन्ध का उद्देश्य यह भी दिखलाना नहीं है कि किस तरह एक वाक्य को विभिन्न शब्द आपस में अन्वित होकर वाक्यार्थ-बोध को जन्म देते हैं, क्योंकि वैसा करने से प्रबन्ध के अतिदीर्घ हो जाने का भय है। इस प्रबन्ध का उद्देश्य वास्तव में यह दिखलाना है कि वाक्यार्थ-बोध के लिए स्वीकृत चार मुख्य शर्तों—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य— में योग्यता ज्ञान की अनिवार्यता, उसकी प्रयोजनीयता, और उसकी विशिष्टता दिखलाना है। आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य के बल पर वाक्य निहित पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थ परस्पर मिलित होकर शाब्दबोध (वाक्यार्थबोध) उत्पन्न करते हैं।

तत्त्वचिन्तामणिकार 'शब्द खण्ड' में आकांक्षावाद प्रकरण में 'अमिधानापर्यवसानम्' आकांक्षा का लक्षण करते हैं, अर्थात् जिस पद के बिना जिस पद में अपर्यवसान या स्वार्थगोचर अन्वयानुभव का जनकत्व नहीं रहता है, उस पद की अन्य पद के साथ आकांक्षा होती है। इसी तात्पर्य को ग्रहण करके भाषापरिच्छेदकार कहते हैं— जिस पद के बिना जो पद अन्वयबोध के लिए उपयोगी नहीं होता है, उन दोनों में परस्पर आकांक्षा रहती है। नवीन नैयायिक आनुपूर्वी को आकांक्षा मानते हैं। अर्थात् वाक्यगत पदसमूहों का परस्पर पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी को विशेषण बना कर वाक्यविषयक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे आकांक्षाज्ञान कहते हैं। जैसे—

'गामायन' इस वाक्य में 'गो-निष्ठ-कर्मतानिरूपक आनयनानुकूल कृतिमान्' इस प्रकार अन्वयबोध के प्रति 'गो' पदोत्तर 'अम्' पदोत्तर 'आ+नी' पदोत्तर 'हि' पदत्वस्वरूप आनुपूर्वीप्रकारक 'गामानय' यह वाक्यविषयक ज्ञान कारण है। यदि उक्त आकांक्षा-ज्ञान को शाब्दबोध का कारण न स्वीकार किया जाय तो 'गामानय' इस वाक्य से जिस प्रकार का शाब्दबोध उत्पन्न होता है, उस प्रकार 'गौः कर्मत्वम् आनयनम् कृतिः' इस रूप निराकांक्ष वाक्य से भी उक्त शाब्दबोध उत्पन्न होने लगेगा। लेकिन ऐसे निराकांक्ष वाक्य से शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होता है। अतएव शाब्दबोध में आकांक्षाज्ञान की कारणता अवश्य ही स्वीकार्य है। किन्तु इतना कहना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तब जिस किसी दो शब्दों से शाब्दबोध होने लगेगा। जैसे- 'वह्निना सिंचति'. इस वाक्य से, नैयायिकों के अनुसार, कोई शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि इस वाक्य के पदों में परस्पर योग्यता का अभाव है। अतएव योग्यता के अभाव में शाब्दबोध नहीं हो सकता है। इस प्रबन्ध में हम यह दिखलाने की कोशिश करेंगे कि योग्यताज्ञान के अभाव में भी शाब्दबोध हो सकता है, यद्यपि यह न्यायसम्मत नहीं है। इस प्रसंग में नैयायिकों के साथ वैयाकरणों का मत भी स्पष्ट किया जायेगा।

सर्वप्रथम हमें 'शाब्दबोध' पद का तात्पर्य जानना पड़ेगा। शाब्दबोध। वाक्यार्थ बोध। अन्वयबोध। वाक्यार्थ। वाक्य– इनमें क्या फर्क है? वाक्य का लक्षण मोटे तौर पर 'पदसमूहो वाक्यम्' ही ग्रहण कर लेते हैं, यद्यपि यह विषय भी काफी जटिल है। शाब्दबोध, वाक्यार्थबोध और अन्वयबोध को पर्याय मान लें तो समस्या थोड़ी लघु हो जायेगी। तब हमें सिर्फ वाक्यार्थबोध और वाक्यार्थ से जूझना रह जायेगा।

पुनः अपने प्रश्न पर वापस आये तो सवाल उठता है कि योग्यता किसे कहते हैं? प्राचीन नैयायिकों के अनुसार 'बाध-विरह' रूप योग्यता ज्ञान ही शाब्दबोध का कारण स्वीकृत है। 'वह्निना सिंचति' इस वाक्य में 'वह्नि' पद के साथ 'सिंचति' पद का अन्वय बाधित है, फलतः इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होगा, क्योंकि वह्नि से सेचन क्रिया संभव नहीं है। लेकिन इस वाक्य को यदि अर्थपूर्ण भावना हो तो 'वह्नि' पद के द्वारा लक्षणावृत्ति से उपस्थित 'उष्ण जल' तात्पर्य लेना पड़ेगा। अर्थात् उष्ण जल से किसी कोमल पौधे को सींचने से 'आग से सींचना' कहने पर भी लक्षणा से पदार्थों का उचित ज्ञान हो जाता है और तब योग्यता-ज्ञान अपने आप संभव बन जाता है। अतः कहना चाहिये कि तात्पर्य ज्ञान ही यहाँ मुख्य वस्तु है। इसलिए नवीन नैयायिक एकपदार्थप्रकारक-अपरपदार्थ-विशेष्यकज्ञान को ही योग्यताज्ञान कहते हैं।

'एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः ।'

–भाषा-परिच्छेद, पृ. ४७०

उक्त योग्यताज्ञान संशय और निश्चय उभय साधारण है, क्योंकि योग्यताज्ञान शाब्दबोध के पूर्व सर्वत्र नहीं रहता है । एक पदार्थ से अपरपदार्थ का अभिनव सम्बन्ध-रूप वाक्यार्थ भी हो सकता है । अतएव शाब्दबोध अनिश्चित हो जायेगा । इसलिए कहते हैं– योग्यताज्ञान संशयात्मक अथवा निश्चयात्मक– उभय रूप से ही शाब्दबोध का हेतु होता है ।

"ननु एतस्य योग्यतायाज्ञानं शाब्दबोधात् प्राक् सर्वत्र न संभवति, वाक्यार्थसंसर्गस्यापूर्वत्वादिति चेत् । न । तत्तत् पदार्थ स्मरणे सति क्वचित् संशयरूपस्य क्वचित् निश्चयरूपस्यापि योग्यताया-ज्ञानास्य संभवति ।"

–भाषा-परिच्छेद, पृ. ४७०-४७१

शाब्दिक-सम्प्रदाय के लोग योग्यतानिश्चय की तरह योग्यता–संशय से भी यथार्थ अन्वय-बोध स्वीकार करते हैं । 'गामानय' इत्यादि वाक्य स्थल में उक्त वाक्य के अन्तर्गत 'गाम्' इत्यादि पद से 'कर्मत्वम् गवीयम्' इस आकार के आधेयत्व सम्बन्ध से गो-प्रकारक-कर्मत्व-विशेष्यक निश्चय जिस रूप से आधेयत्व सम्बन्ध से गो-विशिष्ट-कर्मत्व-बोध का कारण होता है, उसी प्रकार 'कर्मत्वं गवीयम् न वा' इस प्रकार योग्यता–संशय से भी उक्त अन्वय-बोध हो जायेगा । योग्यताज्ञान यदि अन्वय-बोध के प्रति कारण स्वीकृत नहीं होगा तो 'जलेन सिंचति' वाक्य से जिस प्रकार यथार्थ अन्वय-बोध उत्पन्न होता है, उसी प्रकार 'वह्निना सिंचति' इस अयोग्य वाक्य से भी अन्वय-बोध की आपत्ति हो जायेगी ।

"योग्यतायाः संशयसस्थलेप्यन्वयबुद्धेरानुभविकत्वाच्च ।"

–शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. ३०

नव्यनैयायिक योग्यता-ज्ञान को शाब्दबोध का कारण नहीं मानते हैं, क्योंकि सेचन में वह्निकरणकत्वाभावरूप अयोग्यतानिश्चय प्रतिबन्धक होने के कारण शाब्दबोध नहीं होता है । प्रतिबन्धक का तात्पर्य है जिसकी उपस्थिति में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । अतएव अयोग्यताज्ञान का अभाव, कार्य याने शाब्दबोध की उत्पत्ति में सहायक माना जाएगा । अयोग्यताज्ञान का अभाव का अर्थ हुआ प्रतिबन्धकाभाव, जो कि नैयायिकों के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति में साधारण कारण की श्रेणी में आता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो नैयायिकों के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति में जो कारणर सामग्री होती है वह दो श्रेणियों में बांटी

जा सकती है– असाधारण कारण तथा साधारण कारण । असाधारण कारण याने कार्य का विशेष हेतु जैसे– प्रत्यक्षज्ञान के स्थल में इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष। तथा साधारण कारण जो सभी कार्य की उत्पत्ति में आवश्यक होते हैं, यथा– ईश्वर, ईश्वर इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, तत्तत् कार्य का प्रतिबन्धकाभाव, काल, अदृष्ट (धर्म और अधर्म) । शाब्दबोध के स्थल में अयोग्यतानिश्चय प्रतिबन्धक होने के कारण उसका अभाव कार्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धाभाव रूप में साधारण कारण के अन्तर्गत आ जायेगा । फलतः विशेष कारण मानने का कोई औचित्य नहीं है । दूसरी बात यह है कि अयोग्यतानिश्चय का अभाव जब साधारण कारण के अन्तर्गत परिगणित हो ही गया तो योग्यता निश्चय को शाब्दबोध का अतिरिक्त हेतु मानना अनावश्यक भी हो जायेगा । अर्थात् अयोग्यता निश्चय के अभाव के द्वारा योग्यता-निश्चय अन्यथा सिद्ध भी हो जायेगा । जैसा कि जगदीश कहते हैं–

"बाधनिश्चयाभावेनान्याथासिद्धस्य योग्यतानिश्चयस्यानावश्यकत्वात्"

–*शब्दशक्तिप्रकाशिका*, पृ. ३०

यहाँ पर अन्यथासिद्ध का संक्षेप में परिचय दे देना आवश्यक है । प्राचीन नैयायिक मतानुसार अवश्य क्लृप्त नियतपूर्ववर्ति कारण से भिन्न सभी कारण अन्यथासिद्ध कहलाते हैं । यथा, घट कार्य के प्रति दण्डादि कारण अवश्य क्लृप्त नियतपूर्ववर्ति होने के कारण उसमें सहभूत दण्डत्व घट के प्रति अन्यथासिद्ध है । नवीन नैयायिकों के मतानुसार लघुनियतपूर्ववर्ति कारण रहने पर उससे भिन्न सभी अन्यथासिद्ध हो जायेंगे । लघुत्व भी तीन प्रकार से हो सकता है– शरीरकृत, उपस्थितिकृत तथा संबन्धकृत । जैसे, प्रत्यक्ष के लिए अनेकद्रव्यत्व की अपेक्षा महत्त्व शरीरकृत लघु होने के फलस्वरूप कारण है । गन्ध के प्रति रूपप्रागभाव की अपेक्षा गन्धप्रागभाव उपस्थितिकृत लघु होने के कारण, कारण स्वीकृत है । क्योंकि गन्ध के प्रति गन्धप्रागभाव के प्रतियोगी गन्ध की उपस्थिति रूप की तुलना में लघु है । इसी तरह घट के प्रति दण्डत्व तथा दण्डरूपादि की अपेक्षा दण्ड का कारण स्वीकारना संबन्धकृत लघु है । दण्डत्व तथा दण्डरूप स्वाश्रयदण्डसंयोगादिरूप परम्परा सम्बन्ध से होने के कारण गुरु है, जबकि दण्ड साक्षात् संयोग सम्बन्ध से होने पर लघु है ।

शाब्दबोध के प्रति बाधनिश्चयाभाव (अयोग्यतानिश्चयाभाव) रूप प्रतिबन्धकाभाव अवश्यक्लृप्तपूर्ववर्ति होने के कारण साधारण कारण के रूप में स्वीकृत भी है । अतएव योग्यताज्ञान को पुनः विशेष कारण स्वीकारना अनावश्यक है ।

यहाँ पर यह बात स्मरण रखने की है कि अयोग्यतानिश्चय का अभाव, प्रतिबन्धकाभाव होने से उसका प्रतियोगि अयोग्यता-निश्चय, लौकिकसन्निकर्षाजन्य, दोषविशेषाजन्य

तथा अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित के द्वारा विशिष्ट होना चाहिये। क्योंकि, प्रथमतः बाधनिश्चयकाल में यदि लौकिकसन्निकर्ष के द्वारा विशिष्टबुद्धि उत्पन्न हो गई, तो शाब्दबोध की आपत्ति हो जायेगी। इसी तरह बाधनिश्चय होने पर भी यदि दोषवशात् विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न हो गई तो भी शाब्दबोध की आपत्ति हो जायेगी। यथा– 'शंखो न पीतः' यह बाधनिश्चय होने पर भी पित्तादिदोषवशात् 'पीतः शंखः' विशिष्ट-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। अतएव लौकिकसन्निकर्षाजन्य तथा दोषविशेषाजन्य विशेषण दिए गए हैं। इसके अलावा बाधनिश्चय रहने पर भी आहार्यात्मक विशिष्टबुद्धि उत्पन्न हो सकती है। यद्यपि परोक्ष ज्ञान के स्थल में आहार्यात्मक ज्ञान साधारणतः स्वीकृत नहीं है, पर शाब्दिक सम्प्रदाय के लोग ऐसा मानते हैं। अतएव कहते हैं अयोग्यतानिश्चय अनाहार्यत्व विशेषणयुक्त होना चाहिये। संक्षेप में आहार्यात्मक ज्ञान "बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानम्। यथा ह्रदो वह्निमान् इति ज्ञानम्"। अर्थात् बाधकाल में स्वेच्छा से यदि विपरीत ज्ञान किया जाय तो आहार्यात्मक ज्ञान कहलाता है। "वह्निना न सिंचति" ऐसा विरोधी ज्ञान होने पर भी यदि कोई 'वह्निना सिंचति' वाक्य प्रयोग करें तो यह आहार्यात्मक ज्ञान कहा जाता है। अतएव कहते हैं अयोग्यतानिश्चय होने पर भी कोई योग्यता आरोपित करने की इच्छा से उपर्युक्त वाक्य कर सकता है, इसलिए अयोग्यतानिश्चय अनाहार्यात्मक होना चाहिए। अन्त में कहते हैं अयोग्यता निश्चय होने के पश्चात् यदि किसी को यह ज्ञान हो जाय 'इदं ज्ञानं अप्रमा" तो भी विशिष्टबुद्धि हो जायेगी, इसलिए अयोग्यतानिश्चय को अप्रामाण्य-ज्ञानास्कन्दित विशिष्ट भी होना चाहिए।

सिद्धान्ततः नवीन नैयायिक कहते हैं कि योग्यता ज्ञान के बिलम्ब से शाब्दबोध का बिलम्ब नहीं होता है, अतएव योग्यताज्ञान शाब्दबोध का कारण नहीं हो सकता है। लेकिन यहाँ पर मुख्य मुद्दा यह नहीं है कि योग्यता-ज्ञान शाब्दबोध का कारण है कि नहीं। प्रश्न यह है कि योग्यता-ज्ञान के बिना शाब्दबोध उत्पन्न हो सकता है कि नहीं। नैयायिक स्पष्ट शब्दों में ही इसका खण्डन करते हैं कि यदि वाक्य निहित पदों द्वारा उपस्थित पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध में बाध है तो शाब्दबोध उत्पन्न नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए 'राजा कर्णेन पश्यति' इसमें श्रवणेन्द्रिय दर्शन क्रिया के अयोग्य होने के कारण उपर्युक्त वाक्य शाब्दबोध उत्पन्न नहीं करता है।

लेकिन वैयाकरण सम्प्रदाय, जिसमें नागेश इत्यादि प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि योग्यता ज्ञान के बिना भी शाब्दबोध उत्पन्न हो सकता है। 'वह्निना सिंचति' यदि पूर्णरूप से अर्थ-हीन वाक्य होता, तो यह वाक्य सुन कर हमें हंसी क्यों आती है, हम इसे निरर्थक कैसे समझ लेते हैं ? कहानी, फंतासी इत्यादि के द्वारा हमें शाब्दबोध न होता तो हम उन्हें क्यों पढते ? 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते'

(अंगुली की नोंक पर सौ हाथियों का झुंड है) यह वाक्य सुन कर हम मन ही मन कल्पना कर लेते हैं कि यदि ऐसा होता तो कैसा लगता । यद्यपि इस वाक्य द्वारा कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं होता है, पर कुछ न कुछ अर्थ का वाहक यह अवश्य है, अन्यथा इसका चित्रांकन करना संभव नहीं होता । हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि योग्यता ज्ञान हमारे प्रामाणिक ज्ञान के क्षेत्र की लक्ष्मण रेखा खींच देता है । इसके बाहर जाने से प्रामाणिकता का दायित्व नहीं रह जाता है।

नैयायिक बाध-स्थल में शाब्दबोध न मान कर केवल पदार्थ की उपस्थिति ही मानते हैं । यथा 'इदं रजतम्' इस रूप से भ्रांतिज्ञान स्थल में जो प्रवृत्ति होती है, उसका कारण पदार्थों में परस्पर असंसर्गाग्रहरूप ज्ञान का होना है । वैयाकरण आपत्ति करते हैं कि तब तो सर्वत्र बाध-निश्चयरहित स्थलों में भी तुल्य न्याय से पदार्थ की उपस्थिति ही हो, न कि शाब्दबोध । इसके अलावा 'मुखं चन्द्रः' की तरह 'मुखत्वम् आश्रयः चन्द्रत्वं आश्रयः' इस वाक्य से भी चमत्कार की अनुभूति होनी चाहिये, क्योंकि पदार्थ तो उपस्थिते होते ही हैं । लेकिन ऐसा होता नहीं है, अतएव पदार्थ उपस्थिति पर्याप्त नहीं है ।

नैयायिक कहते हैं कि बाधज्ञान होने पर प्रवृत्ति नहीं होती है यह अनुभवसिद्ध है । और प्रवृत्ति के प्रति विशिष्टज्ञान कारण होता है । इसलिए 'अग्निना सिंच' वाक्य से प्रवृत्ति न होने से इनसे शाब्दविशिष्टज्ञान की सिद्धि नहीं मानी जायेगी। नागेश कहते हैं कि बाध-स्थल में भी शाब्द-बोध होना अनुभव सिद्ध है । बाध का निश्चय शब्द प्रयोज्य बोध में प्रतिबन्धक नहीं होता है, तथा बाधनिश्चयाभाव का ज्ञान उसमें कारण भी नहीं होता है । 'एष वन्ध्यासुतो....'' इस वाक्य से शाब्दबोध होता है । यह अलग विषय है कि यह बोध अप्रमात्मक है । इसलिए लोक में बाधित अर्थ वाले वाक्यों के प्रयोग करने वालों का उपहास करना संगत होता है, क्योंकि बौद्धार्थ तो सर्वत्र ही बोध का विषय होता है–

''बौद्धार्थस्यैव सर्वत्र बोधविषयत्वेन बाधस्याभावात् ।''

–परमलघुमंजूषा, पृ. ८८

''वह्निना सिञ्चतीत्यतो बोधाभावे तद्वाक्यप्रयोक्तारं प्रति 'अद्रवेण वह्निना कथं सेकं प्रवीषि' इत्युपहासानापत्तेश्च वाक्यार्थ बोधे जाते बुद्ध्यर्थविषये प्रवृत्तिस्तु न भवति । बुद्ध्यर्थेऽप्रामाण्यग्रहादित्यन्यत्र विस्तरः।''

–परमलघु मंजूषा, पृ. ८९ ।

बुद्धिप्रदेशस्थ अर्थ ही सर्वत्र बोध का विषय होता है । अतः अन्वयबोध का बाध ही नहीं है । वस्तुतः शंख में पीतत्वाभाव का निश्चय रहते हुए भी नेत्र दोष

वाले व्यक्ति को 'पीत: शंख:' बोध का उदय होता है, अत: बाधज्ञान किसी भी ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं होता है, क्योंकि बाधज्ञान के काल में भी सामग्री के रहने से विरोधीज्ञान उत्पन्न ही होता है। इस स्थिति में अपनी अपनी सामग्री के कारण दोनों प्रकार के ज्ञान उत्पन्न तो हो जाते हैं, पर जिस ज्ञान में 'दोषयुक्त सामग्री से यह उत्पन्न है' ऐसा ज्ञान होता है, उसमें अप्रमात्व हो जाता है, अर्थात् 'यह ज्ञान अप्रमा है ऐसा ज्ञान हो जाता है, यही मर्यादा उचित भी है। इसमें *महाभाष्य* से प्रमाण दिखलाते हैं– 'लट: शतृ' इस सूत्र में शीघ्र संचार से अलातचक्र के आकार में प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय बनता है, किन्तु रूपसमानाधिकरण अनेक दिग्वर्ती स्पर्श के एक ही काल में ग्रहण का संभव न होने से अनुमान प्रमाण से समझा जाता है कि 'यह चक्र नहीं है''। अलातचक्रं प्रत्यक्षं दृश्यते, अनुमानाच्च गम्यते नैतदस्तीति' ऐसा कहा गया है। भर्तृहरि भी कहते हैं–

> 'स्पर्शप्रबन्धो हस्तेन यथा चक्रस्य सन्तत: ।
>
> न तथाऽलातचक्रस्य विच्छिन्नं दृश्यते हि तत् ॥
>
> –*वाक्यपदीय*, कारिका, २९१

जैसे वास्तविक लघु परिमाण चक्र का हाथ से एक ही काल में नाना दिग्वर्ती स्पर्श किया जाता है, अलातचक्र का वैसा स्पर्श नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो विच्छिन्न होता है। गौतम भी कहते हैं कि मन के आशु संचार के कारण मन से अनेक क्रियओं के यौगपद्य से उपलब्धि होती है, वस्तुत: क्रियाओं का यौगपद्य नहीं होता, जिससे मन का बहुत्व सिद्ध हो। क्योंकि परमाणु रूप मन से एक काल में एक ही क्रिया का ग्रहण होना संभव है। यहाँ पर क्रम के होते हुए भी आशुभ्रमण से क्रम ग्रहीत नहीं होता है।

वैयाकरण पुन: कहते हैं कि वादविवाद स्थल में प्रतिवादी के कहे हुए शब्द से बोध न होने से उसके खण्डन की चर्चा का विलोप हो जायेगा, क्योंकि प्रतिवादी के वाक्य से वादी को अयोग्यता निश्चय (बाध निश्चय) होने से शाब्दबोध तो होगा नहीं, फिर वह उसका खण्डन कैसे करेगा ?

नैयायिकों के इस कथन के प्रसंग में कि प्रवृत्ति के प्रति विशिष्टज्ञान कारण होता है, और चूंकि बाध-ज्ञान स्थल में प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिए शाब्दबोध-रूपी विशिष्टज्ञान भी नहीं होता है। वैयाकरण कहते हैं कि इसका विपरीत ही सत्य है। अर्थात् बाधनिश्चय काल में भी शाब्दबोध होना अनुभव सिद्ध है इसलिए वहाँ भी विशिष्टज्ञान स्वीकार किया जाय क्योंकि वाक्य-श्रवण के पश्चात् ही लोग तत्तत् कार्य में प्रवृत्त होते हैं, अत: अयोग्य वाक्य से भी

प्रवृत्ति देखी जाती है। फलतः वहाँ भी विशिष्टज्ञानरूप शाब्दबोध अवश्य होगा। उदाहरण के लिए मिथ्याभिशाप–शाली वाक्य स्थलों में बाध-निश्चय रहने पर सुनने वालों के दुःखादि देखा जाता है । किसी ने कहा "तुम चोर हो" यदि मैं चोर नहीं हूँ, तो यह वाक्य सुन कर दुःख क्यों होता है ? वैयाकरण कहते हैं यहाँ भी विशिष्ट ज्ञान स्वीकार किया जाय । इस पर नैयायिक कहते हैं यहाँ पर प्रवृत्ति का कारण असंसर्गाग्रह अर्थात् बाधनिश्चयाभावरूप ज्ञान है । वैयाकरण कहते हैं कि असंसर्गाग्रह बाधनिश्चयाभाव-रूप है, इस दशा में विशिष्ट बुद्धि की ही प्राप्ति होने से उसी विशिष्टज्ञान की हेतुता प्रवृत्ति के प्रति रह जायेगी । इस प्रकार विशिष्टज्ञान की कारणता मानने में लाघव है, अभावरूप असंसर्गाग्रह की कारणता की कल्पना में गौरव है ।

"विशिष्टज्ञानस्य कारणत्वे सम्भवति अभावरूपस्य असंसर्गाग्रहस्य तत्कारणत्वकल्पने गौरवम्" ।

*–वैयाकरणसिद्धन्तलघुमंजूषा,* पृ. ७३८ ।

*न्यायभाष्य* तथा *वार्तिक* के आचार्य भी कहते हैं कि 'इदं रजतम्' इस भ्रम के उत्तर 'जायमानं' 'नेदं रजतम्' इस बाधनिश्चय की रजतज्ञानवृत्ति अप्रमात्व के प्रति कारणता अवश्य स्वीकृत है । इस प्रकार स्फटिक में रक्तत्वाभाव का ज्ञान प्रमा है, जपापुष्प उपाधि के कारण स्फटिक में रक्तत्व का भी अप्रामाण्यज्ञान है जिसके प्रति रक्तत्वाभाव का ज्ञान कारण है । इस प्रकार अप्रामाण्यज्ञान की हेतुता से ही निर्वाह हो जाने से सर्वत्र अयोग्यता ज्ञान स्थल में भी अप्राममाण्यज्ञान की कारणता से ही निर्वाह करना उचित है । दो प्रकार की कल्पना व्यर्थ है । अर्थात् कहीं पर तदभाववत्ता निश्चय मुद्रा से प्रतिबन्धकत्व कल्पना करना तथा कहीं पर अप्रामाण्यज्ञानजनकत्व की कल्पना करना । जहाँ पर एक कल्पना से काम चल सकता है वहाँ दो कल्पनाएँ करने से गौरवदोष ही होगा ।

नागेश पुनः कहते हैं कि बाध-निश्चय रहने पर भी गालीदाता के वाक्य से दुःख होता है, कारण व्यञ्जनावृत्ति से उत्पन्न गालीदाता के दुष्टत्व का ज्ञान होता है, फलतः दुःख होता है । योग्यता-ज्ञान विशिष्ट बुद्धि का जनक नहीं है, किन्तु अप्रामाण्यज्ञानाभाव विशिष्ट जो विशिष्ट बुद्धि है उसका जनक है तथा तत् विशेषणीभूत जो अप्रामाण्यज्ञानाभाव है, उसमें प्रतियोगी जो अप्रामाण्यज्ञान है उसमें योग्यता-ज्ञान की प्रतिबन्धकता मानी जानी चाहिये । इसके अलावा वैयाकरण तो यह भी मानते हैं कि भ्रांति स्थल में बोध विशिष्टरूप से होता ही नहीं है, बल्कि तटस्थ रूप से होता है । सम्बन्धविशेष का स्वीकार निर्णय अथवा परिहार निर्णय दोनों ही नहीं होता है । किसी सुन्दर स्त्री को देख कर 'यह कामिनी है' इतनी ही प्रतीति होती है–

"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादो विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥"

अर्थात् यह स्त्री मेरी है, किसी और की है, या अपनी है यह सभी ज्ञान अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि इसके होने पर रसास्वाद नहीं होगा, अन्य की उपस्थिति लज्जा का कारण होगा। विभावादि से अभिव्यक्त भाव अलौकिक चमत्कारकारी शृंगार आदि रस-बोध होता है। प्रवृति नहीं होती है। यदि कहीं प्रवृत्ति होती भी है तो विशिष्टज्ञान भ्रमात्मक लेकर उसकी उपपत्ति करनी चाहिये। प्रायः रसानुभव ही होता है।

## II

वाक्यार्थ और वाक्यार्थ-बोध में इसलिए मूलभूत भेद है। वाक्यार्थ का लक्षण है–

"पदोपस्थितानां अर्थानां मिथः संसर्गः" *(तर्ककौमुदी)*

*—न्यायकोश,* पृ. ७३१ ।

और वाक्यार्थबोध का लक्षण है–

"वाक्यार्थज्ञानं शाब्दबोधः, स च एकपदार्थे अपरपदार्थ संसर्गविषयकं ज्ञानम् ।"

—न्यायकोश, पृ. ७२० ।

पहले में योग्यताज्ञान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'हस्तियूथशतमास्ते' इत्यादि वाक्य में निहित पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थों का परस्पर बोध येन केन प्रकारेण हो जाता है। व्याकरण की दृष्टि से भी वाक्य सही है, पर अर्थसंरचना की दृष्टि से यह स्वीकृत नहीं है। यह वाक्य प्रामाणिक नहीं है, पर इसके द्वारा वाक्यार्थ तो उपस्थित हो ही जाता है। जबकि वाक्यार्थ ज्ञान के स्थल में योग्यताज्ञान की आवश्यकता होती है, क्योंकि यहाँ पर वाक्य की प्रामाणिकता का सवाल होता है। प्रामाणिकता यानि वास्तविक जगत में घटना का वैसा ही होना। यदि शाब्दबोध का तात्पर्य सिर्फ वाक्यार्थ हो तो योग्यताज्ञान की आवश्यकता नहीं है, पर यदि शाब्दबोध का तात्पर्य वाक्यार्थज्ञान हो, तो योग्यताज्ञान की आवश्यकता होगी। योग्यताज्ञान के अभाव में वाक्यार्थ असंगत हो जायेगा। नैयायिक निश्चित रूप से द्वितीय तात्पर्य ही लेते हैं, फलतः वे योग्यताज्ञान को वाक्यार्थ बोध के स्थल में आवश्यक शर्त मानते हैं। इसका दूरवर्ती परिणाम यह हुआ कि नैयायिक उन सभी वाक्यों को अर्थ-बोध की श्रेणी से निष्कासित करने के लिए बाध्य हो जाते

हैं, जो काव्यादि से सम्बन्धित हैं । उनके वाक्यार्थ-बोध का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जायेगा । फिर यह निर्णय करना भी अत्यन्त दुष्कर हो जायेगा कि वाक्य की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाय । अन्त में हमें आप्त-पुरुष की शरण लेनी पड़ेगी। फिर आप्त-पुरुष का लक्षण क्या होगा ? किन किन विशेषताओं के रहने पर व्यक्ति आप्त कहा जायेगा– यह सभी प्रश्न अत्यन्त जटिल तथा दुरूह हैं, इनका समाधान सहज नहीं है । नैयायिकों के लिए इस प्रश्न पर पुन: विचार करना उचित है। फिलहाल इस प्रसंग को हम फिर एक बार आगे उठायेंगे ।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि व्याकरण संरचना और अर्थविज्ञान दोनों में भेद कहाँ है ? यह निर्णय करने का अधिकार किसे है कि 'संज्ञा' पद के साथ 'क्रिया' पद का आना व्याकरण सम्मत है, और 'छिड़कना' क्रिया के साथ जलादि तरल पदार्थ का ही सम्बन्ध होना चाहिये ? हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देकर बात स्पष्ट कर सकते हैं–

१) नराणि गमन्ति

२) नरा: गच्छन्ति

३) शंख: कदल्यां, कदली च भेर्याम्, तस्याम् च भेर्याम् सुमहद् विमानम् । (अर्थात् शंख केले के अन्दर, केला भेरी के अंदर तथा भेरी के अन्दर विशाल रथ)

४) जरद्गव: कम्बलपादुकाभ्यां, द्वारस्थितो गायति मत्तकानि, तां ब्राह्मणि पृच्छति राजन् रूमायां लसुनस्य कोऽर्थं । (अर्थात् एक वृद्ध, द्वार पर खड़ा होकर, जूतों और कम्बल की सहायता से मंगलगान कर रहा है । एक ब्राह्मण स्त्री, जो पुत्र की कामना करती है, उससे पूछती है– हे राजन् । लहसुन का दाम नमक की खदान में क्या है ?)

५) मृगतृष्णाभसि स्नात: खपुष्पकृतशेखर: ।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृंगधनुर्धर: ।

(अर्थात्, मृगतष्णा के जल में स्नान करके, सिर आकाश-कुसुम से सुशोभित करके, यह वन्ध्यापुत्र जा रहा हैं, जिसके हाथ में शशश्रृंग से बना धनुष है ।)

६) नदी तीरे पंच फलानि सन्ति ।
(नदी के किनारे पांच फल है ।)

पहले दृष्टान्त में 'नराणि' और 'गमन्ति' व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। 'नर' शब्द का बहुवचन प्रथमा में 'नरा:' होता है, तथा क्रिया पद 'गमन्ति' की जगह 'गच्छन्ति' प्रथमपुरुष बहुवचन में होता है । व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता और अशुद्धता का विचार एकमात्र व्याकरण के नियम ही कर सकते हैं ।

दूसरे दृष्टान्त में 'नराः' और 'गच्छन्ति' पृथक् पृथक् रूप से व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं, पहला बहुवचन में है, दूसरा एकवचन में है; लेकिन उनका अन्वय व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है । या तो 'नराः गच्छन्ति' अथवा 'नरः गच्छति' होना चाहिए, लेकिन पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसा कौन ठीक करेगा ? उत्तर वही है- व्याकरण के नियम । यद्यपि यह कहना हमेशा मुश्किल ही होता है कि ऐसा क्यों होता है ? पर किसी भी भाषा के व्याकरण के नियमों को हम ज्यादातर मान कर चलते हैं ।

तीसरा दृष्टान्त पहले दोनों की तरह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध नहीं है, पर इसे वाक्याभास ही कहा जा सकता है । वास्तविकता से वह कोसों दूर है।

चौथा दृष्टान्त भी तीसरे की ही तरह है, इसके द्वारा कोई शाब्दबोध नहीं होता है । यह सोचने में कोई असंगति नहीं लगती है कि एक वृद्ध व्यक्ति दरवाजे पर खड़ा होकर मंगल गान कर रहा है, लेकिन यह सोचना हास्यास्पद लगता है कि वह जूतों और कम्बल की सहायता से गा रहा है। एक ब्राह्मणी, जिसके पुत्र नहीं हैं, पुत्र कामना कर सकती है, पर वह 'लहसुन का दाम नमक की खदान में कितना है' क्यों पूछती है, जहाँ लहसुन होता ही नहीं है ? ऐसा लगता है कि हमारी भाषागत उपलब्धियाँ वास्तविक धरती से जुड़ी हैं । यदि वे धरती के स्पर्श को छोड़ देती हैं तो भाषा युक्तिहीन और असंगत हो जाती है ।

पांचवा दृष्टान्त असंमत है क्योंकि अविद्यमान मृगतृष्णा के जल में स्नान करना भ्रामक है । इसी तरह शशशृंग, ख-पुष्प, सभी भ्रामक धारणायें हैं । वैयाकरण कहते हैं कि हम यहाँ कुछ न कुछ अर्थ अवश्य ही पाते हैं, अन्यथा इसे अप्रासंगिक, अयोग्य कहने का क्या मतलब रह जाता है ?

छठा दृष्टान्त व्याकरण और अर्थ-संरचना दोनों ही दृष्टियों से शुद्ध है । यदि यह वाक्य निर्भर करने योग्य अथवा विश्वसनीय व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किया जाता है तो यह सत्य होता है । लेकिन यदि वक्ता की इच्छा धोखा देने की हो तो यह वाक्य मिथ्या होगा । यदि यह वाक्य अर्थवान् होगा, तो पुनः कुछ शर्तें यहाँ जोड़ी जाती हैं कि वक्ता को आप्त होना चाहिये, अर्थात् जो भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव दोषों से मुक्त हो । यहाँ पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वाक्य अर्थवान् होने पर भी सत्य और मिथ्या होने के लिए वक्ता के गुणों पर निर्भर करता है । अर्थात् नैयायिक भी यह मानते हैं कि शाब्दबोध होना एक बात है और उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करना दूसरी बात है । दोनों

एक साथ भी रह सकते हैं, अलग अलग भी ।

इतना होने पर भी कोई यह आपत्ति कर सकता है कि वक्ता सम्पूर्ण रूप से आप्त होने पर भी श्रोता जब नदी किनारे पहुँचता है तो कोई फलों को चुरा कर ले जाता है । फलस्वरूप यह कहना बहुत कठिन है कि कहाँ व्याकरण संरचना की सीमा समाप्त होती है और अर्थ-विज्ञान प्रधान हो जाता है । नैयायिक कहीं भी यौक्तिक असंभव (Logically impossible) और वास्तविक-असंभव (Factually impossible) पदार्थ के बीच में पार्थक्य नहीं करते हैं । उनके लिए दोनों ही समान हैं । दोनों ही शाब्दबोध उत्पन्न करने में असमर्थ हैं । दूसरी ओर वैयाकरण भी दोनों में कोई अन्तर नहीं मानते हैं, लेकिन जब प्रामाणिकता का प्रश्न आता है तो दोनों में अन्तर हो जाता है । इस तरह नैयायिकों के अनुसार यह पूरा प्रसंग ही वास्तविक जगत् के पदार्थों पर निर्भरशील है । नैयायिकों की स्थिति यदि स्पष्ट करें तो हमें कहना पड़ेगा कि प्रामाणिकता उनके अनुसार शाब्दबोध की अनिवार्य शर्त है, इसलिए योग्यताज्ञान जो वाक्य की प्रामाणिकता की जाँच करता है, शाब्दबोध का हेतु निर्धारित करता है । लेकिन यदि शाब्दबोध का सम्पर्क प्रामाणिकता से न हो, तो योग्यता-ज्ञान को शाब्दबोध का हेतु नहीं कहा जा सकता है । यह प्रश्न विचारणीय है । नैयायिकों को हम यह सवाल पूछ सकते हैं कि वे परतः प्रामाण्यवादी हैं । उनके अनुसार जहाँ प्रामाण्यसंदेह होता है, वहाँ ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा ठीक किया जाता है । यथा, रजत-प्रत्यक्ष यथार्थ है कि नहीं यह निर्भर करता है यदि हम उसके नजदीक जाकर सचमुच रजत पाएँ तो यह ज्ञान सत्य है, अन्यथा मिथ्या । प्रामाण्यज्ञान का आकार इस प्रकार होगा– 'इदं रजतप्रत्यक्ष ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्' । इसी तरह शाब्दबोध की भी प्रामाणिकता अनुमिति के द्वारा ठीक की जाती है– ''अयं शाब्दबोधः प्रमा संवादिप्रवृत्ति-जनकत्वात् ।'' नैयायिक स्वयं इस भेद को (शाब्दबोध की सत्यता और इसका प्रामाण्य) रखना चाहते हैं । ऐसा झुकाव नव्यनैयायिक जगदीश तर्कालंकार के मत में कहीं कहीं देखने को मिलता है, जब वे कहते हैं 'शशशृंग' इत्यादि स्थलों में हमें शाब्दबोध होता है, परन्तु यह अयोग्य है ।

> ''शशविषाणादिकः शब्दोऽपि शशीयत्वादिना विषाणादेस्न्वयबोधमादधानस्तादृश-विषयताकान्वयबोधने सार्थक एव परन्त्वयोग्यः।''
>
> –*शब्दशक्तिप्रकाशिका*, पृ. ७२ ।

ऐसा कहते समय शायद वे वैयाकरणों के मत से प्रभावित लगते हैं, क्योंकि वे स्वयं उच्चकोटि के व्याकरणशास्त्र के अध्येता थे । 'शशशृंग' इत्यादि स्थलों

में 'शाब्दबोध' होने का तात्पर्य है वाक्यार्थ होना, वाक्यार्थबोध नहीं । नैयायिक कहीं भी ऐसा स्पष्ट नहीं कहते हैं ।

दर्शनशास्त्र विभाग
विवेकानन्द कालेज,
ठाकुरपुकुर,
कलकत्ता–७०००६३

मधु कपूर

## ग्रंथ–सूची

१. वाक्यपदीयम्– श्रीभर्तृहरि, खण्ड २, –सरस्वती ग्रंथमाला, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

२. वैयाकरणलघुसिद्धान्तमंजूषा– श्री नागेशभट्ट, खण्ड १, आचार्य श्री रामप्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

३. न्यायकोश– भीमाचार्य झलकीकर, पूना ।

४. परमलघुमंजूषा– श्री नागेशभट्ट, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी ।

५. शब्दशक्तिप्रकाशिका– श्री जगदीश तर्कालंकार, खण्ड १, संस्कृत पुस्तक भंडार, कलकत्ता ।

६. न्याय-दर्शनम्– तारानाथ न्याय, तर्कतीर्थ और श्री अमरेन्द्रमोहन तर्कतीर्थ द्वारा सम्पादित ।

७. भाषा परिच्छेद– श्री विश्वनाथ न्याय पंचानन, 'मुक्तावली संग्रह' टीका श्री पंचानन भट्टाचार्यकृत।

# INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
## PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

# कबीर की सामाजिक चेतना

कबीर के आविर्भाव के पूर्व उत्तर भारत में अनेक धार्मिक साधनाएँ प्रचलन में थीं। सर्वाधिक प्रभाव था नाथपंथी योगियों का। दक्षिण में उमड़ कर वैष्णव भक्ति-धारा उत्तर भारत में प्रवाहित हो चुकी थी। कट्टर एकेश्वरवादी इस्लाम निम्नवर्गीय जनता को राजनैतिक और सामाजिक कारणों से प्रभावित कर रहा था। सूफी साधक अपनी उदारता और सात्त्विकता के कारण भारतीय जनमानस के निकट आ गए थे। शैव और शाक्त मतों का भी प्रचार हो रहा था, पर उसकी गतिमयता समाप्त हो चुकी थी। विशेष कर शाक्त (शक्ति के उपासक) साधना तांत्रिक पद्धति को स्वीकार करने के कारण गुह्य हो थी। एकांगी भी। उनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के तपस्वी और साधक अपने-अपने रंग में मस्त थे और विविध साधनाओं में लीन। कबीर विलक्षण प्रतिभा को लेकर उत्पन्न हुए। ''युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग प्रवर्तक की दृढता उनमें वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे।''[१]

दो धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा आवश्यक है। एक धारा पश्चिम से आई। यह सूफी साधना में विश्वास करती थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्म पर चोट नहीं कर पाए थे। उन्होंने उनके बाह्य शरीर मात्र को विक्षुब्ध किया था, परन्तु सूफी भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनका उदारतापूर्ण प्रेम व्यवहार भारतीय जनता का दिल जीत रहा था। फिर भी ये आचार प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका तालमेल आचार प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो पाया। बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित विपुल वैराग्य के भार को न सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही वहन कर सकी। देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को एक अननुभूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा।[२] अब तक वर्ण-व्यवस्था का कोई विरोधी नहीं था। कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे। फिर उसके सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी आया, जो प्रत्येक जाति और व्यक्ति को अंगीकार करने को

तैयार था । परन्तु उसकी एक शर्त थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्ममत को स्वीकार कर ले । समाज से दंडित व्यक्ति वहाँ शरण पा सकता था । उसकी इच्छा मात्र से उसे एक सुसंघटित समाज का आश्रय-आलंबन मिल सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से वेदांप्रतभावित भक्ति का आगमन हुआ, जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया ।[३] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है– "इसने दो रूपों में आत्मप्रकाश किया । पौराणिक अवतारों का केन्द्र सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेमभक्ति की साधाना के रूप में । पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आंतरिक प्रेम से सींच कर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया । एक ने समझौता किया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का, एक ने श्रद्धा को पथ प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को, एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को । पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों का अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं थे, आंतरिक प्रेम-निवेदन दोनों को अभीष्ट था, अहैतुक भक्ति दानों को काम्य थी, बिना शर्त के भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण दोनों के प्रिय साधन थे । इन बातों में दोनों एक थे । पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को दूर से देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे ।"[४] स्पष्ट है कि विद्रोह, अनुभव,[५] ज्ञान निर्गुण का रास्ता अपनाने वाले कबीर थे । परन्तु प्रेमतत्त्व दोनों में समान था । तुलसी के राम प्रेम के प्यारे हैं । उन्हें जानना हो, तो प्रेम कीजिए ।[६] कबीर प्रेम मार्ग के सच्चे पथिक हैं ।[७] वे उस हृदय को स्मशान मानते हैं, जहाँ प्रेम नहीं है । विरह नहीं है ।[८] तत्त्वतः प्रेम ही वह अमृत है, जो सबको मिलाता है । जोड़ता है। एक करता है । चरित्र को निर्मल– पावन बनाता है ।

## यह तो घर है प्रेम का

समाज में अव्यवस्था, साम्प्रदायिकता, भेद-भाव, विषमता, स्वार्थ आदि का कारण है प्रेम का अभाव । जो प्रेम करेगा, वह उदात्त होगा । उसका चरित निर्मल होगा । वहाँ भेद न रहेगा । अभेद दृष्टि का सम्यक् विकास होगा । इसलिए कबीर ने प्रेम पर बल दिया । प्रेम के लिए शर्त रखी आत्मबलिदान ।[९] अहंकार का त्याग । जब तक अहंकार है, प्रेम नहीं मिल सकता, भेद-बुद्धि बनी रहेगी इसलिए कबीर अहं को इदं में मिलाने की बात करते हैं । मान एवं प्रेम को साथ-साथ चलते देखना असंभव है, जैसे एक म्यान में दो तलवार का होना ।[१०]

भक्ति प्रेम से ही मिल सकती है । प्रेम हो, तो हृदय शुद्ध हो जाता है। वहाँ कोई विकार नहीं रहता । वह ऐसा पात्र बन जाता है, जहाँ परमात्मा की प्रतीति हो । भक्ति के आदर्श की द्विधाहीन भाषा में घोषणा करते हुए कबीर प्रेम के बिना भक्ति को "उदरपूर्ति का कारण', "व्यर्थ जन्म गंवाना" और "दंभ विचार" कहते हैं ।[११]

ज्ञान सब मिला कर हमारी अल्पज्ञता को ही व्यक्त करता है । परन्तु प्रेम सम्पूर्ण त्रुटियों को भर देता है । पुत्र कितना ही त्रुटियों से भरा हो, पर माता कुमाता नहीं हो सकती । वह प्रेम से उसकी सारी त्रुटियों को हर लेती है । प्रेमी सम्पूर्ण अभावों को अपने प्रेम से भर देता है– "जो मिलिए संग सजन तौ धरक नरक हूँ की न ।" नरक स्वर्ग का अभाव है । प्रकाश का अभाव अंधकार है । दुःख सुख का अभाव मात्र है । अभाव दूर करने का एक मात्र ब्रह्मास्त्र है प्रेम। दरिद्रता, पीड़ा, अभाव सब एक ही शब्द के पर्याय हैं और सम्पूर्ण अभावों को दूर करने की शक्ति प्रेम में है । प्रेम–भाव की कमी ही अभाव है । प्रेम आ जाए, सब पूर्ण है । इसलिए कबीर की समाज-सापेक्षता और उनकी सामाजिक चेतना का स्पष्ट प्रमाण इससे मिलता है कि वे समाज की पीड़ा को जानते थे। उसकी शक्ति-सीमा को पहचानते थे और एकमात्र रामबाण प्रेम को ही मानते थे।

उनकी भक्ति–साधना का केन्द्र-बिन्दु प्रेम–लीला है । भक्ति रूपी प्रिया के लिए भगवान् रूपी प्रेमिक ने जो चुनरी संवार दी है, वह सामान्य चुनरी[१२] नहीं। न उसे धारण करनेवाले की क्षमता ही सामान्य है ।

जिसे वह चाहते हैं, मानते हैं, वह अद्वितीय है । उसकी कृपा के बिना वह चुनरी पाना सम्भव नहीं । वही उनको जानता है, पाता है, जिसे वे बताते हैं ।[१३] उसका विरह भाव का है । मिलन भाव का है । आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों पर दोलायित रहते हैं कबीर । विरह की तीव्रता मिलन से कट जाती है । मिलन का अद्भुत समा बंध जाता है । किसी बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं । आँख बन जाती है कोठरी, पुतली पलंग और पलक परदा फिर प्रियतम को उसमें बिठा लिया ।[१४]

कबीर बहुरिया बनते हैं । प्रेम जगत् में निष्णात होकर लाललाल चुनरी पहन कर अभिसार स्थल तक जाते हैं । प्रिय-मिलन की वेला आते ही ज्ञान की गठरी वहीं पटक कर चुपके-चुपके उनसे मिल लेते हैं । ज्ञान उनके लिए साधन भर है ।[१५] साध्य तो प्रिय-मिलन है, जिसका आधार प्रेम है । सम्पूर्ण समाज के स्निग्ध संचालन नियमन के लिए प्रेम जरूरी है ।

## ताते वह चक्की भली

कबीर संक्रांति काल के कवि थे। वे ऐसे मिलन बिंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व। एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा। एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुन साधना।[१६] ऐसे प्रशस्त चौराहे पर खड़े होकर वे परस्पर विरुद्ध दिशाओं के गुण-दोष स्पष्टतः देख सकते थे। यही कारण है कि उनमें सभी बाहरी धर्मांचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस था। उनमें समन्वय नहीं विद्रोह था, समझौता नहीं फटकार थी। समस्त बह्याचारों के जंजालों को उन्होंने बेपर्दी के साथ काटा। कुसंस्कारों, रूढियों, गलत मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठायी। सच पूछिए तो ये ही बाह्याचार लोगों को भरमाते थे। अलगाते थे। उनमें भेद डालते थे।

एक बात ध्यान देने योग्य है। उन्होंने हिंदू धर्म के आचार बाहुल्य को ही अधिक लक्ष्य किया था। मूर्ति-पूजा का खंडन वे करते थे, पर उसके पीछे छिपे तत्त्ववाद पर दृष्टिपात नहीं करते थे। दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य व्याख्या का उल्लेख शायद ही उनके ग्रंथों में आता है। सारा हिन्दू धर्म उनकी दृष्टि में बाह्याचार-बहुल ढकोसला मात्र था। उन्होंने वेद-पाठ, तीर्थस्थान, व्रत, उपासना, छूआछूत, अवतारोपासना, कर्मकांड की गूढता, तात्त्विकता में कभी प्रवेश नहीं किया। उनके पास इससे उपजी विसंगतियों, विकृतियों के चित्र अधिक थे, उपलब्धियों के नहीं। उन्होंने मंदिर-मस्जिद[१७], जातिभेद[१८], बलिदान[१९] षोड़शोपचार आदि को आड़े हाथों लिया। उनकी दृष्टि एक पर टिकी थी– परमात्मा। वहाँ किसी बाह्योपचार की जरूत नहीं है। उसके लिए शुद्ध हृदय चाहिए। शुद्ध मन। शुद्ध कर्त्तव्य।[२०] वे इनके परे जो सत्ता है, उसी को देखते थे।

## मेरी बोली पूरबी

कबीर ने अनेकों बार इस तथ्य की पुष्टि की है कि इस्लाम का खुदा भी निराकार है और भारतीय चिंतन का सार निरपेक्ष सत्ता भी निराकार है। परन्तु जिज्ञासा की जितनी तुष्टि, तर्क की कसौटी पर खरी हिन्दू धर्म की परम सत्ता उतरती है, उतना इसलाम का खुदा नहीं। "मेरी बोली पूरबी"– अर्थात् पूर्वी दर्शन से प्रभावित होना उनके लिए स्वाभाविक ही था।

कबीर का मूल उद्देश्य भारत राष्ट्र की रक्षा था। कारण, भारतीय राष्ट्रीयता की आत्मा हिन्दुत्व में निहित है और साथ ही साथ उन्हें हिन्दू धर्म की संकीर्णताओं

का भी निराकरण करना था। लोगों को धर्म-परिवर्तन से रोकना भी था। वे सत्संग से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि परम सत्ताप्राणि के लिए संसार का कोई धर्म प्रार्थना और कर्मकांड के अलावा किसी दूसरे मार्ग की चर्चा नहीं करता। कर्म करते हुए विश्राम के क्षणों में कहीं भी ध्यान और योग में विरत होने की स्वतंत्रता एकमात्र हिन्दू दर्शन में ही उपलब्ध है। दार्शनिक शब्दावली में जगत्-जीव की व्याख्या करने में जितना सक्षम हिन्दू धर्म है, उतना अन्य धर्म नहीं। इसी का संकेत उन्होंने "पूर्बी बोली" की ओर बढने हेतु कहा। यह भी कहा कि उसके पीछे वही आ सकता है, जो धुर पूरब का होगा।[२१]

कबीर आजीवन सम्प्रदायवाद, बाह्याचार और बाह्य भेदभाव पर कठोरतम आघात करते रहे। सुन्नत, बाँग और कुरबानी हो या हिंदूमत के तीर्थ, बलिदान, व्रत। उन्होंने कभी खंडन के लिए खंडन नहीं किया। उनका केन्द्रीय तत्त्व भक्ति था। उनके रहने पर बाह्याचार हो या नहीं हो– कोई अर्थ नहीं रखता। "उनके अनुसार भक्ति और बाह्याडंबर का सम्बन्ध सूर्य और अंधकार का सा है। एक साथ दोनों नहीं रह सकते।"[२२]

सामाजिक वही है जो सहृदय है, जो संवेदन ग्रहण कर सकता है। भक्त से बढ़ कर कोइ सामाजिक नहीं हो पाता। उससे बढ कर किसी में, पराई पीर की पहचान[२३], नहीं हो सकती। जब वह चराचर जगत् में अपने ही प्रभु का प्रतिबिंब देखता है, तो सारा भेद मिट जाता है।[२४]

जन समदृष्टि शीतल सदा दुविधा नहीं आवै

समाज के पतन का कारण है चरित्र-पतन। चारित्र्य रहे तो सामाजिक मूल्यों की रक्षा की जा सके। समाज को गिरने-टूटने से बचाया जा सके। उनके युग में समाजवाद नहीं था। पर नीति न्याय-धर्म की मर्यादा थी। आज खुलेआम धर्म का स्थान अन्याय-अनीति ने ले लिया है। आज समाजवाद का आधार न धर्म है, न नैतिकता और न है पूरे समाज की उन्नति। परन्तु कबीर की भक्ति का सीधा सम्बन्ध चरित्र-पालन से है। चरित्रहीन व्यक्ति ही समाज का शोषण करता है। गीता के अनुसार समाज का सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसने मन पर अधिकार कर लिया है, कामनाओं से मुक्त हो गया है।[२५]

जो आचरण पर ध्यान नहीं देता, वह "अपनपौ" आत्मतत्त्व खो देता है।[२६] महावीर समता-प्राप्ति के लिए ही "सामयिक" का संदेश देता है। "सामयिक"

अर्थात् एक निश्चित समय के भीतर रागद्वेष से मुक्त होने का अभ्यास। राग-द्वेष से मुक्त होना ही कबीर का "पष छाड़ै निरपष रहै" (३.९३) है। रागद्वेष से भरा हुआ दूसरों को ठगेगा ही। ठगना सबसे बड़ा दुष्कर्म है। इसलिए समाज के हित में कबीर कहते हैं कि ठगा जाइए पर ठगाने की कोशिश कभी नहीं कीजिए।[२७]

उनका बल हृदय-शुद्धि पर था। आचरणकी शुद्धता पर था। परमार्थ पर था। लोभ-मोह से मुक्ति, आत्मसंयम, समता, अभेद पर था। समाज के उचित दिशा निर्देशन, उन्नति और जागरण के लिए आज इसी की आवश्यकता है।

"जन समदृष्टि सीतल सदा दुविधा नहीं आवै।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन भावै॥[२८]

कबीर का सिद्धान्त है— मनुष्य ईश्वर की शरण जाय, सद्विचारों के लिए, आत्मबल के लिए, अभेद मार्ग पर चलने के लिए, क्रोध-लोभ से बचने के लिए। जब मनुष्य जीव-जीव में भेद न मानेगा, तब वह कैसे किसी के साथ विश्वासघात कर सकता है? कैसे किसी को धोखा दे सकता है? किसी का गला काट सकता है?[२९] समाज को ऊपर उठाने के लिए इसी चरित्र और अभेद बुद्धि की आवश्यकता है।

## दुई जगदीश कहाँ ते आए

कबीर को समाज सुधारक कहना उनके साथ अन्याय होगा। वे मूलतः आध्यात्मिक चेतना से सम्पन्न थे। जो आध्यात्मिक है, वह मानव-मुक्ति का प्रयासी है। इसी से मानवता का पथ आलोकित होता है। समाज को सही दिशा मिलती है।

उन्होंने राम-रहीम, केशव-करीम और हरि-हजरत के भेद को मिटाने का अंतिम समय तक प्रयास किया। ऊंच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, सवर्ण-अवर्ण का भेद मिथ्या है। भेद ही मिथ्या है क्योंकि एक ही ज्योति में सब व्याप्त है। दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं।[३०] फुलवारी में जितने भी फूल खिले हैं— सबका एक ही माली है।[३१] स्वर्ण के कई आभूषण बनते हैं— मणिमाला, कर्णाभरण, वकबेसर, मनटीका आदि। परन्तु उनका भेद रूपगत है, आकारगत है। मौलिक भेद नहीं है। मूल रूप सबमें सोना है। उसी प्रकार राम-रहीम, पूजा-नमाज सबमें परमात्मा है। उनकी सत्ता विराजमान है। फिर आपस में लड़ने-कटने

की क्या अपेक्षा है?[३२]

कहा गया है "धर्म: बाधते धर्मः, न स धर्मः कुधर्मतत्" –जो धर्म अन्य धर्मों में बाधा डालता है, वह धर्म है नहीं, कुधर्म है। आज अनेकेश्वरवादी धर्म-विचार की भिन्न-भिन्न पद्धतियों ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को छीन लिया है। मत, पंथ, सम्प्रदाय, कल्ट अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं। अपना-अपना राग आलाप रहे हैं। फलतः भेद फैल रहा है। पार्थक्य बढ रहा है। इसीलिए कबीर को जितनी आक्रोश अनेकेक्वरवाद और तज्जन्य सामाजिक विषमता के प्रति है धार्मिक असमानता के प्रति है, उसका शतांश भी आर्थिक विषमता के प्रति नहीं है[३३]।

## पार ब्रह्म को पाइए मन ही के परतीत

चार पुरुषार्थ कहे गए हैं– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ध्यान रहे चारों का केन्द्र मन ही है। मन ही बंधन का कारण है। मन ही मोक्ष का कारण है। मन की भटकन किंवा उसका पैकर (पथ पर नहीं)। चलना सारी सामाजिक कुरीतियों का कारण है। वहीं चार चोर (लोभ, मोह, मद, मत्सर) और छः शत्रु रहते हैं। इसलिए कबीर मन को जीतने, मुड़ने, साधने पर बल देते हैं। मन की विषयोन्मुखता आदर्श मानव के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए उसे मन को नियंत्रित रखना चाहिए।[३४]

धर्म ही अर्थ को संचालित, नियमित करता है। काम को नियंत्रित करता है। इसलिए कबीर ने कभी धनार्जन पर ध्यान नहीं दिया। उन्हें उतना ही अभीष्ट है, वांछनीय है, जिससे उनके परिवार व अतिथि की गुजर हो जाए– "साई इतना दीजिए जामे कुटुम समाय। मैं भी भूखा न रहं साधु न भूखा जाए ॥"

मन में ही प्रतीति का प्रभात फटता है। वहीं सदाचार का वास होता है। कबीर ने बार-बार वैष्णवों की प्रशंसा इसलिए की कि उनमें पर दुःख– कातरता रहती है ("वैष्णव जन तो तेणे कहिये, जे पीर पराई जाणे रे"– नरसी मेहता। कबीर— सोई पीर है जो जाने पर पीर। जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेजीर।") वे अहिंसक हैं। दयालु हैं। हरिजन हैं। परोपकारी हैं। राम ने कहा है कि निर्मल जन मुझे भाते हैं। प्यारे लगते हैं, जिनमें छल-छिद्र नहीं रहता। कबीर कहते हैं–

निर्मल निर्मल राम गुण गावे।

सो मंगता मेरे मन भावे ।
जिहिं घर राम रहे भरपूरि ताकि मैं चरनन की धूरि ।
जाति जुलाहा मति को धीर हरषि हरषि गुण रमै कबीर ॥

*–१२३ गौड़ी*

डॉ. रामचन्द्र तिवारी कबीर के मानवतावाद, सामाजिक चेतना पर सटीक टिप्पणी करते हैं–

"कबीरदास ने भेद-भाव की समस्त सीमाओं को तोड़ कर जिस आदर्श मानव को सामने रखा है, वह मानव-व्यक्तित्व के विकास की सम्पूर्ण संभावना को समाप्त करके उसे ईश्वरत्व तक पहुँचा देने वाला है । नर का नारायणत्व प्राप्त कर लेना ही सच्चा धर्म है ।[३५] उन्होंने कहा है–

"हे प्रभु निरंतर तुम्हारा ध्यान करते हुए मैं तुममें लीन हो गया । अब मेरी अहंता समाप्त हो गई । मैं तुम्हारे नाम पर निछावर हो जाता हूँ जिसे रटने से मुझे यह स्थिति प्राप्त हुई है । अब मैं जहाँ देखता हूँ, वहाँ आपही दिखाई पड़ते हैं ।[३५] दर, दीवार, कंकड़, पत्थर, ठीकरा सभी उनके लिए दर्पण बन गए हैं । अपने प्रभु की लाली देखते देखते वे स्वयं लाल हो गए हैं ।[३७]

कबीर आत्म-विकास, प्रभु-सान्निध्य, प्रभु-प्राप्ति के द्वारा सामाजिक चेतना को गति देनेवाले हैं । व्यक्ति का विकास हो, समाज का विकास स्वयं होगा। कबीर अपने आचरण से समाज को सही मार्ग पर लाना चाहते हैं । यदि उनकी पुकार कोई नहीं सुनता तो वह अकेले ही प्रयाण करते हैं । जो सुधरना नहीं चाहता, उसे सुधारने का प्रयत्न व्यर्थ है । वे अपना उपदेश "साधो" भाई को देते हैं। यदि उनकी बात सुनने वाला कोई न मिलता तो वे निश्चित होकर स्वयं को ही पुकार कर कह उठते हैं– "अपनी राह तू चले कबीरा" । अपनी रह अर्थात धर्म, सप्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है३८, ऐसा संत, मस्तमौला, फक्कड़ विद्रोही, वाणी का डिक्टेटर कबीर ही हो सकता है, जो समाज को गंतव्य तक ले जा सकता है ।

वृन्दावन, राजेन्द्र पथ,
धनबाद-८२६००१
(बिहार)

मृत्युञ्जय उपाध्याय

## टिप्पणियाँ

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : *कबीर*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-२ तृतीय संस्करण १९७६, पृष्ठ १७६-१७७.

२. *उपरिवत्*, पृष्ठ १८२-१८३.

३. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, *कबीर*, पृष्ठ १८३.

४. *उपरिवत्*, पृष्ठ १८३.

५. तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखियन की देखी ।

६. रामहिं केवल प्रेम पियारा ।
जानि लेहु जेहि जाननिहारा ॥
*—रामचरित मानस*

७. मिलना कठिन है, कैसे मिलोंगी प्रिय जाय ।
समुझि-समुझि पग धरौं जतन से, बार-बार डिगि जाय ।
सं. हरिऔध : *कबीर वचनावली* ।

८. जा घर विरह न संचरै, सा घर जान मसान ।
*—कबीर वचनावली* ।

९. राजा परजा जेहि रुचै शीश देई ले जाये ।

*   *   *   *

शीश उतारे मुई धरै तब पैठे घर माहिं
*—कबीर वचनावली*

१०. पीया चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान ।
एक मयान में दो खड़ग, देखा सुना न कान ॥
*—कबीर वचनावली*

११. भाण बिना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीति की भक्त ।
प्रेम बिना नहिं भक्ति कछु, भक्ति परयो सब जक्त ॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार ।
उदरन भरन के कारने, जनम गंवायो सार ॥
*—स. के. स.*, पृ. ४१.

१२. चुनरिया हमरी पिय ने संवारी,
कोईपरि हैं पिय की प्यारी ।

१३. सोई जानत देहि देत जनाई ।
*—राम चरित मानस*

१४. नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय ।
पलकों की चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय ॥

*–क. वचनावली*

१५. डा. केसरी कुमार : *रहस्यवाद* ।

१६. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : *कबीर*, पृष्ठ १४०.

१७. पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार ।

१८. कांकर पाथर जोरि के, मस्जिद लई चुनाय ।
ता चढि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय ।

१९. एक मांस एक मलमूतर, एक बूंद एक गुदा ।
एक ज्योति से सब है सिरजा, कौन बाम्हन कौन सूदा ॥

२०. दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय ।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुशी खुदाय ॥

२१. सूधे मन सूधे वचन, सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति ॥

२२. महेन्द्र प्रसाद चौरासिया : *"देख कबीरा रोया"* *परामर्श*, मार्च १९९३

२३. *कबीर*, पृष्ठ १४४-४५.

२४. कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर ।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ॥

२५. निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध ।

*–रामचरित मानस* ।

२६. असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगत स्पृहः। पृ. १८-४८

२७. अति अभिमान लोभ के घालै चलै अपनपौ सोई । ११ केदारौ

२८. कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय ।
आप ठग्या सुख ऊपजै, और ठग्या दुख होय ॥ ५४.९

२९. २ *बिलावल*

३०. डा. हरिहर प्रसाद गुप्त : *वैष्णव कबीर* । सन् १९८६, भाषा साहित्य संस्थान, १४३, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद, पृ. ४७.

३१. एक हि ज्योति सकल घर व्यापक दूना तत्त न कोई ।
कहै कबीर सुनौ रे संतो भटकि भरै जनि कोई ॥

*–कबीर ग्रंथावली* (डॉ. पारस नाथ तिवारी) पद १०५, पृ. ६१.

३२. किरणों के दिल चीर देख, सबमें दिन मणि की लाली रे ।
चाहे जितन भी फूल खिले, पर एक सभी का माली रे ॥
–दिनकर

३३ दुई जगदीश कहाँ ते आए, कहुं कौने भरमाया ।
अल्ला राम करीम केशव हरि, हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक तें गहना, तामे भाव न दूजा ।
कहन सुनन कर दुई कर थापे, यक नमाज एक पूजा
कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरूक कहै रहिमाना
आपस में दोऊ लरि लरि मूंए, मरम न काहू जाना ॥
–*कबीर, वचनावली* : अरिऔध ।

३४. डॉ. रामचन्द्र तिवारी : *कबीर मीमांसा*, १९८९, इलाहाबाद, पृष्ठ १३८.

३५. कबीर मारौं मन कूं टूक टूक ह्वै जाइ ।
विष की क्या बोय करी, लुणत कहां पछिताई ॥
–*कबीर ग्रंथावली* (डॉ. माता प्रसाद गुप्ता), साखी ५, पृष्ठ ४९.

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
पार ब्रह्म को पाइए, मन ही के परतीत ॥
–*कबीर वचनावली* (हरिऔध)

मन को क्यों नहिं मूड़िए, जामें विषय विकार
–*उपरिवत्*

मन न रंगायो जोगी कपरा
–*उपरिवत्*

३६. डॉ. रामचंन्द्र तिवारी : *कबीर मीमांसा*, पृष्ठ १४०.

३७. तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ ।
वारी तेरे नाउ परि, जित देखौं तित तूं ॥
–*कबीर ग्रंथावली* : डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. १४९. साखी-६

३८. दर दिवार दरपन गया, जित देखीं तित मोहि ।
कंकड़ पत्थर ठीकरी, भई आरसी मोहि ॥
लाली मेरे लाल की, जित देखीं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥
–*कबीर वचनावली* (हरिऔध)

३९. कबीर– हजारी प्रसाद *द्विवेदी*, पृष्ठ २६७.

# विविधता के कवि 'प्रेम'

प्रभाकर श्रीखण्डे 'प्रेम' हिन्दी के आधुनिक हस्ताक्षार हैं । अहिन्दी भाषी कवि 'प्रेम' का साहित्यिक परिचय दो दृष्टियों से आवश्यक है । एक– कवि के सूक्ष्मानुभव पाठकों के मध्य विस्तार पा सकें, दूसरे– उनके समग्र साहित्य का मूल्यांकन हो सके । सन् १८६३ में उत्तर प्रदेश के 'उरई' (जिला जालौन) में जन्मे 'प्रेम' ने एकाधिक विषयों पर लिखा है लेकिन प्रकाशन के अभाव में उनका उत्कृष्ट साहित्य पाठकों के बीच नहीं आ सका है । यहाँ उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जबकि, उनका प्रत्येक काव्य संग्रह विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है ।

'प्रेम' ने बाल्यावस्था से ही अंग्रेजों के अत्याचार का साक्षात् किया था अतः उनके मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा निरंतर संचित होती रही । अन्ततः १९२० में उनकी रचनाओं में उसका विस्फोट हुआ । 'स्वतंत्रता-संग्राम' वस्तुतः अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कवि की प्रतिक्रिया है । 'स्वतंत्रता संग्राम' का रचनाकाल १९२७ है । इसमें २५० कविताएँ संग्रहीत हैं । इसकी अधिकांश रचनाएँ अंग्रेजों के प्रति विष-वमन करती हैं । "न समझो इन्हें गोरे, कालों से बचना / नहीं देर तिल का जो ताड़ करते, सितम खूने सैयाद जालों से बचना / उगलते जहर दूध पीकर ये साहब, न समझो इन्हें गोरे, कालों से बचना ।"[१] देशप्रेम और राष्ट्र-रक्षा इस संग्रह का मूल स्वर है । निर्भीकता की बानगी वाली ये रचनाएँ किसी भी शर्त पर फिरंगियों से समझौता नहीं करतीं । "क्यों जुल्म हम पे इतना, सरकार हो रहा है / हम न्याय चाहते हैं, अन्याय हो रहा है । बरबाद कर रहे हैं वो आशियाँ हमारा । उनका वतन शुरू से गुलजार हो रहा है । हम थे स्वतंत्र घर में, गुजरा वह जमाना, जो था कभी फिरंगी सरदार हो रहा है ।"[२] इस क्यों का उत्तर अंग्रेजों के पास शायद कभी नहीं रहा । परिणाम स्वरूप कवि को अपनी अनेक रचनाओं पर आर्थिक दण्ड भुगतना पड़ा । बावजूद इसके 'प्रेम' ने "मक्कार मूजियों का 'भारत' ये घर नहीं है"[३] जैसी पंक्तियाँ लिखकर फिरंगी सरकार का निडरतापूर्वक प्रतिकार किया ।

'स्वतंत्रता-संग्राम' कवि के सच्चे देश भक्त होने का साक्ष्य है। इसकी कविताएँ मातृ-भू की गौरव गाथा है। भारतवासी तथा आर्यों के वंशज होने का गर्वमिश्रित अनुभव इसमें अभिव्यंजित है। भारतीय संस्कृति का उन्मुक्त कण्ठ से गायन करने वाली रचनाओं में गाँधीवादी प्रभाव यत्र-तत्र है। "वतन की ख़िदमत में पैर रखकर, हमारे दिल को हुई है राहत / स्वदेशी गायन करेंगे निश-दिन, स्वदेशी धूनी रमा चुके हैं।"[४] 'स्वातंत्रता-संग्राम' पराधीन और स्वाधीन भारत का जीवंत प्रमाण है। स्वंतत्र भारत में निरंतर बढते अनाचार अत्याचार और अव्यवस्था से कवि क्षुब्ध है। वस्तुतः अव्यवस्था के प्रति असंतोष उनकी रचनाओं से मुखर हुआ है। लेकिन कवि निराशावादी नहीं है। तैंतीस कोटी 'भारतीयों' को संगठित करने वाली उनकी पँक्तियाँ 'संगठन में शक्ति है' के सिद्धान्त को पुष्ट करती हैं। "कर लोगे संगठन जो, मिलकर रहोगे हिन्दू / तैंतीस कोटि होकर, क्या दुःख सहोगे हिन्दू? ताकत है क्या जुबां में, अन्दाज करके देखो / बादल की क्या गरज है, आवाज करके देखो।"[५]

कुल मिलाकर 'स्वतंत्रता-संग्राम' परतंत्र और स्वतंत्र भारत से साक्षात् का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसकी सम्पूर्ण रचनाएँ फिरंगी-काल की क्रूरतम सच्चाई को जीवंत रूप में प्रस्तुत करती हैं। भाषा की सरलता और सरसता इसकी पहचान है। खड़ी बोली के साथ उर्दू के शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक बन पड़ा है। ओज गुण की प्रधानता विशेषतया परिलक्षित होती है। कवि का यह प्रथम काव्य संग्रह होने के कारण इसकी भाषा परिष्कृत भले ही न हो, परन्तु उसमें प्रभावोत्पादकता का गुण अक्षुण्ण है। चूंकि जिस समय द्विवेदी युगीन शीर्षस्थ साहित्यकार राष्ट्रीय भावापन्न साहित्य रचकर जन-समाज में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में व्यस्त थे, ठीक उसी समय यह कवि भी अपनी सामर्थ्यभरी स्वाधीनता और देश प्रेम की लौ लगाने में जुटा हुआ था। इस दृष्टि से 'स्वतंत्रता-संग्राम' अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

'सामरिक गान' कुल आठ कविताओं का संकलन है, जो सन् १९६२ में लिखा गया है। इसकी समस्त कविताएँ चीन-आक्रमण पर केन्द्रित हैं। हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा देने वाले चीन ने भारत पर आक्रमण कर जिस छलपूर्ण व्यवहार का परिचय दिया उसी से क्रुद्ध होकर कवि ने देश के सैनिकों को शत्रु से प्रतिकार के लिए ललकारा है– "चीनी किसके बलबूते पर, सोया शेर जगाता है / कदम बढ़ाकर आगे, नाहक अपनी मौत बुलाता है / दानवता की होड़ लगा क्यों सरपट दौड़ लगाता है / गति विनाश की देख रहा पर, नाहक ही इतराता है।"[६] भाषा-शिल्प की दृष्टि से यह लघु संकलन 'स्वतंत्रता-संग्राम' का सा प्रभाव उत्पन्न करता है।

'श्रीखण्डे– सहस्रावलि' 'प्रेम' की काव्य यात्रा का दूसरा पड़ाव है। यह रीतिवादी शैली में दोहों का अनूठा संकलन है। इसकी रचना कवि ने सन् १९६५ में 'श्रीखण्डे-सतसई' के रूप में तथा सन् १९७६ में 'श्रीखण्डे-सहस्रावलि' के रूप में की थी। इसके दोहे मूलतः ६ विषयों पर केन्द्रित हैं। श्रृंगार, भक्ति-नीति, उपदेश, ज्ञान, वैराग्य और सामाजिक संदर्भ। अर्थात् 'सहस्रावलि' में 'प्रेम' ने मानवीय जीवन के विविध पक्षों का कुशलता से चित्रण किया है तथा नायिका नख-शिख वर्णन से लेकर आधुनिक समाज-दर्शन तक को अंकित किया है। दूसरे रूप में यह ग्रन्थ रीतिकाल और आधुनिक काल के काव्य जीवन का मिलन बिन्दु है।

'प्रेम' ने साहित्य के क्षेत्र में लोक से हटकर काव्यधारा को उस दिशा में मोड़ने का यत्न किया है जो आधुनिक साहित्य और उसके पाठकों की महती आवश्यकता है– "कविता का क्षेत्र कई वादों का अखाड़ा बन गया है। आज का युग 'प्रगतिवाद' का है। 'छायावाद' का आवरण हटा तो यथार्थवादी दृष्टि की वासनात्मक भूख खुले और अश्लील रूप में अभिव्यक्त होने लगी जिससे काव्य की पवित्र भूमि पंकिल हो उठी। अतः यह भी संभव है कि आज की कविता उस पंक में फंसकर अपना अवसान कर बैठे।"[७] 'प्रेम'ने लम्बे-लम्बे गीतों की रचना पद्धति का अनुकरण न कर छंदोबद्ध एक हजार दोहे रचकर शृंगार रस की पुनर्स्थापना का प्रयास किया है। आज जबकि हमारे साहित्यकार इस बात को लेकर चिंतित हैं कि 'आधुनिक साहित्य से शृंगार लगभग बाहर हो गया है' तब 'प्रेम' की 'सहस्रावलि' का महत्त्व और भी बढ जाता है। शृंगार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं– (१) "कल्पवृक्ष रति कामना, रिद्धि सिद्धि भये उरोज / वक्षस्थल के दुर्ग पर, सजी मदन की फौज"[८] (२) "बगरूयौ बीथिन बाग में, बेलिन बेलि बसन्त / सरसों सी पीयर भई, नारि बिना निज कन्त"[९] (३) कन्त लखे बाल को, लखै कन्त को बाल / प्रेम विभोरी भोरी सी, खोय खड़ी सुध ख्याल"[१०] इनके चुटीले दोहे कुछ इस ढंग से वर्तमान सामाजिक दशा का पर्दाफाश करते हैं कि, पाठक को अपने समाज के पुनरावलोकन की आवश्यकता महसूस होती है– (१) "ऊँचा ओहदा पाय नर, रोग ग्रसित ह्वै जात / श्रवण सुनै, नाही दृग लखै, नहिं मुख काढै बात"[११] (२) "प्रजातंत्र के नाम पर, झूठा न्याय ढिंढोर/ पक्षपात से पलत जहं, लबरा, चोर, छिछोर"[१२] (३) "पूजा के गरजी रहे, अरजी सुनै न कान / फरजी, मरजी हो गए, कलियुग के भगवान्"[१३] मानवीय मूल्यों के हाल की कथा कहते ये दोहे पाठक को पुनः संस्कारों की पगड़ण्डी पर लौटाने का यत्न करते हैं– "सार्थक नर तन पाय के, कीजै दो ही काम / दीबै को रोटी भली, लीबै को प्रभु नाम"[१४] "निज कुल प्रतिभा राखिए, सकल गोत से प्रीत / मानवता नहीं छाड़िए, उत्तम कुल की रीत"[१५]

'सहस्रावलि' पढते हुए रीतिकालीन कवि 'बिहारी' का स्मरण स्वाभाविक ही है। साथ ही 'प्रेम' और 'बिहारी' के दोहों में गहरा भाव साम्य भी है उदाहरणार्थ– *संयोग पक्ष* "सुख सौं बीती सब निसा, मनु सोए मिलि साथ/मूका मेलि गहे सुछिन, हाथ न छोड़े हाथ"[१६] (बिहारी)

–प्रेमालिंगन रात ह्वै, लिपटि परै दोऊ साथ / निसि बीती पुनि प्रात में, हाथ न छाड़े हाथ"[१७] (प्रेम)

*वियोग पक्ष*– "मरन भलो बस विरह ते, यह विचार चित जोय / मरन छुटै दुःख एक का, विरह दुहुं दुःख होय"[१८] (बिहारी)

"प्रेमी विरही आह भरी, चित चिंतित दिन रैन / चाह चिता अंगार में, जरि मरि पावत चैन।"[१९] (प्रेम)

*अभिधान योजना*– झटकि चढति, उतरति, अटा, नैकु न थाकति देह / भई रहति, नटको वटा, अटकि नागर नेह"[२०] (बिहारी)

"छिन उतरति, छिन पुनि चढति, थके न रंचहु गात / बिज्जु छटा सी चढ़ अटा, थिरकि, चपकि सी जात"[२१] (प्रेम)

*बाह्याडंबर विरोध*– "अपने अपने मत लगे, बादि मचावति सोर / ज्यों त्यों सबको सहबों, एकै नन्द किशोर"[२२] (बिहारी)

सगुन, निगुन में भेद क्या, भेद रहित इक सार / पंथ दोहुन को एक है, प्रेम प्रणय अभिसार"[२३] (प्रेम)

*दुर्जन निन्दा*– "ओछे बड़े न ह्वै सके, लगै सतर छै गैन / दीरघ होई नेकहूँ, फाटि निहारे नैन"[२४] (बिहारी)

"छलनी छलिया छिद्र में, पानी कस ठहरात / मूरख हिरदै चेतना दुर्लभ कठिन दिखात"[२५] (प्रेम)

*गुण प्रशंसा*– "बड़े न हूजत गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाए / कहत धतूरौं सों कनक, गहनो गढ्यो न जाई"[२६] (बिहारी)

"गुन न हिरानो जगत से, गुन गाहक हीरान / गुनिया बिनु मुक्तान की, कौन करे पहिचान"[२७] (प्रेम)

उपर्युक्त दोहा भावसाम्य के आधार पर यह अनुमान होता है कि 'प्रेम' बिहारी से गहरे प्रभावित थे और इसमें आश्चर्य भी नहीं क्योंकि, साहित्यकार प्राय: अपने पूर्ववर्ती साहित्यकार से कम या अधिक प्रभावित होता ही है परन्तु यहाँ यह निष्कर्ष निकालना कि बिहारी के दोहों में शब्दों की उलट-पुलट कर कवि ने नए दोहे गढ दिए हैं सरासर अन्याय होगा। हाँ, इसे एक आकस्मिकता ही कहना होगा कि एक राजदरबारी कवि ने अपने काव्य कौशल की सिद्धहस्तता और विद्वत्ता को प्रमाणित करने के लिए जिस दोहा शैली में मार्मिक अभिव्यक्ति की, उसी दोहा छंद को अपनाकर दूसरे कवि ने साहित्य से विलुप्त होते श्रृंगार रस की पुनर्स्थापना का प्रयास किया। 'प्रेम' ने 'श्रीखण्डे सहस्रावलि' की प्रस्तावना में स्पष्ट किया है कि "हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन साहित्य के पश्चात् श्रृंगार का यत्र तत्र स्फुट स्फुरण तो हुआ है, किन्तु निश्चित अवलियों के एकाकार का संयोग न होना साहित्य में रस राज के प्रति उपेक्षा नहीं तो क्या है ? संक्षेप में मेरा उद्देश्य इसी न्यूनता का पूरक है। आधुनिक सभ्य कवियों ने रीतिकालीन साहित्य को अश्लीलता के दोष से कलंकित किया है पर श्रृंगारिकता अश्लील नहीं होती।"[२८] युगान्तराल होने पर भी दोनों कवियों ने मानवीय समस्याओं के निराकरण का मार्ग भी लगभग एक सा चुना है। इसका कारण यह कि ज्ञान की भांति संसार में सत्य, अहिंसा, प्रेम का कोई विकल्प नहीं है। अत: जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए 'प्रेम' और 'बिहारी' ने इन्ही मूल तत्त्वों का आधार लिया है। फलत: उसमें मौलिक अंतर परिलक्षित नहीं होता। हाँ, 'सामाजिक संदर्भ' के दोहों का सृजन कर 'प्रेम' ने अपनी मौलिकता को अधिक पुष्ट अवश्य किया है। इस संदर्भ में डॉ. रामकुमार वर्मा ने लिखा है "आपकी 'श्रीखण्डे सतसई' के दोहे पढे। भाषा सौंदर्य, सूक्ति चमत्कार में आपके दोहे बड़े प्रभावशाली हैं। मुझे विश्वास है कि, वे दोहे प्रभाकर की भाँति प्रभा विकीर्ण करेंगे।"[२९]

'श्रीखण्डे सहस्रावलि' के दोहे गागर में सागर हैं। जीवन के बहुआयामी पक्षों को उद्घाटित करने वाले इन दोहों में सरसता आद्यान्त प्रवहमान है। खड़ी बोली, उर्दू तथा बुन्देली शब्दों के अद्भुत मेल से दोहों में चमत्कार उत्पन्न हुआ है। डॉ. देवघर ने लिखा है कि "प्रभाकर जी की हिन्दी रचना यथार्थ में सोने में सुहागा का काम कर रही है। कहने को तो दोहा छन्द है किन्तु, भाव और गंभीरता के कारण भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ लावण्यता और मधुरता का विलक्षण प्रभाव हृदय-पटल पर अंकित हुए बिना नहीं रहता।"[३०] श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि से अलंकृत 'श्रीखण्डे-सहस्रावलि' हिन्दी साहित्य को 'प्रेम' की अनूठी देन है।

'सौरभ', 'प्रेम पुष्पांजलि' और 'प्रेम भावांजलि' कवि की काव्य-यात्रा का अन्तिम चरण है। तीनों काव्य संग्रहों में ४० से ऊपर कविताएँ हैं (प्रत्येक संग्रह

में ४० से अधिक) । इनका रचनाकाल अनुमानतः कवि के जीवन का अंतिम काल (अर्थात् सन १९७९ से १९८१) है । प्रत्येक संकलन तीन चरणों में विभक्त है– रहस्य, सौंदर्य और प्रेम । 'सौरभ' में रहस्य के साथ-साथ यथार्थ की सुरभि भी यत्र-तत्र बिखरी हुई है । 'सौरभ' की कविताएँ रहस्य भाव का प्रस्थान है। प्रकृति के कण-कण में कवि रहस्य की अनुभूति करता है "गूँज रहा है रोम रोम में, मेरे किसका नीरव गान / डर तंत्री को हिला रही है, किस अदृश्य की मृदु मुस्कान/समा गया है इन आँखों में कितनी नव सुषमा का सार/किसके चरणों पर बिखरा है मेरा सुमन कल्पना हार/ढूँढ रहा हूँ डर प्रदेश में किसको भूल व्यथा में मौन / रे छलिया बस यही बता दे तू है सचमुच मेरा कौन ।"[११] अनंत सत्ता के प्रति जिज्ञासा का यही भाव 'प्रेम भावांजलि' में निरंतर विकसित हुआ है । अज्ञात, असीम के संधान में व्यस्त कवि उस तादात्म्य की स्थिति में पहुँच जाता है जब वह अनुभव करता है कि "तुम निशा में चंद्र बन चमको, तुम्हें पहचान लूँगा / तुम पवन में गंध बन महको, तुम्हें पहचान लूँगा / तुम किसी भी रूप में आओ, तुम्हें पहचान लूँगा"[१२] वस्तुतः ब्रह्मानंद के प्रति कवि का निरंतर खिंचाव जो उनकी पूर्व की रचनाओं में लगभग अनुपस्थित है, कवि व्यक्तित्व के एक नए आयाम को उद्घाटित करता है ।

प्रकृति के अनुपम सौंदर्य से उत्पन्न कवि हृदय की कौंध तीनों काव्य संकलनों में मौजूद है । चंद्रमा, चकोर, उड़गण, रजनी आदि को कवि ने एक नए आलोक में देखा है । "करती है अभिमान कभी तू, मदोन्मत्त हो जगती है / रत्न राशियाँ गगनांगन में, यों ही व्यर्थ लुटाती है / चोर उलूकों की कहलाकर क्यों इतना इठकाती है / तुच्छ भाग्य उनके ही हैं तब, क्यों न उन्हें चमकाती है?"[१३] 'प्रेम' चित्रकार भी थे और ड्राइंग मास्टर के पद पर रीवां में शासकीय सेवा में रह चुके थे । उनकी सौंदर्य चित्रण की कृतियों में कवि और चित्रकार के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है । सौदर्य का एक एक चित्र शब्दों में साकार हो उठा है । सौंदर्य की रचनाओं का क्षेत्र व्यापक है । प्रकृति–सौंदर्य इसका एक छोर है, तो मानवीय सौंदर्य दूसरा ।

प्रेम विषयक प्रारंभिक रचनाएँ नितांत व्यक्तिगत प्रेम की असफलता का रुदन है । इसमें कवि ने एकाधिक बार इस मन्तव्य को प्रकट किया है कि प्रियतमा के लाख छल करने पर भी उसके प्रति प्रिय (कवि) की प्रीति किंचित् कम न होगी । व्यक्तिगत सीमा में आबद्ध होने के कारण इन्हें साहित्योपयोगी नहीं कहा जा सकता । लेकिन बाद की रचनाओं में कवि इस आवृत्त को तोड़ कर बाहर निकलने में सफल रहे हैं । फलतः प्रकृति से लेकर सम्पूर्ण प्राणि जगत् के साथ वह आत्मीयता के स्तर पर जुड़ सके हैं । "काहू को देति शाला, दुशाला औ

काहू को देति हैं टाट पुरानो / स्वर्ण से निर्मित काहू को धाम औ, काहू को झोपड़ी फूस को छानो / देति है काहू को द्रव्य असंख्य औ, काहू को है पर द्वार घुमानो / भ्रष्ट भई विधना की मति, कैंधो बाउर बूढ भयो सठियानो''[१४]

कवि त्रिकालदर्शी है। 'स्वतंत्रता-संग्राम' में अतीत के सत्य को और 'श्रीखण्डे-सहस्रावलि' में वर्तमान के यथार्थ को अंकित करने के साथ-साथ अखिल विश्व के भविष्य को भी देखा है। वर्तमान की नींव पर भविष्य का ढाँचा खड़ा होता है। इस दृष्टि से आज के हिंसापूर्ण वातावरण में सुरम्य भविष्य की कल्पना मात्र एक छलावा है। ''होने वाला है महाप्रलय / दुष्टों के अत्याचारों से, दुर्भावपूर्ण व्यवहारों से। है त्राण चाहती देवों की दुनिया, व्यापक अभिचारों से / कब तक होगा अघ का संचय, होने वाला है महाप्रलय''[१५] 'प्रेम' विविधता के कवि हैं। हास्य व्यंग्य की रचानाओं का एक स्वतंत्र संकलन उनकी एक उत्कृष्ट कृति है। इसके अलावा उन्होंने उर्दू और अंग्रेजी में भी साधिकार लिखा है।

कुल मिलाकर 'प्रेम' का रचना-संसार विस्तृत है। यद्यपि उनकी रचनाएँ गंभीर चिंतन की दिशा में मुड़कर भी गहराई को स्पर्श नहीं कर सकी हैं, तथापि सरलता और सरसता ही उनके साहित्य का वैशिष्ट्य है। यही कारण है कि तत्त्व-दर्शन के अभाव में भी पाठक उनके साहित्य से संस्कारित अवश्य होता है।

संध्या टिकेकर

RB II 275(B)
पूर्वी रेलवे कालोनी,
बीना-४७०११३
(म. प्रदेश)

## संदर्भ सूची

१. स्वतंत्रता संग्राम 'न समझो इन्हे गोरे' (*विक्रम* साप्ताहिक कानपुर से प्रकाशित इस रचना पर जमानत ५०० रु. जप्त)

२. स्वतंत्रता संग्राम 'जुल्म हो रहा है' (*अवधवासी* साप्ताहिक लखनऊ से प्रकाशित इस रचना पर जमानत ५०० रु. जप्त)

३. *वही* - 'मक्कार मूजियों का भारत ये घर नहीं है' से

४. *वही* - देशगान

५. *वही* - हिन्दू संगठन

६. सामरिक गान- दोगला चीन

७. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
८. वही
९. वही
१०. वही
११. वही
१२. वही
१३. वही
१४. वही
१५. वही
१६. बिहारी सतसई– पृष्ठ ३३६ राकेश प्रकाशन केन्द्र लखनऊ
१७. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
१८. बिहारी सतसई– पृष्ठ ९९
१९. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
२०. बिहारी सतसई– पृष्ठ १२५
२१. श्रीखण्ड-सहस्रावलि
२२. बिहारी सतसई– पृष्ठ ३४२
२३. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
२४. बिहारी सतसई– पृष्ठ ३४९
२५. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
२६. बिहारी सतसई– पृष्ठ १२२
२७. श्रीखण्डे-सहस्रावलि
२८. श्रीखण्डे-सहस्रावलि की प्रस्तावना से
२९. डॉ. रामकुमार वर्मा का पत्र दिनांक ११-५-५८.
३०. डॉ. देवघर का पत्र दिनांक ४-६-५९.
३१. सौरभ– 'अज्ञात' से
३२. प्रेम भावांजलि– पहचान
३३. प्रेम पुष्पांजलि– रजनी
३४. प्रेम पुष्पांजलि– विषमता क्यों?
३५. पेम पुष्पांजलि– महाप्रलय

# योगाचार में स्वयंप्रकाशता का अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से मूल्यांकन

प्रायः सभी दार्शनिक यथार्थवाद की इस अवधारणा से सहमत हैं कि ज्ञान वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करता है। वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ हमें यह भी ज्ञान प्राप्त होता है कि मैं ज्ञाता हूँ और मैं उस वस्तु को जानता हूँ। इस प्रकार के ज्ञान के ज्ञान के स्वरूप एवं कार्य के सम्बन्ध में विवाद है। भाट्ट मीमांसक इस प्रकार के ज्ञान के प्रत्यक्ष की सम्भावना का खण्डन करते हैं। उन्होंने इसे हेतुफलाश्रित अनुमान के अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार वे इस समस्या को समूल समाप्त कर देते हैं। न्याय दार्शनिकों ने इस प्रकार के ज्ञान की व्याख्या वस्तु-ज्ञान के रूप में की है। केवल प्रत्ययवादी इस प्रकार के ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं। इसका वस्तु-ज्ञान की भांति प्रत्यक्ष मानना तर्कसंगत नहीं है, किन्तु इस प्रकार के ज्ञान की स्वयंप्रकाशता की परिभाषा एवं व्याख्या बौद्ध, सांख्य, जैन एवं वेदान्त में भिन्न प्रकार से की गयी है।

इस निबन्ध में योगाचार तथा अद्वैतवेन्दात में प्रस्तुत की गयी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के सम्बन्ध में विचारों की तुलना करके योगाचार दर्शन के मत से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का अद्वैतवेदान्ती दृष्टिकोण से समाधान किया गया है। यहाँ पर योगाचार दर्शन में प्रस्तुत की गयी स्वयंप्रकाशता की धारणा की विवेचना आवश्यक है क्योंकि इससे उनके सिद्धान्त में दोषों का पता लगता है। अद्वैतवेदान्तयों के साथ उनके विवाद ने एक पृष्ठभूमि तैयार की जिसके कारण अद्वैतवेदान्तियों को योगाचार के सिद्धान्त की आलोचना करके स्वयंप्रकाशता की निर्दोष परिभाषा देने में सफलता प्राप्त हुई है।

योगाचार दर्शन में स्वयंप्रकाशता के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट विचार धर्मकीर्ति ने दिया है। उनका यह मत कि ज्ञान के ज्ञान के बिना वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है (अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्ह दृष्टिः प्रसिद्धयेत्) काफी लोकप्रिय था।

प्रमाणवार्तिक में स्वयंप्रकाशता के विषय में तर्क दिया है कि कोई भी व्यक्ति सुख-दुःख के ज्ञान के बिना सुखी-दुःखी नहीं होता है । सुख-दुःख अपने अस्तित्व का संकेत करते हैं । उनका अस्तित्व उनके ज्ञान से भिन्न नहीं है । उनके अस्तित्व से ही उनका ज्ञान होता है । अतः ये स्वतः ज्ञात हैं ।[१]

योगाचार दर्शन में ज्ञान के दो रूप बताये गये हैं-- १. अर्थरूपता, २. अनुभवरूपता। इसी के अनुरूप ज्ञान की अभिव्यक्ति के भी दो रूप हैं-- बहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी। जब ज्ञान बहिर्मुखी होता है तब वह वस्तु के रूप में प्रकाशित होता है । यह ज्ञान की अर्थरूपता है । अन्तर्मुखी ज्ञान स्वकेन्द्रित होता है। इससे ज्ञान की सत्ता प्रकाशित होती है । ज्ञान ऐसा ज्ञाता है जो किसी अन्य का ज्ञेय नहीं बन सकता है । यह उसकी अनुभवरूपता है । वस्तु-रूप में ज्ञान का प्रकाश ही वस्तु-ज्ञान है ।[२] वस्तु का ज्ञान, ज्ञान की ही ज्ञान है। ज्ञान किसी अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञेय नहीं है[३], किन्तु वह (ज्ञान) ज्ञात न होगा तो वस्तु-ज्ञान नहीं होगा और विश्व अन्धकारमय हो जायेगा ।[४] वस्तु-ज्ञान होने से ही ज्ञान की स्वयंप्रकाशता सिद्ध हो जाती है । जिस प्रकार ज्ञान के वस्तु-रूप होने से वस्तु का ज्ञान एवं ज्ञान का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञान की सत्ता से भी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता सिद्ध होती है ।[५] ज्ञान की स्वयंप्रकाशता के सम्बन्ध में उनका यह तर्क भी है कि यदि ज्ञान वर्तमान में ज्ञात न होगा तो उसका अनुभव कैसे होगा ?[६]

योगाचार के मतानुसार यह शंका निराधार है कि ज्ञान जो वस्तु-रूप में प्रकाशित होता है वह ज्ञान का आभास है । यदि ऐसा होता तो ज्ञान की सत्ता अप्रकाशित रह जाती और पूरा विश्व अन्धकार ममय हो जाता ।[७] यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञान की स्पष्टता का संकेत ज्ञान की सत्ता के प्रति है, न कि उसके किसी अन्य गुण के प्रति । स्वयंप्रकाशता का अर्थ-ज्ञान की सत्ता का उसी के द्वारा प्रकाशित होना है । यदि वस्तु के ज्ञात होने पर ज्ञान की सत्ता प्रकाशित न होगी तो जो प्रकाशित होगा वह ज्ञान का आभास होगा और ज्ञान की सत्ता अप्रकाशित रह जायेगी, जो किसी अन्य के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होगी ।

योगाचार दर्शन में चेतना की एकता प्रतिपादित की गयी है । एक ही चेतना ज्ञान की सत्ता एवं वस्तु के रूप में अपने विस्तार को प्रकाशित करती है । वस्तु-ज्ञान के रूप में ज्ञान किसी अन्य ज्ञान का ज्ञेय नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर अनवस्था दोष भी उत्पन्न हो जायेगा । ज्ञान अज्ञात भी नहीं रह सकता, क्योंकि स्वयं अज्ञात ज्ञान किस प्रकार वस्तु को प्रकाशित कर पायेगा ?[८]

धर्मकीर्ति के अनुसार ज्ञान में दो पद हैं– वस्तु रूपी ज्ञान और ज्ञान का अपना अस्तित्व जो ज्ञाता भी है। ज्ञान उत्पन्न होने के लिये दोनों का ज्ञात होना आवश्यक है। यदि एक भी अज्ञात रह गया तो वस्तु-ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।[९] वस्तु का ज्ञान, ज्ञान का ही विस्तार है। इसलिए वस्तु को प्रकाशित करते हुए चेतना ज्ञाता के रूप में अपनी सत्ता को भी प्रकाशित करती है। स्वयंप्रकाशता सभी ज्ञानों की विशेषता है।

यह शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जब योगाचार दर्शन में वस्तु का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया गया है तो उनका ज्ञान कैसे होगा ? उनका उत्तर है कि वस्तु-रूप (जो मानसिक प्रत्यय है) ज्ञान को प्रभावित करता है जिससे ज्ञान वस्तु-रूप में विस्तृत होता है और वस्तु का ज्ञान होता है। यह वस्तु रूपी ज्ञान अपरोक्ष एवं विषय रूप में अज्ञेय है।[१०] इस प्रकार वस्तु-रूपी ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है।[११]

यद्यपि वस्तु-आकार एवं ज्ञान एक ही तत्त्व से निर्मित हैं, किन्तु दोनों में व्यवहार के लिए अन्तर किया जाता है। ज्ञान स्वयंप्रकाश ज्ञाता है और वस्तु-आकार ज्ञेय है। यदि दोनों को एक ही तत्त्व से निर्मित होने के कारण स्वयं प्रकाश कहें, तो दोनों में प्रकाशक-प्रकाशित सम्बन्ध नहीं रहेगा जैसे– दो लैम्पों में प्रकाशक-प्रकाशित सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही ज्ञानात्मक प्रयोग भी प्रकाशक-प्रकाशित सम्बन्ध पर आश्रित है।[१२]

योगाचार के मतानुसार स्मृति भी स्वयंप्रकाशता का प्रमाण है। केवल ज्ञात वस्तु ही स्मृति का विषय बन सकती हैं। यदि ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से ज्ञात होगा तो क्षणिक ज्ञान के समाप्त हो जाने पर हमें वस्तु का स्मरण नहीं होगा।[१३]

ज्ञान में आत्मचेतना कैसे उत्पन्न होती है ? यह वस्तु-ज्ञान का परिणाम है या ज्ञान का आवश्यक रूप है ? दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान की सत्ता की चेतना वस्तु के रूप में अपने ही विस्तार के चिन्तन का परिणाम है। धर्मोत्तर के अनुसार वस्तु-ज्ञान में वस्तु के आकार के अनुरूप ज्ञान-आकार होता है। लेकिन वस्तु-आकार और ज्ञान के आकार का अनुभव अलग-अलग होता है। ज्ञान का अस्तित्व स्वतन्त्र है।[१४] कोई भी चेतना-अवस्था अनुभव रहित नहीं है।[१५] आत्मचेतना या स्वयंप्रकाशता प्रत्येक ज्ञान की अनिवार्य विशेषता है जो वस्तु-ज्ञान का परिणाम न होकर प्रागनुभविक है। इस प्रकार योगाचार दर्शन में स्वयंप्रकाशता की धारणा में वस्तु-ज्ञान के परिणाम से प्रारम्भ करके उसकी स्वतन्त्रता के प्रति क्रमिक विकास दिखायी देता है। इस विकास के क्रम में स्वयंप्रकाशता को सभी ज्ञानों की भावात्मक एवं अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि योगाचार में वस्तु-रूप ज्ञान का ही विस्तार है। वस्तु-ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान है। इस प्रकार वस्तु-ज्ञान प्राप्त करने वाला ज्ञान ज्ञाता है जो अपनी सत्ता का भी ज्ञाता है। अपनी सत्ता एवं वस्तु का ज्ञाता स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाशता सभी ज्ञानों की विशेषता है।

योगाचार दर्शन में प्रतिपादित स्वयंप्रकाशता के विरुद्ध अद्वैत वेदान्ती की मुख्य आपत्ति यह है कि उसमें बाह्य जगत् की वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तु-आकार, जो ज्ञान को प्रभावित करता है, मानसिक ही है। इस प्रकार की ज्ञान-क्रिया जो वस्तुरहित हो और केवल मनोगत हो, सम्भव नहीं है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का होना आवश्यक है। ज्ञान वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करता है और वह प्रत्यय पर निर्भर न होकर वस्तु पर निर्भर है।[१६] विभिन्न ज्ञानों में अन्तर करने के लिए भी वस्तु की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तु को स्वीकार किये बिना संवृत्ति-ज्ञान नहीं उत्पन्न होगा। योगाचार का यह मत अस्पष्ट है कि ज्ञान-ज्ञेय के एक तत्त्व से निर्मित होते हुए भी दोनों में व्यवहार के लिए अन्तर किया जाता है जिससे ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या की जा सके। लेकिन केवल ज्ञानोत्पत्ति की व्याख्या करने के लिए ज्ञेय वस्तु की सत्ता की कल्पना कर लेने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार का योगाचार का ज्ञान अनित्य है जो स्वयंप्रकाश कहा गया है। किन्तु यहाँ पर यह शंका होती है कि अनित्य ज्ञान के समाप्त हो जाने पर वह अपनी सत्ता को प्रकाशित करने के लिए नहीं रहेगा। इसलिए वह ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता है।

योगाचार दर्शन में ज्ञान को स्वयं अपनी सत्ता प्रकाशित करने के कारण स्वयंप्रकाश कहा गया है। किन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार अपनी सत्ता को प्रकाशित करना स्वयंप्रकाशता नहीं है। ऐसा ज्ञान, जो अपनी सत्ता को प्रकाशित करता है, केवल अपने वर्तमान अस्तित्व का साक्षी हो सकता है, किन्तु अपनी अनेकता, उत्पत्ति एवं विनाश का साक्षी नहीं, बन सकता है। इसलिए एक नित्य, अपरोक्ष एवं अवेद्य साक्षी आत्मा की आवश्यकता पड़ती है जो अपनी उत्पत्ति, अस्तित्व एवं विनाश का साक्षी ही। यही साक्षी आत्मा स्वयंप्रकाश है। यह ज्ञान-क्रिया से तटस्थ रहते हुए ज्ञान प्राप्त करती है। यह नित्य एवं अपरोक्षानुभूति स्वरूप आत्मा सभी लौकिक ज्ञानों का पूर्वाधार है।

चित्सुखाचार्य ने योगाचार दार्शनिकों की स्वयंप्रकाशता को 'अपना और अपने द्वारा ज्ञान'[१७] कह कर उसकी आलोचना की है कि एक ही ज्ञान को विषय एवं

विषयी कहना व्याघाती है। इसलिए योगाचार का ज्ञान स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता है। चित्सुखाचार्य ने योगाचार की स्वयंप्रकाशता की धारणा को दोषरहित करने के लिए अपनी परिभाषा दी है कि स्वयंप्रकाश वह है जो अवेद्य हो और व्यवहार में अपरोक्ष कहे जाने के योग्य हो।[५८] यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि चित्सुखाचार्य एवं योगाचार दार्शनिकों दोनों ने अवेद्य एवं अपरोक्ष ज्ञान को स्वयंप्रकाश कहा है दोनों में अन्तर कैसे किया जाय ? यदि दोनों में अन्तर नहीं है तो अद्वैती कैसे योगाचार का खण्डन कर सकते हैं ? यद्यपि दोनों इस तथ्य पर सहमत हैं कि स्वयंप्रकाश अवेद्य होता। किन्तु दोनों में अपरोक्षता के सम्बन्ध में मतभेद है। यदि यह माना जाय कि योगाचार के अनुसार अपरोक्षता ज्ञान का स्वरूप है तो सभी ज्ञान स्वयंप्रकाश होने के कारण अपरोक्ष हो जायेंगे। लेकिन तब अपरोक्षता विशेषण निरर्थक हो जायेगा। अपरोक्ष कहे जाने से ही स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ज्ञान परोक्ष हैं। इससे प्रतीत होता है कि योगाचार के अनुसार अपरोक्षता ज्ञान का स्वरूप नहीं है। अत: यह उचित लगता है कि योगाचार के अनुसार अपरोक्षता का विषय होने के कारण ज्ञान स्वयंप्रकाश है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्ती के अनुसार इसे स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपरोक्षता का विषय होने पर ज्ञान अवेद्य नहीं रहेगा। अवेद्य होने के साथ अपरोक्ष कहे जाने के लिए चित्सुखाचार्य ने स्वयंप्रकाश को व्यवहार में अपरोक्षता के योग्य कहा है। अपरोक्ष योग्यता के लक्षण से ही आत्मा को स्वयंप्रकाश कहा जाता है। व्यवहार में निरूपित होने पर भी निरपेक्ष आत्मा निरूपण से सापेक्ष नहीं होती है, क्योंकि अपरोक्षता आत्मा का स्वरूप ही है। इस प्रकार चित्सुखाचार्य ने अवेद्य एवं व्यवहार में अपरोक्षता के योग्य आत्मा को स्वयंप्रकाश कहा है। इससे योगाचार के स्वयंप्रकाश की अनेकता एवं उससे उत्पन्न होने वाले दोषों से बचा जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार वस्तु-ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और अवेद्य एवं अपरोक्ष कहलाने के योग्य आत्मा स्वयंप्रकाश है। उनके अनुसार योगाचार में निरूपित स्वयंप्रकाश ज्ञान अनित्य है। इसलिए वह स्वयंप्रकाश नहीं है। योगाचार का स्वयंप्रकाश ज्ञान वस्तुरहित होने के कारण वेदान्त के त्रिविध ज्ञान जागृत, सुषुप्त एवं स्वप्नावस्था में से स्वप्नावस्था की कोटि में रखा जा सकता है। लेकिन यह अनित्य होने के कारण स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता और परोक्ष ज्ञान की कोटि में रखा जाता है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में साक्षी आत्मा को नित्य, अवेद्य एवं व्यवहार में अपरोक्षता के योग्य होने के कारण स्वयंप्रकाश कहा गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में जनक के प्रश्न पर कि मनुष्य के लिए स्वयंप्रकाश क्या है ? याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि परोक्ष ज्ञानों का निषेध करके ही अपरोक्ष स्वयंप्रकाश आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। (आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति) अपरोक्षानुभूति को परोक्ष ज्ञान से अलग करने का तात्विक आधार

भी है। अपरोक्षनुभूति स्वयंप्रकाश ब्रह्म है। परोक्ष ज्ञान नानात्व का अनित्य ज्ञान है। नानात्व भी परम सत् ब्रह्म के ही आभास हैं, जैसे सूर्य का जल में बिम्ब है। जिस प्रकार सत् का ही बिम्ब होने के कारण नानात्व को सत् समझने का भ्रम होता है या व्यावहारिक जगत में सत् समझा जाता है, उसी प्रकार नानात्व के अनित्य ज्ञान को भी नित्य ज्ञान समझने का भ्रम हो सकता है, या व्यावहारिक उपयोगिता के लिए उपचार मात्र से उसे स्वयंप्रकाश कहा जाता है। उपनिषदों में इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वस्तुओं के अनित्य ज्ञान को भी स्वयंप्रकाश कहा गया है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अनित्य ज्ञान में स्वयंप्रकाशता की विभिन्न मात्रायें होती हैं, क्योंकि स्वयंप्रकाश अविभाज्य अपरोक्षानुभूति है। स्वयंप्रकाशता की मात्रायें स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। जब अनित्य ज्ञान का निषेध हो जाता है तो केवल स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही सत् रह जाता है। अद्वैत वेदान्त में स्वयंप्रकाश आत्मा (ब्रह्म) सूर्य की भाँति स्वयंप्रकाश है जो सबको प्रकाशित करता है और प्रकाश्य के अभाव में भी स्वयंप्रकाश है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन की व्यापक व्याख्या में योगाचार एवं अन्य दर्शनों के स्वयंप्रकाश को परोक्ष एवं अनित्य ज्ञान की विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है और केवल ब्रह्म को स्वयंप्रकाश कहा गया है।*

दर्शनशास्त्र विभाग, मदनमोहन त्रिवेदी
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर-२७३०१५
(उ. प्रदेश)

## सन्दर्भ

१. *प्रमाणवार्तिक*, २४९ पृ. १७५

२. *मनोरथनन्दिवृत्ति*, पृ. २२५

३. *प्रमाणवार्तिक*, पृ. २४७, २२४

४. *मनोरथनन्दिवृत्ति*, पृ. २२४

५. *प्रमाणवार्तिक*, ४३६ पृ. २२७

६. *मनोरथनन्दिवृत्ति*, पृ. २२४

७. *प्रमाणवार्तिक*, ४४०, पृ. २२७

८. वही, ४४१, पृ. २२७

९ मनोरथनन्दिवृत्ति, ४४४, पृ. २२७

१० म. वृ. ४७९, पृ. २३८

११. वही ।

१२. प्रमाणवार्तिक, ४८३, पृ. २३९

१३. प्र. वा. ४८५, पृ. २३९

१४. धर्मोत्तरी टीका, पृ. १४.

१५. वही ।

१६. वस्तुतंत्रमेव तत्-ब्रह्मसूत्र शाङ्कराभाष्य, १.१.२

१७. चित्सुख, तत्त्व प्रदीपिका, पृ. ४

१८. अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं ।

–चित्सुख, तत्त्व प्रदीपिका, पृ. ५

* यह निबन्ध अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ३६ वें अधिवेशन की संगोष्ठी में पढा गया था ।

# नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२९)
## समवायिकारणता

पिछले लेख में कहा गया था कि विभिन्न प्रकार के समवायि कारणों के विषय में विवाद की चर्चा अग्रिम लेख में की जायगी। संयोग और विभाग के लिये द्रव्यत्व से विशिष्ट द्रव्य कारण होने से द्रव्य में कारणता का नियामक द्रव्यत्व जाति होती है। परन्तु जन्य द्रव्य मात्र के लिये स्पर्शवान् समवायि कारण है ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं।[1] परन्तु यह मत ठीक नहीं है। स्पर्शवान् को समवायि कारण मानने में गौरव है। क्योंकि स्पर्शवान् को कारण मानने पर कारणता का अवच्छेदक (नियामक) स्पर्शत्व होगा जो गुरुभूत धर्म है। दूसरी बात यह है कि स्पर्श उद्भूत (व्यक्त) और अनुद्भूत (अव्यक्त) भेद से दो प्रकार का होता है ऐसा कुछ नैयायिक मानते हैं।[2] परन्तु अनुद्भूत स्पर्श स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में पिशाच के अवयवों में उद्भूत स्पर्श न होने से वे (अवयव) जन्य द्रव्य के आरम्भक (उत्पादक) नहीं होंगे। अतः जन्य द्रव्य के लिये स्पर्शवान् (वस्तु) को समवायि कारण नहीं मान सकते।

उसी प्रकार वेग और स्पन्द के लिये कारण होने वाले मूर्त द्रव्य में रहने वाली जो मूर्तत्व जाति है उस जाति से युक्त द्रव्य भी जन्य द्रव्य मात्र का समवायि कारण नहीं है। क्योंकि मूर्तत्व विशिष्ट को जन्यद्रव्य मात्र का समवायि कारण मानने पर मन से भी जन्यद्रव्य की उत्पत्ति होने लगेगी। क्योंकि मन भी मूर्त द्रव्य माना गया है। यहाँ यह कहना उचित नहीं होगा कि मन में जन्य द्रव्य की समवायि कारणता तो है, परन्तु सहकारि कारण के न होने से, मन से किसी जन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि नित्य वस्तु स्वरूप-योग्य होने पर वहाँ फलावश्यंभाव होता है। अतः जन्यद्रव्य के लिये क्षित्यादि चार द्रव्यों को ही समवायि कारण मानना उचित है। क्षित्यादि चार द्रव्य ही द्रव्यारंभक अर्थात् द्रव्य के समवायि कारण होते हैं। उनमें रहने वाली भिन्न प्रकार की जाति ही समवायि कारणता की नियामक होती है। उसी कारणता के अवच्छेदक के रूप में उक्त चार द्रव्यों में एक भिन्न जाति सिद्ध होती है।

परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि जन्यद्रव्य की समवायि कारणता के नियामक धर्म के रूप में पृथिव्यादि चार पदार्थों में रहने वाली एक स्वतन्त्र जाति सिद्ध होती है तो उसी न्याय से जन्य संस्कार की समवायि कारणता के नियामक के रूप में आत्मा में भी अ-विभु में रहने वाली एक अतिरिक्त जाति सिद्ध होगी ।[३] उस जाति का सांकर्य सुख की समवायि कारणता के नियामक के रूप में सिद्ध आत्मत्व जाति के साथ नहीं होगा । क्योंकि वह जाति ईश्वर (परमात्मा) में नहीं है । तथापि यह प्रतिपादन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वेग, स्थिति-स्थापकत्व और भावना ये जो संस्कार के तीन भेद हैं उनमें अनुगत रूप से विद्यमान कोई संस्कारत्व नामक जाति है इसके विषय में कोई प्रमाण नहीं है । और उस संस्कारत्व से विशिष्ट की समवायि कारणता के नियामक के रूप में किसी स्वतन्त्र जाति को सिद्ध करना काक-दन्त-दर्शन के समान है । अनुगत धर्म से नियमित कार्यता से निरूपित कारणता ही जाति की साधक होती है ।[४]

मूर्त द्रव्य को मूर्त द्रव्य के रूप में भी द्रव्य का समवायि कारण माना जा सकता है । मन में मूर्तत्व होने पर भी विलक्षण संयोग के न रहने से उससे किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है । नित्य स्वरूप-योग्य होने पर उसमें फलावश्यं-भाविता रहती है इस नियम को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है ।[५] परन्तु ऐसा मानने पर प्रश्न यह होता है कि स्पन्द के लिये भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में ही कारण मानेंगे, मूर्त के रूप में नहीं, तो मूर्तत्व जाति जो स्पन्द की समवायि कारणता के नियामक के रूप में सिद्ध होती है वह अब सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि द्रव्यत्वेन स्पन्द की समवायि कारणता मानें तो गगन में स्पन्द क्यों उत्पन्न होता है इस प्रश्न का समाधान भी उपर्युक्त सहकारि के न रहने से नहीं उत्पन्न होता है यह कह कर भी किया जा सकता है । परन्तु यह ठीक नहीं है । स्पन्द के लिये कारण होने वाला दण्ड आदि का आघात गगन में भी है । अतः वहाँ सहकारी का अभाव है यह कथन युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि दण्ड का अभिघात जो शब्द का असमवायि कारण है आकाश में है और उसके बिना आकाश में दण्डाभिघात से होने वाले विलक्षण शब्द की उत्पत्ति संभव नहीं होगी ।

यदि शब्द के लिये असमवायि कारण होने वाले संयोग को अभिघात मानने में कोई प्रमाण नहीं है तथा शब्द भेरी और दण्ड के अभिघात-रूप निमित्त कारण से उत्पन्न होता है, अतः स्पन्द का असमवायि कारण अभिघात न होने से गगन में स्पन्द उत्पन्न नहीं होता है ऐसा कहें तब भी स्पन्द के लिये द्रव्यत्वेन द्रव्य समवायि कारण नहीं है, अपितु मूर्तत्वेन ही मूर्तद्रव्य समवायि कारण है ।

नील रूप, तिक्त रस, तथा गन्ध के लिये पृथ्वी ही समवायि कारण है।

उसी कारणतावच्छेदक के रूप में पृथ्वीत्व जाति सिद्ध होती है। या मूर्तद्रव्य को समवायि कारण मानने पर जल में गन्ध की, तेज में तिक्त रस की तथा वायु में नील रूप की उत्पत्ति होने लगेगी। अत: पृथ्वीत्वेन पृथ्वी ही गन्धादि का समवायि कारण होती है।

यह कहना उचित नहीं होगा कि पाकज गन्ध (पृथ्वी में अग्नि-संयोग से पाकज गन्ध की उत्पत्ति मानी गयी है।) के लिए विशेष प्रकार का तेज:संयोग तथा अपाकज गन्ध के लिये स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से गन्ध कारण है। वायु में दोनों विशेष कारण विद्यमान न होने से वायु में गन्धादि की उत्पत्ति नहीं होती हैं। क्योंकि विलक्षण प्रकार का तेज का संयोग पाकज गन्ध (अग्निसंयोग से उत्पन्न गन्ध) पाकज रस के लिये असमवायि कारण होने से वह विलक्षण तेज का संयोग तेज में भी रहता है, क्योंकि संयोग दो वस्तुओं में होता है और वहाँ पर भी गन्ध की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। अत: पृथ्वीत्वेन पृथ्वी को ही पाकज गन्ध और पाकज रस का समवायि कारण मानना आवश्यक है। यदि तेज जिसका प्रतियोगी है ऐसे विलक्षण संयोग को पाकज गन्धादि का कारण मानें तो प्रश्न उपस्थित होता है कि विलक्षण संयोगत्व विशिष्ट तेज प्रतियोगी क्यों कारण नहीं है। दोनों में से एक में कारणता स्वीकार करने के लिये कोई युक्ति न होने से विलक्षण संयोगत्व विशिष्ट तेज-प्रतियोगी तथा तेज:प्रतियोगित्व विशिष्ट विलक्षण संयोग इन दोनों को ही पाकज गन्धादि का असमवायि कारण मानना पड़ेगा। और इस प्रकार दोनों को कारण मानने में गौरव नामक दोष होता है।[५]

यहाँ यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि पाक से भिन्न विलक्षण संयोग सम्वन्ध से तेज ही पाकज गन्धादि का निमित्त कारण है। तेज में उक्त सम्बन्ध से तेज न होने से तेज में पाकज गन्धादि की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि पाक होने के पूर्व में गन्धादि में कोई वैलक्षण्य नहीं है। पाक होने के बाद ही पाकज गन्ध इतर गन्ध से विलक्षण सिद्ध होता है। अत: विलक्षण संयोग सम्बन्ध से तेज को कारण मानना संभव नहीं है। इसलिये उक्त सम्बन्ध से पृथ्वी को ही गन्ध और नील रूपादि का समवायि कारण मानना उचित है।

यद्यपि नींबू और नीम के जल (रस) में खट्टापन तथा कडुआपन उपलब्ध होता है तथापि आम्ल रस तथा कडुआपन के लिये जल को समवायि कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि नींबू के जल में नींबू का स्वाद ही प्रतीत होता है। वह जल का स्वाद नहीं है। अन्यथा चम्मच भर नींबू के रस में घड़ा भर जल मिलाने पर जो महाजल बनता है उसमें कारण-गुण के क्रम से आम्ल रस की उत्पत्ति होने पर उसका अनुभव सबको होना चाहिये। परन्तु ऐसा घटित

नहीं होता है । अत: आम्लादि रस (स्वाद) की समवायि कारणता पृथ्वी द्रव्य में ही सिद्ध होती है ।

निबिड संयोग के लिये जिस प्रकार पृथ्वी ही समवायि कारण होती है उसी प्रकार कोमल और कठिन स्पर्श के लिये भी पृथ्वी ही समवायि कारण है । तथा अनुष्णाशीतस्पर्श सामान्य के लिये पृथ्वी समवायि कारण नहीं है, अपितु पार्थिव स्पर्श के लिये तथा वायवीय स्पर्श के लिये वायु पृथक् रूप से समवायि कारण है ।[६]

तथापि कोमल और कठिन ये संयाग के भेद हैं ऐसा मानना उचित नहीं है । कोमल और कठिन ये स्पर्श के ही भेद हैं । उन्हें संयोग के प्रकार मानने पर त्वगिन्द्रिय के समान चक्षुरिन्द्रिय से भी उनका प्रत्यक्ष होने लगेगा ।

स्वर्ण तथा पद्मराग (पन्ना) के लिये उनके रूप-वाले विलक्षण पदार्थ के रूप में पृथ्वी कारण है । पृथ्वी आदि के रूप में पृथ्वी आदि कारण नहीं हैं। क्योंकि सामान्य और विशेष पदार्थ एक ही धर्म-विशिष्ट से उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु कुछ लोगों का कथन है कि स्वर्णादि की समवायि कारणता भी पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों से नियमित मानने में कोई बाधा नहीं है । सामान्य और विशेष में एकधर्मावच्छिन्न प्रयोज्यता नहीं रहती है । अर्थात्, सामान्य और विशेष पदार्थ के लिये एक ही धर्म से युक्त वस्तु कारण नहीं होती है यह गाथा मात्र है । इसमें कोई युक्ति नहीं है । रूप विशेष के लिये समवायि कारण में रहने वाला रूप-विशेष निमित्त कारण मानने पर सर्वत्र रूप-विशेष की उत्पत्ति नहीं होती है।[७]

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि स्वर्णादि के रूप के लिये स्वर्णत्व जाति-विशिष्ट को कारण मानें तो स्वर्ण के उत्पादक परमाणु में रूप की उत्पत्ति नहीं होगी । क्योंकि स्वर्ण के परमाणु में स्वर्णत्व जाति नहीं रहती है । द्रव्यत्व व्याप्य जाति परमाणु में नहीं रहती है । द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जो पृथ्वीत्वादि जातियाँ हैं वे ही नित्य पदार्थ में रहती हैं इस आपत्ति को इष्ट नहीं माना जा सकता । क्योंकि स्वर्ण के द्व्यणुक में रूप की उत्पत्ति के लिये उसके परमाणु में रूप का होना आवश्यक है । अत: स्वर्णादि के रूप के लिये तेजस्त्वेन तेज को तथा पद्म-रागादि के रूप के लिये पृथ्वीत्वेन या द्रव्यत्वेन पृथ्वी या द्रव्य को कारण मानना आवश्यक है । परन्तु उक्त विलक्षण रूप के लिये द्रव्य या पृथ्वी आदि को कारण मानने पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पृथ्वीत्व तो घट में भी है । तो वहाँ उक्त विलक्षण रूप क्यों उत्पन्न नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त विलक्षण रूप के उक्त विलक्षणरूप (कारण का) तथा विलक्षण

अग्नि-संयोग (पाक) कारण है ये उक्त रूप की विशेष सामग्री के अन्तर्गत आते हैं। अत: घटादि में उक्त विशेष सामग्री के न रहने से विलक्षण प्रकार के (स्वर्णादि के) रूप की उत्पत्ति नहीं होती है।[८]

जल के विलक्षण माधुर्य तथा शीतस्पर्श के लिये सांसिद्धिक द्रव्यत्व के आश्रय के रूप में जल समवायि कारण है, तथा स्नेह गुण के लिये जन्य जल के रूप में जल समवायि कारण है। जल में माधुर्य अनुभव से अप्राप्य है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि हरीतकी (हरड़ा) के भक्षण से उसका माधुर्य अभिव्यक्त होता है। हरीतकी में रहने वाले माधुर्य का प्रकर्ष जल-संयोग से व्यक्त होता है ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं होगा। क्योंकि हरीतकी और आमले में कषाय (कसैला) स्वाद सर्वानुभव-सिद्ध है और वहाँ माधुर्य का होना संभव प्रतीत नहीं होता। 'षड्रसा हरीतकी' यह आयुर्वेदीय व्यवहार षड्रस के उत्पादक के रूप में हरीतकी स्वीकार करने से भी संभव है। हरीतकी में ही जल तथा शरीर की उष्णता के संसर्ग से कषाय रस का विनाश हो कर मधुर रस की उत्पत्ति होती है ऐसा क्यों न मानें? ऐसा इसलिये नहीं मान सकते क्योंकि कषाय रस के जिन खण्डों में दांत से उन्हें चबाने पर जल के संपर्क से माधुर्य प्रतीत होता है उन्हीं में बाद में जल के सम्पर्क के बिना भी मधुर रसास्वाद प्रतीत होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यह भी नहीं मान सकते कि पाक से उत्पन्न कषाय द्रव्य (हरीतकी) का मधुर रस जल से ही अभिव्यक्त होता है। क्योंकि उस समय हरीतकी में विद्यमान कषाय रस का आस्वादन क्यों नहीं होता है जब प्रत्यक्ष कारणीभूत कषाय रस वहाँ विद्यमान है? यदि कषाय रस वहाँ नहीं है तो बाद में जब जल का सम्पर्क नहीं है उस समय भी कषाय रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अत: जल में ही माधुर्य की कल्पना करना उचित है, जो कि हरीतकी के सम्पर्क से अभिव्यक्त होता है।

घिसे हुए चन्दन में विलक्षण शीतस्पर्श का अनुभव होता है। उस शीत स्पर्श का समवायि कारण कौन है? जल ही समवायि कारण है। जिस जल में चन्दन घिसा जाता है वही जल उस शीत स्पर्श का समवायि कारण है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त जल के शीतस्पर्श की अपेक्षा विलक्षण अधिक शीतस्पर्श चन्दन में अनुभूत होता है। अत: वह जल का शीत स्पर्श है ऐसा नहीं मान सकते। यह भी स्वीकार करना कठिन है कि चन्दन के घिसे जाने पर चन्दन से बाहर आये भिन्न जल का विलक्षण शीतस्पर्श वहाँ उपलब्ध होता है। जलान्तर की कल्पना करने की अपेक्षा चन्दन को ही शीतस्पर्श का समवायि कारण मानने में लाघव है। यह कहना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि जिस जल में चन्दन घिसा जाता है उसी में रहने

वाले शीतस्पर्श का प्रकर्ष चन्दन के द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्योंकि इसके विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि चन्दन का ही शैत्य घिसे जाने वाले जल के संयोग से अभिव्यक्त होता है।

परन्तु उपर्युक्त युक्तिवाद कोई मायने नहीं रखता।[९] क्योंकि चन्दन में उपलब्ध अनुष्णाशीत स्पर्श के अनुरोध से उसी चन्दन के घिसे जाने पर बनने वाले द्रवीभूत चन्दन में भी वही स्पर्श होना चाहिये। याने उसमें शीतस्पर्श का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि अवयवी में शैत्य के लिये अवयव का शैत्य आवश्यक है। "कारणगुणा: कार्यगुणान् आरभन्ते" यह नियम है। अत: घिसे हुए चन्दन में शैत्य गुण तभी आ सकता है जब उसके कारण चन्दन के खण्ड में भी वह गुण हो पर ऐसा नहीं है। जिस जल में चन्दन घिसा जाता है उसके संपर्क से चन्दन का पूर्व में जो अनुष्णाशीत स्पर्श था वह नष्ट हो कर नया शीत स्पर्श उत्पन्न होता है यह कहना भी महत्त्वहीन है। क्योंकि अनंत स्पर्शों की उत्पत्ति तथा नाश की कल्पना करने की अपेक्षा चन्दन को ही घिसे जाने वाले जल में छिपे शैत्य का अभिव्यञ्जक मानने में ही लाघव है। अत: चन्दन में रहने वाले शीत स्पर्श की समवायि कारणता उसके अन्दर होने वाले जल में होती है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।[१०]

समवायि कारणता के विषय में होने वाले कुछ और मतभेदों की चर्चा अग्रिम लेख में की जायगी।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४११ ००७

बलिराम शुक्ल

## टिप्पणियाँ

१. जगदीश तर्कालंकार; जनकद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति च न स्पर्शवत्त्वेन समवायिकारणत्वं, गौरवात्।– कारणता- वादविधि:, *जागदीश्याम्*

२. एवं स्पर्शोऽप्युद्भूतानुद्भूतभेदेन द्विविध:।– अज्ञातकर्तृक *अनुद्भूतरूपादि खण्डनवादविधि:।*

३. जगदीश; नचैवं जन्मसंस्कारत्वावच्छिन्नं प्रति समवायिकारणतावच्छेदकत्वेनात्मन्यविभुवृत्ति जात्यन्तरसिद्धिप्रसङ्ग:। *जागदीश्यां*, कारणतावादे

४. अनुगतधर्मावच्छिन्न कार्यतानिरूपितस्यैव कारणत्वस्य जातिव्यवस्थापकत्वात्। *वही*

५ तेजःप्रतियोगित्वविशिष्टेन विलक्षणसंयोगत्वेन तादृश गन्धादि हेतुत्वे विलक्षणसंयोगत्व विशिष्टेन तेजःप्रतियोगित्वेनापि तथात्वापत्तौ गुरुतर कार्यकारणभावद्वयापत्तेः । *वहीं*

६ अनुष्णाशीत स्पर्शसामान्यं प्रति पृथ्वीत्वेन समवायिकारणत्वमिति तु रिक्तं वचः । *वहीं*

७ जगदीश; सामान्यविशेषयोरेकधर्मावच्छिन्नाप्रयोज्यत्व प्रवादस्य गाथामात्रत्वात् रूपविशेषादेरेकार्थ समवायेन निमित्तकारणत्व कल्पनयैवातिप्रसङ्गभङ्गादित्यपि वदन्ति । कारणतावादविधिः, *जागदीश्याम्*

८ तथाविध विशेषसामग्री विरहादेव घटादौ न तादृश रुपरसादेरुत्पादापत्तिप्रसङ्गः । वहीं

९. अवयविशैत्यं प्रति अवयवशैत्यस्य हेतुत्वात् । *वहीं*

१० अनन्तस्पर्श तन्नाश तद्धेतुत्वादि कल्पनामपेक्ष्य स्वोपादानमेव घर्षकजलनिष्ठ शैत्यातिशयव्यञ्जकत्व कल्पनायां लाघवादिति । *वहीं*

# INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
## PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

# प्रतिक्रिया

*परामर्श (हिन्दी)* के दिसम्बर–९३ के अंक में प्रो. बी. कामेश्वर राव के प्रकाशित आलेख "भारत में राष्ट्र का अन्वेषण"[१] निश्चित रूप से समकालीन राष्ट्रीय संदर्भों में चिंतन के अनेकश: द्वारों का उद्घाटन करता है। आज पूरा भारत अनेक ज्वलंत समस्याओं से जूझ रहा है। जिसे राष्ट्रीय परिदृश्य कहा जाता है, वह पूर्णत: उद्वेलित, विचारों से आक्रांत और दिशाविहीनता के रंगों-रेखाओं से ओतप्रोत दिखलाई दे रहा है। ऐसे वातावरण में प्रबुद्ध वर्ग निरपेक्ष और असंपृक्त नहीं रह सकता। उक्त आलेख में. प्रो. बी. कामेश्वर राव का यह सुझाव सर्वथा मान्य होना चाहिए कि जब समाज वैचारिक विस्फोट के कगार पर खड़ा हो तो प्रबुद्ध वर्ग "क्लासिकल लेखन" से परे हट कर अपनी रचना-धर्मिता का प्रयोग समाज के संघर्षों में प्रदाय के रूप में करें।

"भारत में राष्ट्र का अन्वेषण" आलेख में यदि सचमुच "राष्ट्र" का अन्वेषण किया जाता तो हमें प्रसन्नता होती। ऐसा प्रतीत होता है, राष्ट्र का अन्वेषण करते हुए विद्वान् लेखक महोदय हिन्दुत्व के अन्वेषण में तल्लीन हो गए। राष्ट्र या राष्ट्रीयता, भारतीयता, हिन्दू विचार या मूल्य, हिन्दुत्व नवोत्थान, संस्कृति की गरिमा, सभ्यता, के प्रतिमान आदि कुछ शब्द हैं जो भारतीय नवजागरण काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों के व्यापक इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। आश्चर्य है, लेखक ने सम्पूर्ण आलेख में भारतीय नव-जागरण काल की प्रवृत्तियों का कोई उल्लेख क्यों नहीं किया? हिन्दुत्व की भी जिस विचारधारा की ओर लेखक ने संकेत किया है, वह भी संस्थागत प्रतिबद्ध विचारधारा प्रतीत होती है। इस तरह लेखक का सम्पूर्ण चिंतन ऐकान्तिक या पूर्वाग्रहापेक्षी दिशाओं के अनुसंधान-फलक के रूप में दिखलाई देता हैं।

विश्लेषण की दृष्टि से आज पूरा भारत उसी तरह के वैचारिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है, जिस तरह का दौर नवजागरण काल में पैदा हुआ था। प्रत्येक देश के इतिहास में इस तरह के दौर आते हैं, जब प्राचीन प्रतिमान नष्ट

होते हैं और नवीन प्रतिमान स्थापित होते हैं, किन्तु हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि मानवता के कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं जो कभी नष्ट नहीं होते । विभिन्न देशों की प्राचीन संस्कृतियाँ इन्हीं मूल्यों पर टिकी हैं । युग परिवर्तित होते हैं, मान्यताएँ बदलती हैं, समाज के ढाँचे में परिवर्तन होते हैं, लेकिन ये शाश्वत मूल्य विद्यमान रहते हैं, और मानव की संवेदना को प्रभावित कर नये समाज की संरचना में सहायक होते हैं[२] । भारत की रूस या अन्य किसी देश या समाज-व्यवस्था से तुलना करना हमारी दृष्टि में उचित नहीं है । रूस में समाजवादी प्रयोग क्यों असफल हुआ ? यह व्यापक अनुसंधान का विषय हो सकता है, किन्तु शोषण, सामाजिक न्याय, अत्याचार आदि कुछ मुद्दों के आधार पर यदि भारत को देखें तो अनादिकाल से यहाँ ऐसी विषम परिस्थितियाँ रही हैं, लेकिन रूस की बोल्शेविक क्रांति (१९१७) जैसी घटना की कोई आशंका नहीं रही । इस संदर्भ में समाजवादी चिंतक श्री. हरि ठाकुर का यह मत उचित प्रतीत होता है कि ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता । क्रांति की सारी भौतिक परिस्थितियाँ होने के बावजूद भारत में वैसा परिवर्तन नहीं हो सकता, जो रूस फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में हुआ। भारत जैसे देश में समाज परिवर्तन सदैव वैचारिक क्रांति से हुआ है । बुद्ध के समय से इसके ऐतिहासिक प्रमाण मिलने लगते हैं । बुद्ध से लेकर गांधी तक बराबर यह शृंखलाबद्ध परंपरा की तरह दिखलाई देता है ।[३]

भारत जैसे देश की इसे विड़म्बना कहीं जायेगी कि जिन परिस्थितियों में इस देश के समाज को कभी विदेशी आक्रांताओं से पराभूत नहीं होना चाहिए था, उन्हीं परिस्थितियों में इस देश में सर्वत्र न केवल विदेशी शासकों की जड़ मजबूत हुई, अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसके मूल ढ़ाँचे को नष्ट करने के सर्वाधिक प्रयास किये गए । मेरा संकेत यहाँ राजपूतों के शासन-काल से है । डॉ. उदय नारायण तिवारी का स्पष्ट मत है कि राजपूतों के जीवन का कोई आदर्श ही नहीं था । विवाह जैसे मांगलिक कार्य भी इनके यहाँ बिना युद्ध के सम्पन्न नहीं होते थे । इसमें संदेह नहीं कि राजस्थान भारतीय संस्कृति का गढ था, शौर्य, वीर्य और तेज की दृष्टि से राजपूत संसार की किसी भी जाति से कम नहीं थे। बलिदान की भावना भी इन राजपूतों में सर्वोच्च रही है । किन्तु इन्हीं राजपूतों के देखते ही देखते पूरा देश मुगलों के कब्जे में चला गया ।[४] आत्म-विश्लेषण करते हैं तो स्पष्ट होता है कि राजपूतों की सारी राष्ट्रीय-भावना उनकी देशी रियासत के प्रति ही केंन्द्रित रही । यह कटु, किन्तु ऐतिहासिक सत्य है कि अखंड भारत जैसी कोई कल्पना ही उस समय नहीं थी । एक दृष्टि से देखें तो भारत की विभिन्न देशी रियासतों पर एक के बाद एक विजय प्राप्त कर मुगल शासकों ने ही एक साम्राज्य का रूप देने का सफल कार्य किया ।

मैं यहाँ मुगल साम्राज्य की हिमायत नहीं करना चाहता, किन्तु वास्तव में यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि भारत में राष्ट्र, राष्ट्रीय धारा, भारतीयता या उस मूल तत्त्व का अन्वेषण, जिसके कार इस देश के समाज में एकात्मकता है, करते हुए ऐतिहासिक परंपराओं का हम तिरस्कार नहीं कर सकते । किसी भी देश का भविष्य अतीत-मूलक होता है । जो देश या समाज अपने अतीत से पूरी तरह से कट जाता हैं, नष्ट हो जाता है । रूस में समाजवाद का जो परिणाम हुआ, उसका एक प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि सोवियत संघ के कर्णधारों ने पूरे देश के समाज को उसके अतीत से जड़ोच्छेद कर एक नये भविष्य के निर्माण का स्वप्न देखा । समकालीन भारतीय संदर्भों में हम धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन इसलिए करते हैं, क्योंकि इस आदर्श में भारत की प्राणभूत शक्ति निहित है । धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की नींव निश्चित रूप से गांधीवाद में है और गांधीवाद ही भारत के भविष्य का विकल्प हो सकता है । गांधीवाद को आज किसी भी स्थिति में नकारा नहीं जा सकता, जैसा कि प्रो. बी. कामेश्वर राव ने किया है ।[५] भारत-वासियों को यदि चाहिए तो वे गांधीवादी दर्शन पर पुनर्विचार करें कि वह भारतीय संदर्भों में कहां तक प्रासंगिक है ?

हिन्दुत्व के जिस नवोत्थान की बात आज पूरे देश में की जा रही है, वह यदि आंदोलन है तो कोई नया नहीं है । हम कह चुके हैं कि यह नवजागरण काल की देन है । "हिन्दू" जैसे शब्द को सभी से परिभाषित किया जाने लगा था । श्री ब्रह्मानंद सरस्वती के शब्दों में— "वेदादि शास्त्रों को मानने वाली जाति ही हिन्दू जाति है । इस प्रकार वेदादि हिन्दू शास्त्रों पर विश्वास करने वाला ही हिन्दू कहा जा सकता है, जो श्रुति-स्मृति, पुराण, इतिहास प्रतिपादित कर्मों के आधार पर अपनी लौकिक पारलौकिक उन्नति पर विश्वास रखता है, वही हिन्दू है । *अथवा* श्रुति, स्मृतिमूलक समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था,शासन-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था आदि के द्वारा अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय पर विश्वास रखने वाला ही हिन्दू कहा जा सकता है । वैदिक सिद्धांतानुसार मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रों की विभिन्न व्यवस्थाओं का सक्रिय रूप वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था में प्राप्त होता है । इसीलिए वर्णाश्रम धर्मानुकूल आचार-विचार के द्वारा जीवन व्यतीत करने वाला ही हिन्दू माना जा सकता है । *अथवा* ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र इन चार वर्णों में उत्पन्न होकर देशशास्त्रों को अपना धर्म ग्रंथ मानने वाला ही हिन्दू है ।[६]

हिन्दू की यह एक ऐसी परिभाषा है, जिसे सभी मान्य करेंगे, किन्तु समकालीन राष्ट्रीय परिदृश्य के तहत इस परिभाषा के शब्दों को व्यावहारिक रूप देना प्राय: असंभव है । राजनीतिक प्रतिबद्धता को स्वीकार कर कोई "हिन्दू राष्ट्र" बन जाये

तो भविष्य की जो कल्पना उभरती है, वह यही है कि जो स्थिति पाकिस्तानी समाज में है, वह भारतीय समाज में होगी। मंदिरों-मस्जिदों को मिटाने और नवनिर्माण में शायद पूरा राष्ट्रीय शौर्य प्रदर्शित होगा। विश्लेषण की दृष्टि से वैदिक धर्म-दर्शन और उसकी आचार-संहिता निश्चित रूप से विश्व-संस्कृति की उत्कृष्ट विभूति है, किन्तु भारत के वर्तमान परिवेश में उसके व्यावहारिक मूल्यों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज हमारे देश में वैदिक धर्म-दर्शन को लेकर दो प्रकार की विचारधारा दिखलाई देती है। पहली विचार धारा का प्रतिनिधित्व गांधीवाद करता है और दूसरी विचारधारा निश्चित रूप से उस कट्टर ब्राह्मणवाद को लेकर चल रही है, रचनाधर्मिता के स्तर पर जो विध्वंसात्मक शक्तियों पर विश्वास करती है। भारतीय समाज की क्रमागत रचना-प्रक्रिया को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चूंकि इस्लाम में कट्टर मुल्लावाद का विकास हुआ तो देश में उसका जवाब देने के लिए कट्टर ब्राह्मणवाद की जरूरत है। और इसी पष्ठभूमि पर एक विचारधारा उभरी, जिसे "साम्प्रदायिक" कहा गया।

"हिन्दू नवोत्थान" को लेकर जो लोग स्वामी विवेकानंद के विचारों का प्रयोग कट्टर ब्राह्मणवाद के संदर्भ में करते हैं, वे नहीं जानते कि वे राष्ट्र पर कितना अपघात करते हैं? हमारी दृष्टि में स्वामी जी अपने जीवन काल में उतने ही बड़े प्रगतिशील थे, जितने बड़े आज के साम्यवादी तंत्र के पक्षधर हो सकते हैं। स्वामी जी के विचार तो वास्तव में गांधीवादी आदर्शों के सफल भाष्य हैं। वेदों के बारे में स्वामी जी कहते हैं– "वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण की अनंतकारा है, वरन् वे वह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणुओं में ओत-प्रोत वही एक विराजमान है, जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं, और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।"[७]

स्वामी विवेकानंद ने अपने जीवन-काल में जिसे हिन्दू कहा था, वह निश्चित रूप से वह हिन्दू नहीं था, जो मस्जिद की गुम्बद पर बैठकर *रामायण* का पाठ करे। स्वामी जी के भाषणों में हिन्दूओं के प्रति अनेकश: उद्‌बोधनों में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग है, जिसका संबंध कट्टर ब्राह्मणवाद से स्थापित हो सके। अधिकांश प्रसंगो में स्वामी जी ने अपने उद्‌बोधनों में "हिन्दू" को ईश्वर की अमर संतान के रूप में जागने का ही संदेश दिया है। यह हिन्दू अमृत-पद का अधिकारी है और पवित्र पूर्ण आत्मा है।[८] इस पूर्ण आत्मा के लिए प्रेम और प्राणिजगत् के प्रति दया उच्च जीवनगत मूल्य हैं। इस प्रगतिशील व्याख्या की पृष्ठभूमि में स्वामी जी कहते हैं– "हिन्दू धर्म भिन्न भिन्न मत मतान्तरों या

सिद्धांतों पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है, वरन् वह साक्षात्कार है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह 'होना' और 'बनना' है।''[९] हिन्दू धर्म के इस 'होने' और 'बनने' की प्रक्रिया का नाम हमारी समझ में भारतीय संस्कृति है। इसमें जो मिश्रण है, वह दूध और पानी का मिश्रण नहीं है, बल्कि दूध और मिश्री का मिश्रण है।

इसमें संदेह नहीं कि *परामर्श* की आदर्श परंपरा के अनुरूप प्रो. बी. कामेश्वर राव का आलेख गंभीर चिंतन से आप्लावित है। किन्तु कुछ संदर्भ ऐसे भी हैं, जिनके बारे में अत्यधिक चिन्तन की आवश्यकता हमें महसूस होती है।

**विजयकुमार शर्मा**

द्वारा, डॉ. रामदास शर्मा,
पुरानी बस्ती,
कायस्थ पारा,
रायपुर
(म. प्रदेश)

## संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१. *परामर्श (हिन्दी)*, दिसम्बर १९९३

२. आ. नंद दुलारे बाजपेयी, *हिन्दी साहित्यः २० वीं शताब्दि*, भूमिका।

३. हरि ठाकुर– सं. नंद किशोर तिवारी, आशीष प्रेस, रायपुर, म.प्र. जीवनी।

४. डॉ. उदय नारायण तिवारी– वीर काव्य की भूमिका, *(राजस्थानी काव्यं-संग्रह)*

५. ''राष्ट्र की अवधारणा में निहित अतीत मूलक भविष्योन्मुख भावनात्मक एकता की दृष्टि से सेक्यूलर राष्ट्रवादी ऐसा सर्वनिष्ठ तत्त्व ढूंढने में सर्वथा असफल प्रतीत होते हैं, जो वर्तमान भारतीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर सकें।'' – ''भारत में राष्ट्र का अन्वेषण'', *परामर्श (हिन्दी)*, दिसम्बर १९९३, पृ. ३६.

६. *हिन्दू संस्कृति*– श्री ज्योति पीठाधीश्वर स्वामी श्री ब्राम्हानंद सरस्वती, *कल्याण विशेषांक*, १९४८. पृ. २३-२४.

७. *विवेकानंद साहित्य संचयन*, व्याख्यान धर्म महासभा, पृ ११, रामकृष्ण मठ, नागपुर।

८. *वहीं*, पृ. ११.

९. *वहीं*, पृ. १३-१४.

# परामर्श (हिन्दी)

## खण्ड १५ के योगदाता

अंक १, दिसम्बर, १९९३



अंक २, मार्च, १९९४

**अंक ३, जून, १९९४**



**अंक ४, सितम्बर, १९९४**